

ओ३म्

श्रद्धानन्द ग्रन्थ संग्रह

स्वामी श्रद्धानन्द जी की पुस्तकों का अमूल्य संग्रह

लेखक :—

स्वामी श्रद्धानन्द

प्रकाशक :—

आर्य साहित्य प्रकाशन संस्थान

फैज २ ए-२६ नारायणा, दिल्ली-२८

प्राप्ति स्थान :—

वेद प्रचारक मण्डल

६०/१३ रामजस रोड, करौल बाग दिल्ली-५

मूल्य : (१५)

‘आर्य साहित्य प्रकाशन संस्थान’

यह संस्था जो आर्य साहित्य ५० वर्ष से प्रकाशित नहीं हो रहा है उस साहित्य को प्रकाशित करने के लिये यह संस्था प्रकाशित की गई है श्री सत्य पाल मालिक आर्य आफसेट प्रेस नारायणा वालों का बहुत-२ धन्यवाद है जिनके प्रयास से मुनि गुरु हस्त लेखावली जैसा ग्रन्थ तैयार हुआ दूसरे हम स्वामी ओ३ मानन्दजी (गुरुकुल भञ्जर) तथा महेन्द्र प्रताप गर्ग, गर्ग एण्ड कम्पनी दिल्ली के आभारी हैं जिनके सहयोग से वैदिक विनय के ३ भाग अभयदेव जी की पुस्तक प्रकाशित हुई इस संस्था के द्वारा श्री भूपति प० लेखराम आर्य मुसाफिर स्वामी दर्शनानन्द स्वामी स्वतन्त्रतानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, म० नारायण स्वामी आदि की प्रकाशित जो पुस्तकें अप्राप्त हैं उनको पुनः प्रकाशित करने का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकाशन विभाग के लिये कुछ सदस्य बनाये जायेंगे जिसमें यह शर्त रखी गई है कि १ वर्ष बाद दिया हुआ धन वापिस ले सकते हैं। अब तक जो सदस्य देने हैं हम उनके अत्यन्त आभारी हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं।

१. श्री स्वामी सोमानन्द (वेद प्रचार मण्डल दिल्ली) १०००)
२. श्री गोपी चन्द जी (जनता वायर पहाड़ी धीरज दिल्ली) १०००) ६०
३. श्री सन्तराम चावला (ग्रेटर कैलाश नई दिल्ली १०००) ६०
४. श्री सत्यपाल जी आर्य आफसेट नारायणा १०००)
५. श्री राजतिलक जनकपुरी नई दिल्ली २०००) ६०
६. श्री हरीराम सुरेश कुमार माडल टाऊन दिल्ली २७२०) ६०

इन सभी महानुभावों के हम अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने संस्थान को सहयोग दिया।

निवेदक
‘प्रबन्धकर्ता’

ओ३म्

भूमिका

स्वामी श्रद्धानन्द आर्य जगत में वह हस्ती थे, उन जैसा होना कठिन है, महर्षि के दर्शन मात्र से ही काया बदल गई, जिस युवक में हर प्रकार के दुर्गुण मौजूद थे, वही, मुन्शी राम से महात्मा मुन्शी राम बने, बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में आ जाते हैं।

जब उनके जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो आश्चर्य होता है। जब एक ऋषि भक्त बन जाता है। तब प्रातः गले में ढोलक बांधे हुये जालन्धर की गलियों में भजन गाता फिरता है। ऋषि के आदेशानुसार गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना का विचार उदय होता है। उसके लिए घन संग्रह जुटाना तथा अपना भवन बेचकर उस घन को गुरुकुल के अर्पण कर देना तथा अपने दोनों पुत्रों श्री इन्द्र जी तथा हरिश चन्द्र को लेकर गुरुकुल आरम्भ कर दिवा। स्वामी श्रद्धानन्द जी अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व थे वहां कुशल लेखक भी थे, उनकी तीन पुस्तकों का संग्रह आर्य बन्धुओं की सेवा में भेंट किया जाता है। मुक्ति सोपान तो स्वामीजी के सामने तीन भागों में प्रकाशित हुआ था जो स्वामी जी के भाषण तथा लेखों का संग्रह है। बहुत ही प्रभावशाली विचारधारा है। दूसरा खण्ड धर्मोपदेश के नाम से है जो दो भागों में है इसमें वेदों के महत्व पूर्ण मंत्रों की व्याख्या है। जो बड़ी हृदयग्राही है।

तीसरा खण्ड 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से है जो स्वामी श्रद्धानन्द की डायरी है उसमें आप देखेंगे स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने हृदय उदगार व्यक्त किये हैं। हम आशा करते करते हैं। आप इस ग्रंथ को स्वयं पढ़ेंगे तथा घर-घर पहुंचाने का प्रयत्न करेंगे मेरा ऐसा विश्वास है।

विषय सूची

मुक्ति सोपान भाग १

हृदयेश्वर चारो ओर से हृदय को पवित्र करो	१
अपने चेतन को मत भूलो	२
इस अमर धेनु को कैसे दुहे	४
श्रद्धाही तरन तारन है	३
गुरु शिष्य के वास्तविक भक्ति में संसार शान्त हो जाता है ।	५
मित्र के एक बार दर्शन करके उसे न भूलो	६
विशुद्ध उत्तम संतान उत्पन्न करो	७
उसको न मानते हुए भी तुम उसको मानते ह	८
पवित्र जन शक्ति का दुरुपयोग मत करो	९
चोथे पद में परम शान्ति है	१०
उत्तम संतान उत्पन्न करो	११
नेता कैसा हो	१२
शरण पड़े की लाज	१३

मुक्ति सोपान भाग २

आत्म दर्शन	१
तुम कहां हो	२
कर्म फल कौन बाटेगा	३
सत्संग बड़ा उद्धारक है	४
भूँठी आशा का त्यागना ही जीवन है	५
कल्याणकारी सत्य का आचरण करो	६
आश्रमादाश्रम गच्छेत्	७

मुक्ति सोपान भाग ३

स्वाध्याय के बाह्य नियम	१
मनुष्य जाति का सुधार कैसे हो	२
जातीय आत्म विचार की आवश्यकता	३
कितने अवसर विसार दिये	४
इस अधूरे यत्न से क्या है ।	५
वर्णाश्रम धर्म के सुधार से ही संसार का सुधार होगा	६

धर्मोपदेश

धर्मोपदेश के दो भाग हैं जिनमें कुछ अति उत्तम वेदों की व्याख्या पृष्ठ ११३ से २८४ तक की है। वेदों के अतिरिक्त श्वेताश्वेत् रोपनिषद, गीता, मनुस्मृति प्रथम भाग में प्रकाश डाला है, दूसरे भाग में अथर्व वेद के मंत्रों की व्याख्या है इनके अध्ययन से पाठकों के ज्ञान की वृद्धि होगी।

कल्याण मार्ग का पथिक

तीसरे खण्ड में स्वामी श्रद्धानन्द जी की दे निन्दनी का सक्षिप्त रूप में प्रकाशित की है यह खण्ड अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अन्धकार और प्रकाश युद्ध	७
पठन पाठन का आरम्भ	६
वाँदा में तीन वर्ष : रामभक्ति का मधुर रस	१२
मिर्जापुर में ५ मास बिदवासिनी के दर्शन	१३
शिक्षा नियम पूर्वक अध्ययन	१५
बकीस कालेज बनारस में प्रवेश	१५
मेरे पूज्य मौलवी साहब और सर संयद अहमद	१६
व्यवहारिक जीवन में परिवर्तन	१७
अन्ध विश्वास के जीवन की समाप्ति	१८
पाप सागर डूबने की कहानी	२३
विवाह में उत्सुकता और निराश लौटना	२८
बरेली में 2½ वर्ष	२६
प्रयाग में अहिंसक शेर और महात्मा	३०
ऋषि दयानन्द का सत्संग	३१
हिन्दू देवी का मातृ भाव	३६
मेरे भविष्य का आशिक निर्णय	४५
निराशा के भेवर से मुक्ति	४७
आचार्य का आदेश पूरा हो रहा है	५३
जालन्धर आर्य समाज के साथ सम्बन्ध का आरम्भ	५६
आर्य समाज में आरम्भिक अनुभव	६२
लाहौर में परीक्षा की तैयारी	६८
पं० गुरुदत्त के साथ आत्मिक ऐक्य	६९
मुख तारी और दुकानदारी	७१

जिसकी पहल उसी की विजय	७२
पिता जी का असीम प्रेम	७६
शास्मार्थ का पहला अनुभव	७७
बिरादरी से खारीज की घमकी	८०
मेलों में वैदिक धर्म प्रचार	८४
एक विस्मृत अनूठा धर्मोपदेशक	८५
धर्मघर एवं मूंदी का फण्ड	८६
जालन्धर आर्य समाज का प्रथम उत्सव	८७
कुछ नये नट नाटय शाला में	८८
वकालत और संगई का मेल हस्तर	९१
वकालत की परीक्षा में रिश्नत	९२
बम्बई की पहली यात्रा	९६
एक उदार डिप्टी कमीश्नर	९८
वकालत की अन्तिम परीक्षा	१००
फिर जालन्धर में	१०३
धर्म प्रचार की धुन	१०४
राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध	१०६
कर्तव्य क्षेत्र में	१०७
अशांति में शांति	१०८
कन्या महा विद्यालय जालन्धर स्थापना का संकल्प	१०९
लाहौर आर्य समाज का १२वां वार्षिक उत्सव	१११
जालन्धर आर्य समाज का तीसरा वार्षिक उत्सव	११३
पण्डित गुरुदत्त का गुरुत्व	११५
प० छज्जू राम की सत्य निष्ठा	११७
उपदेशक क्लास के सम्बन्ध में	१२१
प० गुरुदत्त के अंतिम दिवस	१२२
प० गुरुदत्त की अकाल मृत्यु	१२४
कन्या विद्यालय की स्थापना	१२३
कुम्भ पर वैदिक धर्म प्रचार	१२७
सार्वजनिक जीवन में प्रवेश की तैयारी	१३०
गुरुकुल भी स्थापना	१३२
निर्णयता की मूर्ति महात्मा मुन्शी राम जी	१३५
कांग्रेस में प्रवेश	१३७
हिन्दू मुस्लिम एकता	१३८
अछूतोद्धार का काम	१४०
महान बलि दानी	१४१

मुक्ति-सोपान

: १ :

हृदयेश्वर ! चारों ओर से हृदय पवित्र करो

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।

त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधिभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुविः ॥

—ऋ० २।१।१

संसार की ठोकरीं से पीड़ित मनुष्य जीवन रूपी मार्ग का पथिक व्याकुल होकर थकान दूर करने के लिए मार्ग के मध्य में ठहर गया है। खड़ा नहीं हो सकता, बैठता है तो आराम नहीं, लेटता है तो चैन नहीं। अन्दर से ऐसी ज्वाला भभक-भभक कर उठती है कि दम नहीं लेने देती। पथिक फिर चल देता है। आँखें फिर रूप के अन्दर खिंची चली जाती हैं। कान फिर शब्दों के दास बन रहे हैं, पग २ पर फिर ठोकरीं लग रही हैं। पथिक की बड़ी दीन, शोचनीय दशा है। हा, इस नरक-धाम से किस प्रकार छुटकारा हो ? नगर को छोड़कर ग्राम का आश्रय लिया, ग्राम को छोड़ कर जङ्गल की राह ली, किन्तु क्या दग्ध हृदय शान्त हुआ ? अन्दर से दुर्गन्ध की आँधी सी उठ रही है और तड़पा रही है अन्दर शान्ति मिलते न देखकर फिर बहिर्मुख होता है। वहाँ अनगिनत पथिक चले जाते दिखाई देते हैं। कोई काँप रहा है, कोई लकड़ी के सहारे चल रहा है, कोई चिन्ता में निमग्न जा रहा है, चेहरे अपने से ज्यादा पीले पड़े हुए देखता है। कुछ समय के लिये शान्ति सी प्रतीत होती है। सामूहिक दुःख भी, दुःखी से दुःखी आत्मा को एक पल के लिए तो शान्त करही देता है। इसी प्रकार की शान्ति इस पथिक के हृदय में होती है।

अब तमोगुण का पूरा राज्य हो गया, रज का चिह्न भी बाकी नहीं रहा। जैसे कीड़े दुर्गन्ध में मस्त होते हैं उसी प्रकार

की मस्ती पथिक में भा आगई है। किन्तु अभा तक मरा नहीं, सिसक रहा है, हाथ पैर भी हिल रहे हैं, कुछ जान अभी बाकी है। कान अभी बहरे नहीं हुए। अकस्मात् एक चमत्कार सा दिखाई देता है। आँखें पूरी खोलता है, तो सामने दिव्य, शान्त मूर्ति खड़ी है। वह चन्द्र समान शीतल कान्ति, दग्ध हृदय को एक पल में शान्त कर देता है। पथिक उठकर चरणों में सिर नवाता है। महात्मा उपर्युक्त मन्त्र की भावना को करुणा रस में सने स्वर में कहते हैं :—

‘हे ज्ञान के भण्डार ! सर्व प्रकाशों से तुम वेगवान्, वायु से तुम, जलों से तुम, पर्वतों के शिखरों से तुम, जङ्गलों से तुम, औषधियों से तुम—हे मनुष्यों के पालक ! तुम मनुष्यों में पवित्रता उत्पन्न करते हो।’

अमृत का पान करता २ पथिक माढ़ निद्रा के आनन्द में मग्न हो जाता है। श्रम रहित होकर जब आँखें खोलता है, तो महात्मा का कुछ पता नहीं, किन्तु उसके हृदय में कुछ उदासीनता नहीं आती। महात्मा का भौतिक शरीर सामने न देखकर भी उसके आत्मा को अन्तःकरण से अनुभव करता है। वही प्रकाशमय रूप जो हृदय के अन्दर काम की भट्टी जला देते थे आँखों और अन्तःकरण के मलों को दूर कर रहे हैं। जिस सुन्दर रूप में नरक का दृश्य देखता था उसमें अब दंवी सौन्दर्य दृष्टि-गोचर होता है, क्योंकि उसमें जगन्माता का प्रकाश स्वरूप दीख रहा है। जिस शब्द की आँधी से हृदय में हलचल मच रही थी उसमें उसी जगज्जननी का संशोधक वेग प्रतीत हो रहा है। जिस ईश के दासत्व में शरीर और मन को नष्ट कर बंठे थे, उसकी पावन धारा अन्दर से सब मलों को दूर कर रही है। जो पर्वत-शिखर भोग के लिये उचित स्थान समझे जाकर मद्य मांस तथा व्यभिचार के प्रलोभनों में फँसा, जीवित मनुष्यों को मुर्दा बना

रहे थे, वे सब अपनी स्वच्छ शोभा से पाप कर्मों से घृणा दिला कर अपनी स्वच्छ वायु की गोद में लोरियाँ दे रहे हैं। जिन जङ्गलों में हिंसक पशुओं के घोर नाद हृदयों को दहलाते थे, उनके एक २ पत्ते से प्रेम वर्षा की धारा बरस रही है। जिन औषधियों को सड़ाकर मनुष्य पागल हो रहे थे, उनकी सुगन्ध नासिकाओं को आह्लादित कर रही है।

कैसा आश्चर्यजनक भेद ? क्या था और क्या हो गया ? जीवन यात्रा के पथिक ! अपने पथ-प्रदर्शक को भूल कर तूने अपनी कैसी दुर्दशा कर ली ? अभी संभलने का समय है। नहीं, नहीं, संभलने का तो सदैव समय है। हम अपनी कुटिलता से कितनी बार उस प्रेम, उस पवित्रता, उस प्रकाश के स्रोत से अलग होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु क्या इतनी ही बार हमारे कुटिलता से खड़े किये हुए बन्धन को छिन्न-भिन्न करके वह अमृत का स्रोत हमें आनन्द प्रदान नहीं करता रहा ? पथिक निराश मत हो ! शुद्धस्वरूप प्रकाशमय पिता, संसार की एक २ घटना में शुद्धि का संचार कर रहे हैं। चाहे हम उन्हें छोड़ क्यों न दें, परन्तु वह हमें कभी नहीं त्यागते। तब भय को त्यागकर उसी की प्रेम मरी गोद में क्यों न चलें ? *

“हे ज्ञान के झण्डार ! सब प्रकाशों से तुम देगवान् वायु से तुम, जलों से तुम, पर्वतों के शिखरों से तुम, जङ्गलों से तुम, औषधियाँ से तुम—हे मनुष्यों के शासक ! तुम मनुष्यों में पवित्रता उत्पन्न करते हो।”

अपने चेतन स्वरूप को मत भूलो !

“ठीक जैसा हूँ वैसा नहीं जानता कि यह मैं हूँ, (किन्तु) विचार से ठीक बैसा हुआ (जब) अन्तर्निहित विचारता हूँ (तब) पता लगता है कि (जब) पहले प्रकाशित हुए पञ्चभूत मुझ जीवात्मा को प्राप्त हुए, उसके पीछे ही मैं सत्य ज्ञान और (उस सत्य ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने वाली) इस वाणी रूपी भाग को प्राप्त होता हूँ।”

मैं क्या हूँ? यह प्रश्न सृष्टि के आदिकाल में जैसा आकाश में गूँज उठा था, वैसा आज भी वायुमण्डल में भरपूर हो रहा है। सब कुछ मेरे लिये ही है, मैं सर्वोपरि हूँ, मैं ही सृष्टिका स्वामी हूँ। इस प्रकार की अन्धौ लहरें किस हृदय के अन्दर नहीं उठ चुकीं? किन्तु क्यों इस लहर में बहे जाते हुए, कभी यह भी विचार किया है कि मैं वास्तव में क्या हूँ? जब यह विचार उत्पन्न होता है तभी तो अन्दर की आँखों के पट खुलते हैं और मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को देखने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार बल से फेंकी हुई लहरें सामने टक्कर लगने पर एकदम पीछे हटकर गिर पड़ती हैं, वैसे ही मनुष्यों को विचाररूपी लहर की एक टक्कर लगती है। इतिहास प्रसिद्ध आंगल राजा की तरह जब वह उन्मत्त होकर जलवायु तक को शासन की धमकी देने लगता है, तब इन दैवी शक्तियों से पटकनी खाकर कहीं का कहीं आ गिरता है। अब न वह ऊर्ध्वारोहण है, और न आकाश की संर, अब पाताल की सुध लेने जा रहा है। कहां चला गया?

कहाँतू और कहाँ मैं ? मिट्टी का जब मैं हूँ तब मिट्टी में ही आनन्द हूँ !

पञ्चभूतों का शरीर प्राप्त करके ही तो मैं मन और वाणी का स्वामी बना । तब यही मेरे स्वामी हूँ । इनका हो सँगा तो आनन्द मिलेगा । यह आकाश में उड़ना अब दूर हो गया । मिट्टी में लथपथ होकर मिट्टी बन गया । जब भौतिक जगत् को सर्वथा स्वप्नवत् जानता था, जब अपने आपको सर्वोपरि समझता था, तब एक प्रकार का आह्लाद था, तब कोई बसान् नीचे तो नहीं घकेल रहा था किन्तु अब तो बोझ के मारे दब रहा है । उठ सकता नहीं, अपने आपको जड़ का बना समझकर चेतना को जवाब दे बैठा है । देखते हुए भी नहीं देखता है, सुनते हुए भी नहीं सुनता है, जीते हुए भी अपने को घोखा दे बैठा है । अपने आपको भौतिक समझता हुआ जिघ्रस भौतिक भोग ले जाते हैं, उधर ही चल देता है । अन्दर वाला अपने स्वरूप को कभी २ समझने लगता है, उसे चेतना का भ्रम सा होने लगता है, परन्तु भोग रूपी जादू की छड़ी फिर सिर पर घूम जाती है और वह उसी के इशारे पर उल्टा-सीधा होता हुआ विविध प्रकार की बोलियां बोलने लगता है । हा ! मरण धर्मा शरीर के साथ मिल कर अमर की कैसी शोचनीय दशा होगई ? ऐसे विकट समय में भगवती श्रुति मधुर स्वर से कैसा शान्तिदायक उपदेश देती है—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निष्पद्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन्प्रथमजा श्रुतस्यादिद्वाजो अङ्गुवे भागमस्याः ॥
अपाङ् प्राङ् इति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विश्वज्ञीना विग्रन्ता न्यन्यं चिकपुर्न नि श्रियुरन्यं ।

—श्रु० १ । १६४ । ३७-३८

‘अन्नादि भोग पदार्थों से उल्टा-सीधा हुआ मरण धर्म रहित जीवात्मा मरण धर्म सहित शरीरादि के साथ एक स्थान

वाला हो रहा है। इन दोनों के मिलाप का ही परिणाम गति और अनेक प्रकार की क्रिया करना है। एक (इस रहस्य) को निरन्तर जानते और दूसरे को नहीं जानते हैं।

मुर्दा क्या जान सकता है ? सजीव मनुष्य ही सब कुछ जान सकता है ? अविद्वान् उड़ेगा तो उड़ता ही रहेगा और यदि गिरेगा तो कीचड़ में लथपथ होकर सड़ाई का कीड़ा हो जायेगा। किन्तु विद्वान् जानता है कि वह क्या है ? वह अपने स्वरूप को पहचानता है। वह जानता है कि पञ्च भौतिक शरीररूपी साधन को लेकर ही वह इस जगत् में अपना उद्देश्य पूरा करने को आया है साथ ही वह भली प्रकार अनुभव करता है कि वह जड़ नहीं है। प्रकृति के साथ जिस प्रकार परम पुरुष का मेल सनातन है, उसी प्रकार जीवात्मा का सम्बन्ध भी प्राकृतिक जगत् के साथ सदा रहता है। इसलिए प्रकृति को सर्वथा भुलाकर वह अपने स्वरूप को ही भूल जाता है, जिसका परिणाम दुःख होता है। भौतिक शरीर रखते हुए जिन भूले भटकों ने इन्द्रियोंको भोगों से सर्वथा जुदा रखा उन्होंने ठोकर खाई। रुकावट सामने आने पर जब उनकी इच्छाओं को पलटा मिला तो वे दूसरी सीमा पर पहुँचकर इन्द्रियों के दास होगये। उन्होंने सर्वथा भुला दिया कि वे अमर हैं और आत्मा हैं। इसलिए श्रुति ने स्थानर पर समता की अवस्था स्थिर करने का उपदेश दिया है। वेद का उपदेश सर्वकाल में स्मरण रखने योग्य है। भौतिक शरीर को भौतिक खुराककी जितनी आवश्यकता है, उससे बढ़कर मानसिक शरीरको आत्मिक भोजन की आवश्यकता है। इसलिए हे आत्मा के स्वामी और ज्ञान के भण्डारी ! अपने निज स्वरूप को हम प्रकाशहीन दीनों के लिए प्रकाशित करो जिससे हम आपके प्रकाशरूपी दर्पण में अपने स्वरूप को देख कर उसकी वास्तविक उन्नति का प्रयत्न करते रहें। *

: ३ :

श्रद्धा ही तरन तारन है

—सा० प्र० ३ अर्द्ध पाटीर

ओ३म् । कस्त्वामिन्द्रत्वा वसथा मर्त्यो बध्वर्षति ।

श्रद्धा हि ते मघवन् पायँ विवि वाजी वाव सिषासति ॥

हे सबके निवास स्थान, सबके स्वामी परमात्मन् ! उसको कौन मरणधर्मा (मनुष्य) ग्रहण कर सकता है ? हे सर्वपूज्य ! तेरा ज्ञानी पुरुष ही (ऊपर उठकर) दुलोक में श्रद्धा द्वारा ज्ञान में जीवन डालता है ।

यह और वह दोनों का ही मेल नैतिक जीवन में अनुभव होता है। संसार को स्वप्नवत् समझने वाले मनमानेब्रह्मज्ञानी को भी शारीरिक तथा मानसिक क्लेश, झटका देकर जगा देते हैं। तब पता लगता है कि यह और है और वह और। यह शरीर परिवर्तनशील, नाशवान् और वह एक रस, अनादि, अनन्त। आकाश और पाताल का अन्तर है। परन्तु वह इन आँखों से दिखाई नहीं देता, इन कानों से सुनाई नहीं देता, इन इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं। और ग्राह्य हो भी कैसे सकता है ? जो इन्द्रियों का विषय न हो, जो मन के वश में न आने वाला हो, जो बुद्धि से भी परे हो, जो सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म हो, उसे कौन मरणधर्मा प्राणी अपनी परिमित बुद्धि की सीमा में बाँध सकता है ?

तब विवश, तपहीन, गिरा हुआ मनुष्य और भी नीचे गिर जाता है। एक ओर अपनी निर्बलताओं का ज्ञान और दूसरी ओर आश्रय का अभाव देखकर उसे चारों ओर अन्धकार प्रतीत

होता है। हाय प्रकाश! हाय प्रकाश! यह आर्त्तनाद आकाश में गूँजने लगता है।

यह भयानक अवस्था संसार को डावांडोल कर देती है। एक का विलाप संकड़ों की शान्ति का नाश करने के लिये पर्याप्त है। तो क्या करोड़ों का मानसिक रोना पशु-पक्षी तथा वनस्पति तक के हृदय को न दहलाता होगा?

यह दीन दशा संसार की देखकर उसका ज्ञान रखने वाले उसी का नित्य दर्शन करने वाले तथा उसी में अपने आपकी स्थिति समझने वाले ज्ञानियों के हृदय करुणा रस की मूर्ति बन जाते हैं। तब वे अपने गिरे हुए भाइयों को उठाने के लिए ज्ञान की बाहु-पसार देते हैं। भाइयोंको उठाने की प्रबल इच्छा भी है, उसके लिये प्रयत्न भी है, किन्तु केवल ज्ञानरूपी बाहु अशक्त सिद्ध होती है। उठने के स्थान में वे गिरे हुए आत्मा, उस ज्ञान रूपी बाहु को जींचने लगते हैं, उस समय सरस्वती का विकास होता है और इसकी प्रदान की हुई श्रद्धारूपी अमृतधारा का स्रोत खुल जाता है। मरते हुआ को जीवन का आनन्द आ जाता है और वे अपने उठाने वाले ज्ञानी बड़े भाई को स्वयं उठने में सहायता देते हैं और तब भाई २ के हाथ में हाथ दिये जीवन से भरपूर एक होकर कहते हैं:—

श्रुति मात्ररसः सूक्ष्माः प्रधानः पुरुषेश्वरः ॥

श्रद्धा मात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा ॥

श्रद्धा विधि समायुक्त धर्म यत्क्रियते नृभिः ।

स विशुद्धेन भावेन तदानन्त्याथ कल्पते ॥

यह दीन दशा संसार की देखकर उसका ज्ञान रखने वाले, तथा उसी में अपने आपकी स्थिति समझने वाले ज्ञानियों के हृदय करुणा रस की मूर्ति बन जाते हैं। तब वे अपने गिरे हुए भाइयों को उठाने के लिये ज्ञान की बाहु पसार देते हैं।

इस अमर धेनु को कैसे दुहें

उप ह्वये सुदुष्ठां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहवेनाम् ।
श्रुत्वं सवं सविता साविषत्रोऽभीदो घर्मस्तदु पु प्र वोचम् ॥

—१।१६४।२६

“इस भली प्रकार दुही जाने वाली धेनु को मैं निपुण हाथों वाला गोधुक् स्वीकार करूँ और उत्तम ऐश्वर्य का देने वाला हम में इस दोहने की विद्या का सामर्थ्य उत्पन्न करे, जिससे मैं सर्वथा प्रदीप्त प्रताप से प्रकाशित होकर उस विद्या को भली प्रकार कहूँ ।”

‘धेनु इति वाङ् नामसु पठितम्’ निघण्टु के अध्याय १ खण्ड ११ में धेनु को वाणी के अर्थ में लिखा है । यहाँ पर गो, गौः भी वाणी अर्थ में प्रयुक्त है । दुही जाने वाली वाणी ही है । जब तक ज्ञान, आत्मा और मन के अन्तर्गत ही रहता है, तब तक उसका बाहर प्रचार नहीं हो सकता । ज्ञान का प्रसरण वाणी द्वारा ही होता है । दुग्ध की प्राप्ति के लिये दो बातों की आवश्यकता है, एक गौ सुशीला, सुगमता से दुही जाने वाली हो और दूसरे यह कि दोहने वाला सुहस्त अर्थात् दोहने में निपुण हो । इसी प्रकार वाणी रूपी धेनु से पूरा लाभ उठाने के लिए पहली आवश्यकता यह है कि ज्ञान का उल्लेख ऐसी भाषा में हो जिसमें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सुलभ हो सके और दूसरे उसमें से तत्त्व निकालने वाला जिज्ञासु ऐसा निपुण हो कि दूसरों तक उसके भाव को आसानी से पहँचा सके । वेद स्वयं इस सचाई

का प्रमाण है। जहाँ वैदिक भाषा सरल से सरल और सब प्रकार के शब्द जात्र से मुक्त है, वहाँ उसका आशय सदा ही उच्च रहता है। उन आशय को दूसरों तक पहुँचाने वाला भी यदि सुहस्त, योग्य हो तभी वैदिक सत्य का प्रकाश होता है।

धर्मोपदेशक की तरह शिक्षक का पद भी बहुत ऊँचा है। जितना शिक्षक का पद ऊँचा है, उतना ही उस पद तक पहुँचने के लिये तैयारी अधिक करनी पड़ती है। वेदरूपी ज्ञान को दोह कर मक्खन निकालने के लिये क्या उच्च साधनों की आवश्यकता न होगी? शिक्षक को पहले स्वयं अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों को बश में करना चाहिए। उसे बनावटी नहीं, अपितु स्वाभाविक नट बनने की आवश्यकता है। इस प्रकार साधन सम्पन्न होकर ही उसे मैदान में उतरना चाहिए।

साधन सम्पन्न विद्वान् ही पता लगा सकता है कि सरलता से दुहे जाने पर अमृतमय फल की प्राप्ति किस वाणी से हो सकती है जिसको वह संसार के कल्याणार्थ फैलावे। शिक्षा देने से पूर्व शिक्षक के लिये उचित पाठविधि का निश्चय करने की आवश्यकता है। मेले में सहस्रों गायें बिकने को खड़ी रहती हैं। उनमें कोई सींग मारने वाली, और कोई दूध न देने वाली है। बुद्धिमान् गोधुक् उनमें से किसी को हाथ नहीं लगाता। ज्ञान-रुही गाय की भी यही अवस्था है। शिक्षक किस ज्ञान को प्रचार करने के लिये स्वीकार करें? जिस पुस्तक की भाषा में इन्द्रियों को उरसाने और बुरी कामनाओं को उत्तेजित करने का दुर्गुण है, उन्हें बुद्धिमान्, साधन-सम्पन्न शिक्षक अपनी पाठविधि से पहले ही निकाल देगा। जिस वाणी से मनुष्यों में परस्पर द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो, जिन उपन्यासों से कामचेशा उत्तेजित हो, जिन तुकबन्दीयों से पिघल कर मनुष्य में पशु भाव का प्रवेश हो, उनको शिक्षक पहलेही त्याग देगा फिर निर्दुग्धा गायकी तरह

वाणी भी निस्सार नहीं होनी चाहिए। वेद का एक-एक शब्द अपने अन्दर सार रखता है। वेदानुयायी उपनिषद्कार मुनियों ने एक शब्द भी बिना प्रयोजन के नहीं लिखा। कलियुगी संस्कृतज्ञों ने 'अवच्छेदकावच्छिन्न' के शब्द जाल में फँसा कर आर्य जाति को ज्ञास्तिकपन के गढ़ में गिरा दिया।

इनके अतिरिक्त जो वाणी मनुष्य में अभिमान तथा आत्म-श्लाघा का कुसंस्कार डाल कर उसका सर्वनाश करने वाली हो, रूग्ण गो की तरह उससे भी बचना चाहिए।

शिक्षक का पद जितना ऊँचा है, उसके लिये साधन भी उतने ही कठिन हैं। वे साधन कैसे निभ सकें ? जीवात्मा की अल्पशक्ति इस बड़े बोझ को उठाने के लिये योग्य नहीं। इसलिये उस महती शक्ति का सहारा लेना चाहिए जिसके आश्रित को क्लेश की कोई भी आँधी डगमगा नहीं सकती। जिसके पास ऐश्वर्य है, वह दूसरों को ऐश्वर्यवान् बना सकता है। जिसके पास अपना कुछ नहीं, वह किसी को क्या दे सकता है ? नंगी क्या नहावे, क्या निचोड़े ? जिन्होंने अपनी अल्पज्ञता को भुला कर दूसरों की पथ-प्रदर्शकता का बोझ अपने ऊपर लिया उन्होंने शिष्य का और अपना दोनों का नाश कर लिया। परन्तु जिन्होंने वाणी के स्वामी सर्वज्ञ पिता से ज्ञान लाभ करके जो कुछ भी प्राप्त किया उसे ज्यों का त्यों शिष्य के आगे रख दिया, उन्होंने अपने शिष्यों का और अपना, दोनों का कल्याण करके जीवन का उद्देश्य पूर्ण किया। शिक्षित को परमात्मा से प्रकाश लेना चाहिए। तब उस प्रकाश से प्रीति होकर वह अपने शिष्यों को प्रकाश दे सकता है। उस समय उसे बल लगाने की आवश्यकता न होगी, उसका जीवन उसका रोम-रोम स्वयं बोलेगा और बिना परिश्रम के ही शिष्यों के अन्दर विद्या रूपी सूर्य के प्रकाश का संचार होगा। धन्य है वह जाति और देश जहाँ पर इस प्रकार की, गुरु शिष्य के सम्बन्ध द्वारा शिक्षा होती है।

गुरु शिष्य के वास्तविक मेल में संसार शान्त होता है

ओ३म् ! ममत्तु नः परिज्जा वसर्हा ममत्तु वातो अपां वृषण्वान् ।
शिशीतमिन्द्रा पर्वता युवं न स्तन्नो विश्वे वरिवस्यःतु देवाः ॥

— ऋ० १।१२२।३

“निवास स्थान बन कर जलता हुआ (अग्नि) आनन्दित करावे, जलों की वर्षा कराने द्वारा पवन हमको आनन्दित करावे। हे सूर्य और मेघ मण्डल के सदृश्य शिक्षा रूपी तेज से हृदय को पवित्र करके ऊपर उठाने वाले शिक्षक तथा शिष्य ! (तुम दोनों) हमको तीक्ष्ण बुद्धि से युक्त करो। जिससे सब (दिव्य गुणों के निवास करने वाले) देव हम लोगों को आश्रय देने वाले हों।”

पहले पहल संसार के अथाह समुद्र में गिर कर बालक सूर्य के प्रकाश में ही आँखें खोलता है। वह जीवन का अनुभव नहीं करता, जब तक सूर्य भगवान् के दर्शन न होलें। प्रकाश ही जीवन है। सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश ने ही धारण किया हुआ है, प्रकाश ही सबका निवास स्थान है। सब वस्तु इसी के आश्रय से दिव्य गुणों को बसाने वाली बन रही है। एक ओर प्रकाश जहाँ सबका निवास स्थान है वहाँ दूसरी ओर दिव्य गुणों का बसाने वाला भी है। केवल चेतन मनुष्यों में ही नहीं अपितु जड़ पदार्थों में भी दुर्गुण रूपी अंधेरा रहता है। जहाँ प्रकाश हो वहाँ अंधेरा रह नहीं सकता। अग्नि जहाँ एक ओर सारी कार्य प्रकृति को घेर लेती है, वहाँ दूसरी ओर पदार्थों के मेल को

जला कर भस्म भी कर डालती है । इसका ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे जीवनो में नित्य दिखाई देता है । कौन सा स्थान है जहाँ हम अपने प्यारे प्राणपति की ज्योति से जुदा होते हैं ? सब स्थानों और सब अवस्थाओं में वही हमारे अङ्ग-सङ्ग है । वह हमारा निवास स्थान, अन्दर-बाहर सब जगह परिपूर्ण हो रहा है । वह 'आदित्यवर्ण' ज्वलन्त प्रकाश है । जहाँ और जब कभी ज्योति का साक्षात्कार करते हैं, उसी समय हमारे दुर्गुण जल कर भस्म हो जाते हैं और आनन्द ही आनन्द का अनुभव होने लगता है । तप के पश्चान् ही ठीक विश्राम मिलता है । तपाये जाने पर ही स्वर्ण मलरहित होकर चमकता है । आत्मा को भी स्वच्छ करने के लिये तपरूपी अग्नि में प्रवेश कराने की आवश्यकता है ।

अग्नि मलों से जल को शुद्ध करके, गिरी हुई अवस्था से उसे ऊपर उठाता है । वही अग्नि वायु रूप होकर मेघ को उचित स्थान पर बरसाता है । मलों से शुद्ध भूमि जल के ऊपर उठ जाने में व्याकुल हो उठती है । जब तक भूमि पर जल था तब तक मलों में लथपथ हुआ, एक प्रकार की तामस शक्ति दे रहा था परन्तु जब जल के ऊपर उठ जाने से भूमि मल से मुक्त हो गई तब उसके अन्दर की जवन ने उसे व्याकुल कर दिया । वायु ने मेघमण्डल को हिला कर वर्षा कराई, जिससे भूमि के सभी चराचर प्राणी ताप रहित हो गये । यह अवस्था उन कर्मपरायण आत्माओं की होती है, जिनके हृदय के मल को आस्तिक बुद्धि का तेज स्वच्छ कर देता है । उस समय आत्मा को पाप का ठीक बोध होता है, पाप के बोध से सच्चे अनुताप की उत्पत्ति होती है । इस नीरोगावस्था में मनुष्य बहुत कोश अनुभव करता है, परन्तु यह कष्ट देर तक नहीं रहता । जिस ज्योतिस्वरूप पिता ने ज्ञान रूपी जल को सब मलों से अलग कर ऊपर स्थित

किया वही वायु रूप से उस ज्ञानरूपी मेघ मण्डल को हिला कर बरसा देता है। मन हृदय और आत्मा में सच्चे सुख और शान्ति का संचार करता है।

यही प्रत्यक्ष दृष्टान्त परम पिता ने सांसारिक गुरु शिष्यों के सामने भी रख दिया है। गुरु तथा धर्मोपदेशक को पहले अग्नि का रूप धारण करना चाहिए। फिर झूठी दया और प्रेम को त्याग कर उसे केवल तेज का आश्रय लेना चाहिए। शिष्य-प्रेम यही है कि उसके अन्दर एक भी मल न रह जाये। उसके दुर्गुणों को नष्ट कर दिया जाये तब ज्ञान स्वच्छ होकर ऊपर को उठेगा। ज्यों-ज्यों शुद्ध ज्ञान ऊपर जायेगा त्यों-त्यों जिज्ञासु शिष्य का हृदय व्याकुल होता जायेगा। वे शिष्य भाग्यवान् हैं, जिनके हृदय सच्चे ज्ञान के लिये व्याकुल हो रहे हैं जब तक ज्ञान रूमी अमृत को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त नहीं होती। उस आचार्य की विद्या, उस आचार्य का सदाचार, उत्तम शिष्य मिलने पर सफल हो सकता है। यह ठीक है कि सत्य विद्या में दान वृद्धि होती है। जिस समाज में सदाचारी, धर्मात्मा ज्ञानी आचार्य हों और उनसे शिक्षा लेने वाले श्रद्धा सम्पन्न स्वच्छ हृदय शिष्य हों, उसी समाज का कल्याण होता है। उसी समाज की प्रजा अन्तःकरण से यह प्रार्थना कर सकती है 'हे शिक्षक तथा शिष्यगण ! तुम लोगों के संघर्ष से हम लोगों की बुद्धियाँ तीक्ष्ण होंगी। उस तीक्ष्ण बुद्धि की कसौटी पर अपने कर्मों को परख कर जब हम आचरण करेंगे तब सब देव हमको आश्रय देने वाले होंगे।'

पृथिवी, जन, वायु और आकाश, इन्द्रियाँ तथा मन सभी शक्ति प्रदान करने वाले होते हैं, जहाँ ज्ञान और क्रिया के भण्डार ज्योति स्वरूप परमात्मा पर विश्वास रखने वाले गुरु स्वच्छ हृदय श्रद्धालु शिष्यों को शिक्षा देते हैं। *

मित्र के एक बार दर्शन करके उसे न भूलो

ओ३म् ! श्रुतं मे नित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदनं विश्वतः
सीम् । श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुश्रुता सिन्धुरक्षिः ॥

—ऋ० १।१२२।६

मित्र और वरुण हमें जीवन के पल-पल में अपना परिचय देते हैं। "भेद्यति स्निह्यति वा स मित्रः" सबसे कौन स्नेह करता है और सब किससे स्नेह करते हैं? सूर्यास्त के पश्चात् कृष्ण पक्ष में जब घटाटोप अन्धकार छा जाता है, उस समय निर्जन जङ्गल में भटकते हुए यात्री को किस आशा का सहारा है? वृक्षों के पत्तों की खड़खड़ाहट और हिंसक पशुओं के क्रूर नाद को सुनकर यदि भटका हुआ पथिक जीता है तो केवल इस आशा पर प्रातःकाल होते ही सूर्य का उदय होगा और सब दुःखों का नाश हो जायेगा। कुजङ्ग में फँस कर विषयों में लिप्त हो जब आत्मा के ज्ञान चक्षुओं के आगे अन्धकार रूपी पर्दा आ जाता है, तब उस निराशा के समय आत्मा यदि जीता है, तो केवल ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश की आशा पर। जब सारा संसार तिनका तोड़कर किनारा कर जाता है उस समय भी धर्म रूपी सूर्य साथ नहीं छोड़ता। जब अतिवृष्टि के कारण वृक्ष और पौधे मुरझाने लगते हैं, उस समय सूर्य के उदय होते ही वनस्पति मात्र आह्लाद में निमग्न हो फिर से लहलहाने लग जाते हैं। निरस्तन्देह सूर्य से बढ़कर स्थावर और जङ्गम जगत् का कोई

यदि मित्र है तो सूर्यलोक का भी प्रकाशक हिरण्यगर्भ के सिवाय कोई नहीं।

वही परमात्मा जो अपने आदित्यवान् गुणों में मित्रवान् अप्राणी तथा प्राणिमात्र (निराश्रयों) का आश्रय है, वही अपने वरुण गुण से सारे ब्रह्माण्ड का राजा है। उसकी आज्ञा में काम करने वाला प्राणों तथा अत्राणों का प्रेरक वायु भी भौतिक जगत् का राजा है। धर्मात्मा योगियों को जो स्वीकार करता है और उन धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता वह 'श्रेष्ठ' सबका राजा 'वरुण परमात्मा' है। उसकी आज्ञा में चलता हुआ भौतिक वरुण भी पञ्चभूतों का राजा है। ऋग्वेद में इसीलिये कहा है:--

‘इत्वं चिरद्धेषां वरुणमसि राजा।

प्रकाश (अग्नि) के बिना चिरकाल तक निर्वाह हो सकता है, पृथिवी से उत्पन्न हुई वनस्पति के बिना ४० दिनों तक निर्वाह किया जा सकता है, जल के बिना भी ७ दिन तक शायद निर्वाह होता है। मित्र का साथी और उसका आधार 'वरुण' सत्रज्ञ निस्तन्देह राजा है।

मित्र और वरुण जब तक अनुकूल न हों, तब तक जीवन पथ पर चलना कठिन है। मित्र सम्पूर्ण प्रकाश (ज्ञान) का देने वाला है और वरुण गति देने की शक्ति रखता हुआ सब क्रियाओं का स्रोत है। जिसने मित्र और वरुण का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। जिसने इन दोनों को अपने सेवा व्रत से हिला लिया, सारी कृतकार्यता और जीवन की सफलता उसी के लिये है। 'हे मित्र और वरुण ! मुझ अच्छे सुनने वाले के इन समर्पित किये वचनों को सुनो। मैं अच्छा सुनने वाला कैसे बना हूँ।

अन्तरीय और बाह्य दोनों कानों को तुम्हारी ओर लगाये हुए ही मैंने अपने कानों द्वारा अपनी वाणी का भी संशोधन किया है। मेरे योग्यता सम्पादन कर लेने पर ही तुम मुझे स्वीकार

मुक्ति सोपान

(२७)

करोगे । तुम दोनों से बढ़कर इस तैयारी के लिए मेरा कौन सहायक हो सकता है ?' यह भाव जब तक मनुष्य में नहीं आये तब तक प्राप्त किया आत्मिक ज्ञान भी स्थिर नहीं हो सकता । जिज्ञासु के लिए यही उचित है कि ज्ञान और कर्म, प्रकाश और प्राण की उपासना से कभी न गिरे । तदन्तर ही वह यह उत्तम प्रार्थना शुद्ध भाव से कर सकेगा, और सामाजिक व्यवहारों तथा सब एकान्त अवस्थाओं में भी (हे मित्र और वरुण !) हम सबको मर्यादा में स्थिर रखते हुए हमारी प्रार्थना को सुनो । जलों के समुदाय (समुद्र) से जैसे नदी उत्तम क्षेत्र को प्राप्त होती है, इसी प्रकार सारे स्रोतों के स्रोत हे मित्र वरुण । आप-हमारे समर्पित भावों को स्वीकार करो ।

जिस प्रकार अथाह समुद्र में बड़े से बड़ा जहाज बिना किसी आश्रय के डावाँडोल रहता है और उस पर यात्रा करने वाले मनुष्य सन्दिग्ध अवस्था में भयभीत रहते हैं, परन्तु जिस प्रकार किनारे पर चमकते ज्योतिःस्तम्भ को देखकर छोटी नौका में बैठे हुए यात्री का भी मन स्थिर हो जाता है । इसी प्रकार प्रकाशकों के प्रकाशक और प्राणधारियों के प्राणाधार जगन्नियन्ता के ज्ञानरूपी प्रकाश के ज्योतिःस्तम्भ की ओर जिनकी टिकटिकी एक बार बँध जाती है, वे सांसारिक ऐश्वर्य और सांसारिक शक्तियों से रहित होते हुए भी स्थिर चित्त होकर डाँवाँडोल नहीं होते ।

पाठकवृन्द ! शरीर, मन और आत्मा की सारी शक्तियों को उस ज्योतिःस्तम्भ की ढूँड़ में लगा दो । विद्युत् की तरह उसका चमत्कार कई बार तुम्हारे आत्मा को प्रकाशित कर चुका है । वह शुभ घड़ी फिर भी आ सकती है जब कि वह प्रकाश फिर तुम्हारे अन्दर चमक उठे । दृष्टि को एक बार उसके पीछे लगा देने से वह फिर लौट कर नहीं आवेगी और तब तुम आश्चर्य से देखोगे कि अज्ञात देवीय शक्ति तुम्हारी सहायक होकर उस स्थिर प्रकाश को तुम्हारी दृष्टि से ओझल नहीं होने देगी ।*

विशुद्ध उत्तम सन्तान उत्पन्न करो

स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षणां विचेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितृष्णितासत् ॥

— ऋ० १।१६४।१६

(जिनके उत्तम गुणों) को विज्ञानवान् पुरुष देखते हैं, जिन्हें (विज्ञान शून्य) मनुष्य नहीं जान सकते जिनको (सदाचारिणी) सती स्त्रियाँ कहती हैं, उन मेरे पुरुषों को जिनके कवि (तत्वज्ञानी) पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनको भली प्रकार जानो । वही पिता होता है । ऐसा तुम जानो ।'

परमेश्वर का प्यारा पुत्र कौन है ? जिस पवित्र जनन-शक्ति से परमेश्वर सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं, वही जनन-शक्ति उन्होंने मनुष्य को प्रदान की है । जो पुरुष उत्तम तत्वज्ञानी (कवि) सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, वह परमेश्वर का प्रिय पुत्र है । जिसका शरीर वीर्यवान् और बलिष्ठ है, जिसका मन शुद्ध-संकल्पों का केन्द्र है, जिसकी आत्मा उत्तम गुणों का निवास स्थान है, उसके वास्तविक स्वरूप को तत्वज्ञानी विज्ञानवान् देव ही देख सकते हैं विज्ञान शून्य अन्धा, मूर्ख उसको क्या पहिचानेगा ? मनुष्य किस प्रकार समझ सकता है कि वह परमेश्वर का पुत्र है ? निस्सन्देह ईश्वर के प्यारों की साक्षी ही इसके लिये प्रमाण हो सकती है । जिसकी लाखों मूर्ख प्रशंसा करें और दूसरी ओर एक सदाचारी धर्मात्मा ज्ञानी उसके आचार को दूषित समझे तो तत्वज्ञानी धर्मात्मा की सम्मति ही ठीक है । हे संसार यात्रा के पथिक ! मूर्खों की अप्रशंसा से न डरकर तुम धर्म-मार्ग से च्युत न हो ।

धर्मात्मा सदाचारी ईश्वर के प्यारे से ही सती बात करती है । संसार इस समय अविद्या के गढ़े में पड़ा, जीवन विद्या को भूला हुआ है, इसलिए विवाह के मुख्य उद्देश्य को नहीं जानता घन, मान, कीर्ति विषय-भोगादि के लिये विवाह सम्बन्ध होते हैं। पितृ-ऋण से उऋण होने के विचार से शायद ही कोई विवाह होता है । यह शोचनीय अवस्था क्यों है ? इसलिये कि विवाह में स्त्री का महत्व कुछ भी नहीं समझा जाता ।

प्रभु परमपिता कहते हैं कि मेरा प्यारा पुत्र वह है, जिसे मेरे प्यारे भक्त अपनाते हैं, जिसको सदाचारी धर्मात्मा पुरुष अङ्गीकार करते हैं । जो पुरुष मुखों के व्यंग्य से न डरकर अपने कर्तव्य पालन में लगे रहते हैं, उन शुद्ध शरीर, शुद्ध अन्तःकरण तथा शुद्धात्मा पुरुष को ही साध्वी सती स्त्री प्रसन्नता पूर्वक स्त्रीकार करती है । इन दोनों का ही विशेष प्रकार से सम्बन्ध अर्थात् विवाह हो सकता है । और उस सम्बन्ध से कवि उत्पन्न होता है । यह सार गर्भित तत्व वेता (Genius) बनाये नहीं जाते न बनते हैं, प्रत्युन् वे उत्पन्न होते हैं ।

अमेरिका के प्रसिद्ध डाक्टर 'जान बाबन' ने अपनी पुस्तक 'The science of a new life' का एक अध्याय इसी विषय के अर्पण किया है । उन्होंने वर्तमान अविद्या के साथ संग्राम करते हुए यह बतलाया है कि यदि गर्भाधान संस्कार से वर्ष भर पहले ही माता पिता कवि सन्तान उत्पन्न करने का दृढ़ संकल्प कर लें और अपनी प्रबल मानसिक इच्छा को इसी में लगा दें तो इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न की जा सकती है । तुकबन्दी करने वाले का नाम कवि नहीं है, तत्व ज्ञानी को कवि कहते हैं । किस तत्व का ज्ञानी सन्तान हो यह माता पिता के आधीन है यदि शुद्ध भाव से ईश्वरीय नियमों का पालन करें । परम पिता का मनुष्य मात्र के लिये उपदेश है कि वे अपनी प्यारी प्रजा को

पहचाने, क्योंकि जो परमेश्वर का प्यारा है वही पिताओं का भी पिता कर्त्तव्य रक्षक होता है। पिताओं को उनके कर्तव्य से सचेत वही कर सकता है जिसमें स्वयं शुद्ध उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता हो, जिसने गृहस्थाश्रम को आदर्श रूप से दम्पतियों के सामने रक्खा जिसने अपने आदर्श गृहस्थियों को दिखाया कि पति पत्नी का सम्बन्ध विषय भोग में लिप्त होने के लिये नहीं है, जिसने अपने उदाहरण से दिखाया कि सुख विषयों का दास बनने में नहीं, प्रत्युत् विषयों को अपना दास बनाने में है, उससे बढ़कर पिताओं का रक्षक और कौन हो सकता है ? परमात्मा का आदेश है कि जो पवित्रता को देख नहीं सकते, जो पवित्र जीवन की श्रेष्ठता को समझ नहीं सकते, उनके लिये संसार में जीवन नहीं है। इस प्रकार के पुरुषों की आँख खोलने का काम ईश्वर के प्यारे, पवित्रात्मा पुरुष ही कर सकते हैं।

मातृ शक्ति की महिमा अपार है। देवियां पति के असत्या-चरण के साथ सम्बन्ध जोड़ने से इन्कार कर दें तो संसार का आघा क्लेश एक दम दूर हो सकता है। आर्य पुरुषो ! यदि तुम ईश्वर आज्ञा का पालन करते हुए शरीर मन और आत्मा को शुद्ध करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो तो तुम्हारे सहस्रों लाखों भाई विषयाक्ति के गढ़े से निकल कर परमेश्वर के प्यारे पुत्र बन जायें।

उसको न मानते हुए भी तुम उसको मानते हो

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेवं विद्वथाभिः स्वरन्ति ।

इतो विश्वस्य भुवनस्य गोषाः स मा धीरः पाकमत्राविशेषः ॥

—ऋ० १।१६४।२१॥

“सम्पूर्ण भुवनों (लोक लोकान्तरों) का पालक, सर्व मण्डल जिसमें स्थित हैं, जिस विज्ञानमय परमेश्वर में शोभन कर्म वाले जीव (आत्मा, धर्मात्मा, विद्वान्) अमृत के अंश (अमर जीवन दिलाने वाले तत्त्व ज्ञान वेद) को निरन्तर प्रत्यक्ष करते हैं, (उस परमेश्वर का उपदेश) मुझे वे ही धीर (ध्यानवान्) पुरुष, परिपक्व अवस्था में करें।”

सब लोक लोकान्तरों को सूर्य ही प्राणशक्ति प्रदान करता है इसीलिये उसे सबका पालक कहते हैं। यह प्राणशक्ति सूर्य ने किससे प्राप्त की? निस्सन्देह प्राणों के भी प्राण ब्रह्माण्डपति से ही यह प्राणशक्ति सूर्य ने प्राप्त की है। इसलिये शारीरिक जीवन का परम स्रोत परमात्मा ही है। परन्तु शरीर के जीते हुए, शारीरिक सब प्राकृतिक व्यापार करते हुए, नहीं कह सकते कि मनुष्य जीवित है, यदि उसका आत्मा जीवित न हो। जिस प्रकार शरीर के चलते फिरते रहने और जीवित कहलाने के लिये आवश्यक है कि अन्य भोजन के साथ वह सूर्य की प्राण-प्रदायिनी किरणों को भी अपने अन्दर खींचे, उसी प्रकार आत्मा को जीवित (चेतन अवस्था में) रखने के लिये मानसिक भोजन के साथ-साथ वैदिक ज्ञान की अमृतमय किरणों से अमर जीवन प्राप्त करने की आवश्यकता है।

तुम चाहो या न चाहो उसकी प्राप्ति, उसके सहवास की आवश्यकता सबको है। जब वह घट-घट में व्यापक है फिर कहीं भी क्यों न रहो तुम उसे त्याग नहीं सकते और बिना उसके निर्वाह नहीं हो सकता। आँखें मूँदने से क्या अन्दर के

भाव ओझल हो सकत हैं। वह सर्वत्र व्यापक और हमारा प्राणेश्वर है, उससे हम किसी समय भी अलग नहीं हो सकते, कह कह कर लोगों ने नास्तिक बन के गढ़े में पैर लटका दिये, परन्तु यह कहते हुए भी कि गढ़ा कहीं नहीं, उन्होंने अपने पाँव गढ़े से अलग खींच लिये। मुख द्वारा उससे विमुख होते हुए भी तुम कर्म में उसका आश्रय न छोड़ सके। हे संसार यात्रा के पथिक ! तुम्हें वहाँ जाना है चाहे किसी मार्ग से पहुँचने का प्रयत्न करो। जो श्रद्धालु भक्तजनों का लक्ष्य है वही श्रद्धाशून्य प्रत्यक्षवादियों को भी उपादेय है। अपने आपको प्रत्यक्षवादी बतलाते हुए भी इन लटके हुआँ ने समझा नहीं कि प्रत्यक्ष क्या है ? प्रत्यक्ष तो गुणों का होता है, गुणी के दर्शन होते नहीं। बाह्य चक्षुओं ने आज तक कभी गुणी के दर्शन नहीं किये। ऊपर से चाहे कितना ही आडम्बर रचो, चाहे तुम्हें भूँठी लोकलाज यह स्वीकार करने से रोके परन्तु तुम्हारे अन्दर उत्कण्ठा साक्षात् दर्शन की ही है।

दर्शन क्यों नहीं होते ? अभिमान से जिसकी गर्दन उठी हुई हो उसे कभी आज तक प्रकाश के दर्शन नहीं हुए। जिसे कभी सूर्य के दर्शन नहीं हुए, जन्म लेते ही जो अन्धा हो गया, प्रकाश का अनुभव भी न कर पाया था कि आँखें खो बैठा, उसे यदि धन्वन्तरि मिल जाये और उसकी आँखें खोलदे तो उसकी क्या दशा होती है ? यदि वह अभिमान से अरुढ़ कर दोपहर को सूर्य की ओर देखता है तो आँखें चौंधिया जाती हैं और शायद वह फिर अन्धा हो जाता है। चिरकाल से बिछड़े प्रकाश के आगे यदि वह श्रद्धा से सिर झुका जाता है और नीची दृष्टि रखकर धीरे धीरे सूर्य के प्रकाश को सहन करने का अभ्यास करता है, तो जहाँ उसकी आँखें बहुत तेज हो जाती हैं, वहाँ सूर्य के प्रत्यक्ष दर्शन करने की शक्ति भी धारण कर लेती हैं। चक्षुरोग से

पीड़ित दो मनुष्यों की अवस्था में भेद क्यों पड़ा ? पहिले का आपरेशन शायद एक नवशिक्षित सर्जन ने किया, जिसे पुस्तक और चौड़ फाड़ का ज्ञान तो शायद अद्वितीय है परन्तु अनुभव अभी कुछ नहीं। दूसरे का आपरेशन अनुभवी चिकित्सक ने किया। उसे मालूम है कि रोग की चिकित्सा करना इतना कठिन नहीं जितना पथ्य का सेवन कराना दुष्कर है। बुद्धिमान् रोगों को अनुभवी चिकित्सक की शरण में ले जाते हैं और बुद्धिमान् रोगी ऐसे घन्वन्तरि की शरण में ही जाते हैं।

अविद्यान्धकार रूपी रोग से पीड़ित भाइयो ! हमारा रोग समान है। हमें इस रोग से मुक्त होने के लिए क्या ऐसे ही आत्मिक घन्वन्तरि की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं ? जिस परमात्मा के अन्दर सूर्यादि लोक स्थिर हों वही अमृतमय वैदिक ज्ञान का आधार है। उसे वेद ही ठीक कहता है इसलिये वेदवित् प्रिय के पास ही हमारे अज्ञानान्धकार की औषधि है। वही आँखों के उस जाले का आपरेशन कर सकता है जिसने आत्मिक सूर्य के प्रकाश को देखने से हमें रोका हुआ है। महसूस अपनी अवस्था को समझते हैं और चिकित्सा के लिये वैद्य के पास चल देते हैं। बीसियों वेद का पुस्तक खोले बैठे हैं, उन्हें चारों वेद कण्ठस्थ हैं वे अन्वय कर पदार्थ भी लगाते हैं, ठीक भाव को बतला कर आँखों के पर्दे को गिरा भी देते हैं, ज्ञान चक्षुओं में देखने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है परन्तु आगे कुछ नहीं है। उपनिषद्कार ऋषि ने लिखा है कि ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् की सेवा में समित्पाणि उपस्थित होकर प्रश्न करो वेद का आदेश है कि जिस परमेश्वर में सूर्यादि भौतिक लोक लोका-न्तर स्थिति हैं और जिसमें आत्मिक सूर्य वेद भी स्थित है उसके दर्शन के लिए उस ब्रह्मवादी की शरण में जाओ, जिसकी साधना द्वारा परिपक्व अवस्था हो चुकी है। *

पवित्र जन शक्ति का दुरुपयोग मत करो

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्ये ।
तस्येबाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्ने तन्नोन्नशद्यः पितर न वेद ॥

—ऋ० १।१६४।२२

“जिस सारे (कार्य प्रकृति रूपी) वृक्ष पर (इन्द्रियों के भोग रूपी) मधु का पान करने वाले (जीवात्मा रूपी सुन्दर पंखों से युक्त पक्षी) स्थिर होते हैं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। उसके निर्मल फल को लोग स्वादिष्ट कहते हैं तथा वह (विषय भोगों में न लिप्त होने वाला) प्रत्युत इन्द्रियों से काम लेने वाला प्राणी नष्ट नहीं होता। (परन्तु) जो पुरुष सारे जगत् के पालक परमात्मा को नहीं जानता (वही) नष्ट होता है।”

प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीव रूपी पक्षियों को परमात्मा ने ही बैठाया है। तब यह लोकोक्ति कैसे सच्ची हो सकती है कि गृहस्थ पाप का मूल है। जिस गृहस्थ को इस संसार ने विषय भोग का साधन मात्र समझा हुआ है, जिसको ज्ञानी पुरुष नर-कधाम बतलाते हैं, उस गृहस्थ को प्राचीन ऋषि 'तपोभूमि' बतलाया करते थे। गृहस्थ के लिये आज कोई तैयारी आवश्यक नहीं समझी जाती है परन्तु प्राचीन काल में गृहस्थ के लिये कम से कम २४ वर्ष की आयु तक तप किया जाता था। वेद में परमात्मा गृहस्थ को आज्ञा देते हैं:—

गृहा मा विभीत मा वेपध्वम् । (यजु०)

हे गृहस्थ लोगो ! तुम मत डरो, कम्पायमान मत हो। कांपने वाले का गृहस्थ में प्रवेश से क्या काम ? मनु भगवान् कहते हैं:—

स संघार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽघार्यो दुर्बलेन्द्रियः ॥

हे गृहस्थ दम्पति ! यदि तुम अक्षय स्वर्ग (मुक्तिसुख) और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रियों के धारण करने के योग्य नहीं है इस प्रकार के गृहस्थ आश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ।”

मनु तथा अन्य सब ऋषियों ने गृहस्थ करना मनुष्य के लिये आवश्यक बतलाकर पितृऋण से उऋण होने का आदेश दिया है । जो सज्जन गृहस्थ में प्रवेश कर केवल सन्तानोत्पत्ति और उसकी रक्षा के लिये ही इन्द्रियों को काम में लाते हैं, उन्हें संसार वृक्ष पर बैठे हुए उत्तम तथा स्वादिष्ट फल प्राप्त होते हैं । इसीलिये मनु ने गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रम कहा है । शेष सब आश्रमों का यही आश्रय है । यदि गृहस्थ उत्तम सन्तान उत्पन्न करेंगे तो ब्रह्मचर्याश्रमों को योग्य उत्तम, संस्कृत ब्रह्मचारी मिलेंगे । यदि अपने आश्रम में गृहस्थ दम्पति धर्मानुसार जीवन व्यतीत करेंगे तो उत्तम ज्ञानी गुरुकुलों में पढ़ाने और योगाभ्यास द्वारा संन्यासाश्रम में प्रवेश की तैयारी भली प्रकार कर सकेंगे और आयु के चौथे भाग में संन्यासी हो निर्भयता और निष्पक्ष भाव से मानव धर्म का प्रचार कर सकेंगे ।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वे जन्तवः ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वे आश्रमाः ॥

जिस प्रकार वायु के आश्रय से ही सब जीवों का जीवन व्यवहार सिद्ध होता है उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रय से सब आश्रमों का जीवन व्यवहार होता है । इसीलिये मनु जी महाराज कहते हैं:—

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।

जिस प्रकार बड़ी २ नदियाँ और नद समुद्र में पहुँच कर स्थित होते हैं, उसी प्रकार सब आश्रमी गृहस्थ को ही प्राप्त होकर स्थित होते हैं ।

गृहस्थाश्रम पवित्र है क्योंकि यह शुद्ध स्वरूप परमात्मा का निर्माण किया हुआ है। प्रकृतिरूपी वृक्ष पर जीवात्माको परमात्मा ने ही बैठाया है इसे इन्द्रियों द्वारा ज्ञानोपलब्धि और कर्म करनेकी शक्ति भी उसी प्रभु ने प्रदान की है, उस वृक्ष के निर्मल फल भी उसी परमात्मा की कृपा से स्वादिष्ट होते हैं। इस प्रकार सदाचार से गृहस्थ-जीवन व्यतीत करके जो नियमपूर्वक सन्तान उत्पन्न की जाती है, वही निर्मल और जन्मदाता माता-पिता के लिए स्वादिष्ट फल होता है।

नास्तिक और संशयी हृदय परमेश्वर और उसके नियमों का विद्रोही कहता है कि जब दुराचारी और नियम तोड़ने वाला भी सन्तान उत्पन्न कर सकता है, तो फिर परमेश्वर की क्या आवश्यकता है। उत्तर मिलता है, कि जो आस्तिक ईश्वराज्ञा पालन करता हुआ सुन्दर शरीर और इन्द्रिय और आत्मा रखने वाला मनुष्य सन्तान उत्पन्न करता है वह नष्ट नहीं होता, गिरता नहीं, उसकी सन्तान चिरजीवी होती है। उनके कर्मों का फल निर्मल, स्वादिष्ट होता है। जो अधर्मी परमात्मा के नियमों से विमुख हो सन्तान उत्पन्न कर देता है, उसे न स्वयं सन्तान से सुख पहुँचता है और न ही उसकी सन्तान सुखी रहती है। सम्पूर्ण जगत् के पालक परमात्मा को न जानते, न मानते हुए जिसने नियम विरुद्ध कार्य कर प्रकृति के भोगों को भोगना प्रारम्भ किया उसकी दशा उसी पक्षी की तरह है, जो सुन्दर फलदार वृक्ष पर घोंसला बनाकर भी नहीं जानता कि किस ऋतु में फल पकता है और वह किस प्रकार खाया जाता है? इस प्रकार का पक्षी अपक्व फल को खा बीमार हो, कांटों में फँस कर नष्ट हो जाता है।

आकाश में उड़ उच्च शिखर पर पहुँचने के अभिलाषी, हे पक्षीगण! उच्च शिखर पर दृष्टि रखते हुए आकाश मण्डल को पार करते चक्रे जाओ, मार्ग में पीछे फिर कर न देखो क्योंकि उस उच्च ज्योतिस्तम्भ का प्रकाश आँख से ओझल होते ही ऐसे स्थान में गिर जाओगे जहाँ से उठना चिरकाल के लिए कठिन हो जायेगा*

चौथे पद में परम शान्ति है

जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्य ।

गायत्रस्य समिधस्तिस्त्र आहुस्ततो महत्त्वा प्ररिचि महित्वा ॥

—ऋ० १।१६४।२५

‘जे (जगदीश्वर) संसार के साथ समुद्र को और अन्त-रिक्ष में प्रकाश को दृढ़ करता है और सब ओर से देखता है उसे गायत्री की तीन समिधायें कहती हैं। वे बड़े प्रशंसनीय भाव से उन (तीनों समिधाओं) से भी अलग समझा जाता है।

गायत्री यज्ञ की तीन समिधायें ही उस तक पहुँचाने वाली हैं, क्योंकि वे ही उसके स्वरूप का ठीक वर्णन कर सकती हैं। उन्हें कैसे अनुभूत किया जाता है ? अशक्त जीवात्मा जब संसार की ठोकर खाकर चारों ओर से निराश हो व्याकुल अवस्था में तड़फने लगता है और उसका दम घुटने लगता है, उस समय कोई अदृश्य-दैवीय शक्ति उसे ढाढस देती है। गये प्राण बल से अधिक पुष्ट होकर लौटते हैं।

‘भूरिति वै प्राणः’ प्राणों का भी प्राण वही त्रराचर जगत् को धारण करता है। डोंवाँडोल हृदय इस प्रकार ढाढस बाँधकर देखती है कि आश्रय मिलते ही दुःख दूर हो गये।

‘भुवस्तिष्ठानः’ दुःखों से रहित होने के कारण वह प्राणी को अपनी ओर खिंचते ही दुःखरहित कर देता है। स्वरितिव्यानः तब ध्यान के साथ परमेश्वर के समान व्यापक ईश्वर के साथ लग कर जीवात्मा स्थिति को प्राप्न हो जाता है। यही सुख

विशेष की वह अवस्था है, जो सुख स्वरूप के सहवास में मिलती है।

गायत्रीरूपी ज्ञान बताता है कि सारे ब्रह्माण्ड में ज्ञानरूपी यज्ञ ही हो रहा है। उस यज्ञ की पहली समिधा को यज्ञ कुण्ड में प्रवेश करते ही जीवात्मा को स्थिति मिलती है। तब उसे सन्देह रहित होकर उस महती शक्ति के दर्शन करने का अवसर प्राप्त होता है जिसके आश्रय से वह स्वयं दुःखों से अलग हुआ है। वह देखता है—‘सबितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य’ जिस ऐश्वर्यवान् जगदुत्पादक प्रकाशमय का अतिश्रेष्ठ स्वरूप है—‘तद् धीमहि’ उसी शुद्ध स्वरूप को धारण करें। ब्रह्मयज्ञ के ज्ञानमय प्रज्वलित कुण्ड में श्रद्धालु उपासक की ओर से यह दूसरी समिधा की भेंट है। इस भेंट के समर्पित करते ही ज्वाला प्रचण्ड होती है और तब जिज्ञासु के हृदय से शब्द यह निकलते हैं—‘धियो यो नः प्रचोदयात्’ (हम उस शुद्ध स्वरूप के दर्शन कर रहे हैं) जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करता है।

पृथिवी और आकाश दोनों के सम्बन्ध को दृढ़ करने वाला वही है। इसीलिये तो उसके भक्त किसी भी सांसारिक शक्ति से भयभीत नहीं होते। समुद्र की उठती हुई लहरों को देखकर अनजान मनुष्य यही समझ लेता है कि वे मुंह बाये उसको निगल जाने के लिये आ रही है। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष उनके तत्व को जानता हुआ उन्हीं लहरों को अपना दास बना लेता है और उनकी सहायता से सहस्रों मीलों की यात्रा शीघ्र तै करके अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। यदि समुद्र किसी नियम में ग्रथित न होता तो पृथिवी पर फैलकर सब प्राणधारियों को दबा लेता। परन्तु नियन्ता के नियमों से बंधा हुआ, पृथिवी पर दृढ़ होकर उसको बड़ा लाभ पहुँचा रहा है।

जिस प्रकाश पर संसार का जीवन है और जिसके नाना

तत्त्व के सौन्दर्य से आकाश की शोभा है, यदि वह छात्वावे की तरह अस्थिर अवस्था में रहे तो आंखों को चौंधिया दे। जुगनु की चमक बिजली की दमक मनुष्य को चकाचौंध में डालकर कैसा अस्थिर चित्त बना देती है ? परन्तु सूर्य का स्थिर दृढ़ प्रकाश प्राणधारियों को प्राणरूपी जीवन प्रदान करके मोदमान बना देता है।

जिस परमपिता (पालक) ने समुद्र को पृथिवी पर दृढ़ किया और प्रकाश को अन्तरिक्ष में दृढ़ किया उसे गायत्री की तीन समिधा कहती हैं। सूर्यादि प्राणशक्ति डालने वाले और उदानादि मनुष्य शरीर में प्राणों को दृढ़ करने वाले उसी के आश्रय पर काम करते हैं। प्राणों का भी प्राण होने से वह मनुष्यों को दुःख से रहित करके आनन्दमय बनाता है। यह उसके जागृत पाद की क्रीड़ा है। जागृत में स्तुति द्वारा मन, वाणी, कर्म से उसे अनुभव करके पहली समिधा ब्रह्मयज्ञ कुण्ड में छोड़ी जाती है। तब अपनी निर्मलता का ज्ञान होकर दूसरी प्रार्थना रूपी समिधा हाथ में ली जाती है। उस समय उसका दिव्य श्रेष्ठ-स्वरूप उपासक के सामने आता है और श्रद्धापूर्वक वह इस दूसरी समिधा को भी यज्ञकुण्ड में छोड़ देता है। तब उस दिव्य सौन्दर्य से आकर्षित हुआ उपासक अपने उपास्य देव के समीप पहुँचने के लिये आतुर होकर उपासना रूपी तीसरी समिधा को हाथ में ले लेता है और दिव्य चक्षुओं की प्राप्ति की प्रार्थना के साथ उसे भी यज्ञकुण्ड के अपण करता है।

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयत प्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञम् नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षम चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शातं शिबमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।”

—माण्डूक्य उपनिषद्



: ११ :

उत्तम सन्तान उत्पन्न करो

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।

स सुगोपातमो जनः ॥ — ऋ० १ । ८६ । १

‘जिस घर में, विविध पूजनीय कर्मों का कर्ता (सत्य विद्या से) प्रकाशमान् वायु के समान तीक्ष्ण बुद्धि रखने वाला, और रक्षक हो, वहीं पर उत्तम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।

गृहस्थाश्रम का उद्देश्य और आदर्श दोनों का ही जानना अत्यन्तावश्यक है । मनु भगवान् ने सच कहा है कि जैसे सब नदी नाले समुद्र में जाकर स्थित होते हैं । जैसे समुद्र से भाप उठ कर ही बादल बनते हैं । और फिर बरस कर नदी नाले द्वारा उसीमें विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ से उत्पन्न होकर ब्रह्मचारी बनते हैं और फिर ब्रह्मचर्य का तप पूर्ण करके गृहस्थ में ही विलीन हो जाते हैं । तब गृहस्थाश्रम का उद्देश्य क्या है ? सर्वसाधारण इस समय भोग की इच्छा से गृहाश्रम में प्रवेश करते हैं । परन्तु यह उनका आचार अज्ञान में फंसने के कारण बिगड़ गया है । विवाह का उद्देश्य एक स्त्री व एक पुरुष के विशेष नियम से बन्धन का मतलब यह नहीं है कि वह विषय भोग में पड़े रहें । विवाह से नियमों में बंधकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का उद्देश्य वेद में “उत्तम मनुष्यों (सन्तान) को उत्पन्न करना है । इसी वेदाशय को लेकर मनुजी ने कहा :—

‘प्रजाना स्त्रियः स्रष्टा सन्तानार्थं च मानवाः ।’ — मनु

पितृ ऋण से मुक्त होना ही मनुष्य का उद्देश्य है। इसी-
लिये तो 'मानव का कल्याण कैसे हो ? इस प्रश्न पर मर्यादा पु-
षोत्तम रामचन्द्र ने कहा था :-

एहि तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःखदाई ॥
नरतन पाय मन देही ।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहों ॥

निःसन्देह गृहस्थ का प्रथम धर्म उत्तम सन्तान उत्पन्न करना है। सन्तान तो सभी उत्पन्न करते हैं। कामी, रोगी, ता-
मसी सभी के सन्तान उत्पन्न होती है, परन्तु क्या ऐसी सन्तान
को उत्पन्न करने वाला पितृ ऋण से मुक्त हो सकता है ? कदापि
नहीं। गृहस्थाश्रम तप-प्रधान आश्रम है। तपस्वी स्त्री पुरुष ही
उत्तम सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं।

इसलिये वेद मन्त्रों में बताया गया है कि गृहपति कैसा
होना चाहिये ? गृहस्थ में पहला गुण यह होना चाहिये कि वह
वैदिक कर्मों के पालन में कुशल हो। जो व्यक्ति दोनों काल पर-
मेश्वर का परमोत्तम सत्सङ्ग नहीं करता, जो देवयज्ञ द्वारा अपने
गृह को रोग रहित स्थान नहीं बनाता, जो नित्य अपने माननीय
बड़ों का सत्कार तथा उनकी तृप्ति नहीं करता, जो नित्य ऋषि
पूजा अभ्यासी नहीं और जो दीनों के पालन से विमुख है, वह
गृहपति अपने आधीन प्राणधारियों की रक्षा कैसे कर सकता है ?
परन्तु कर्मशील होने के लिये आवश्यक है कि सत्य विद्या से हृदय
प्रकाशमान हो चुका हो। सूर्य के प्रकाश में नीरोग आँखों वाला
मनुष्य ही यथावत् देखकर अपनी क्रिया को शुद्ध रख सकता है।
अन्धे को सूर्य के प्रकाश में भी ठोकरें ही लगती हैं। परन्तु बहुत
से आँखों वाले भी अन्धे ही बने रहते हैं। जो आँखें रखते हुए भी
सूर्य के प्रकाश में आँखें बन्द कर लेते हैं, वा जिन्होंने कुकर्माँ के

द्वारा आँखों की ज्योति को मन्द कर लिया हो, उनके लिये ठीक देखना दुस्तर हो जाता है। जिसने लेट रहना हो उसका शायद बिना सूर्य और बिना आँखों के, कुछ काल तक निर्वाह हो जावे। परन्तु जिसने हिलना-जुलना है, जिसने उससे भी बढ़कर सोच-विचार कर काम करना है, उसका निर्वाह बिना सूर्य के प्रकाश और स्वच्छ उज्वल आँखों के एक क्षण नहीं हो सकता।

जिसके अन्दर धारणवती तीक्ष्ण बुद्धि नहीं जिन्होंने उस तीक्ष्ण धारणवती बुद्धि को वैदिक ज्ञान के अञ्जन से माँजकर स्वच्छ नहीं किया और फिर जिन्होंने अभ्यास द्वारा उस बुद्धि की प्रेरणा और सहायता से कर्म करना नहीं सीखा उनका गृहश्रम प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं है।

जिस गृह का उत्तम रक्षक हो, उसी में सन्तान उत्पन्न होकर निवास कर सकती है। जब इस आदर्श से कोई व्यक्ति या कोई मनुष्य समाज गिर जाता है तभी अकल्याण का आरम्भ होता है। पाठक वृन्द ! क्या तुमने गृहस्थ के होते हुए भी कभी अपनी अवस्था पर विचार किया है ? यदि तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ नहीं, यदि तुम उसे सत्य ज्ञान से स्थिर नहीं कर सके, यदि तुम में इतना शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक बल नहीं कि तुम प्रलोभनों से बच सको और वैदिक पवित्राज्ञाओं का पालन कर सको, तो तुम्हारा क्या अधिकार कि तुम सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कार्य क्षेत्र में प्रवेश कर सको ? क्या अच्छा हो यदि आर्य नाम धारी नर-नारी अन्धे मशालची की तरह दूसरों को मार्ग दिखाने का साहस छोड़कर अपनी बुद्धियों को पवित्र करने में लग जायें और प्रतिज्ञा कर लें कि जब तक 'भूजनीय कर्मों के कर्त्ता न हो लेंगे तब तक सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कार्य में परमेश्वर के प्रति-निधि बनने की धृष्टता भी न करेंगे।

मुक्ति सोपान

: १२ ;

नेता कैसा हो ?

त्वं सोम ऋतुभिः सुकृतुभूर्स्त्वं वर्धः सुदक्षो विश्वेदेवाः ।

त्वं वृषा वृषारवेभिर्महित्वा छुम्नेभिद्युम्न्यभवो नृचक्षः ॥

—ऋ० १।६१।२

“हे सौम्य गुणयुक्त (नेता) आप कर्म वीरों में उत्तम कर्मवीर, बुद्धि निपुणों में भी श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी, सब विद्याओं से विभूषित हो, तभी आप महत्वपूर्ण होने से वर्षणीय उत्तम सुखों की वर्षा करने वाले और कीर्तिमानों में प्रशंसित कीर्ति वाले मनुष्यों के लिये दर्शनीय होते हो। इसलिये इन्हीं गुणों का आप अनुसरण करो।”

संसार नेताओं के पीछे चलता है, एक सत्तात्मक राज्य हो वा प्रजातन्त्रात्मक, बुतपरस्त मजहब या कबरपरस्त, मरदुम-परस्त मत हो वा खुदापरस्त, सब में नेता ही जनता को पीछे चलाते हैं महाभारत में ठीक कहा है—महा जनो येन गतः स पन्था” किस सड़क पर सर्व साधारण बेखटके चल देते हैं? जिस पर बनिये महाजन की बहली निर्भय होकर छनछनाती चली जाती है। संसार नेताओं के पीछे चलता है, चाहे कितनी भी स्वतन्त्रता की तान तोड़ी जाये नेता चाहे संसार को डुबा दें और चाहे तार दें, लोग चलेंगे नेताओं के पीछे ही। तब जन साधारण को बार-बार यह समझाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है कि व्यक्तियों के पीछे, वे न चलें। उनके मन में इस भ्रान को स्थिर करना कठिन है कि कपटी मक्कार नेता उनको डुबा सकता है। जिन्हें लाठी के बिना चलना नहीं आता उन्हें यह

समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है कि कमजोर लाठी टूटकर घायल भी करा सकती है। ऐसी अवस्था में जन साधारण को यह उपदेश देने की अपेक्षा कि वे किसी व्यक्ति विशेष के पीछे ही न चलें क्योंकि उनमें निर्वलताएं हो सकती है, परमात्मा का उपदेश नेताओं के लिये है।

नेता कौन हो सकता है ? वेद उत्तर देता है कि जिनमें नीचे लिखे गुण न हों उसे नेता बनने का साहस न करना चाहिए। प्रथम, नेता में सब सौम्य गुणों का निवास होना चाहिए। जिस का स्वभाव सरल नहीं जो विपत्तियों को प्रसन्नतापूर्वक सहन नहीं कर सकता, जिसे कष्ट उनके उच्चासन से डिगा सकता है, वह नेता होने के योग्य नहीं। आगे उन गुणों की गणना करदी है। लोक संग्रह का कार्य वही कर सकता है जो कर्मवीर हो। अकर्मण्यता के दासों का नेता कुछ भी नहीं कर सकता। नेता का धर्म इतना ही नहीं कि वह कर्मवीर हो किन्तु उसका यह भी कर्तव्य है कि कमहीन पुरुषों को कर्मशील बनावे। तब उसे सब कर्मवीरों से भी आगे चलने वाला होना चाहिए, अर्थात् कर्मवीरों में भी उत्तम कर्मवीर होना चाहिए।

फिर उन कर्मों का प्रयोग बुद्धिपूर्वक होना चाहिए। नेता वह है जो कृष्ण भगवान् के शब्दों में कर्म, सकर्म और विकर्म के भेद को जाने। जैसे मुक्ति अनेक जन्मों के साधनों से सिद्ध होती है, उसी प्रकार नेता भी आयु के बड़े भाग की बुद्धि को स्वच्छता में लगाने से ही अग्रणी बनता है। इस बुद्धि की स्वच्छता के लिये सब विद्याओं के सार का ज्ञाता होना भी नेता के लिये आवश्यक है। विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है और जब आत्मा शुद्ध होता है तभी मनुष्य परोपकार वृत्ति में निमग्न हो कर कर्मफल की आकांक्षा से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान और कर्म को जो मिला देते हैं, जिनके कर्तव्य

उनके मन्तव्यों के अनुकूल हैं और जिनके मन्तव्यों का आश्रय सत्यज्ञान है, उनके अन्दर ही निष्काम भाव की उत्पत्ति होती है। नेता ऊपर उड़ता ही उस समय है जब कर्मफल की आकांक्षा का भाव उनके मन में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। तब उनके द्वारा जनसाधारण पर सुखों की वृष्टि होती है। जब तक मनुष्य के अन्दर सकाम भाव काम करता है तब तक वह संसार को एक सुख पहुँचाने के पश्चात् ठहर जाता है। वह प्रतीक्षा में है कि जनता उसके परोपकार कर्म का आदर करती है या नहीं। बस इसी स्थान में नेता की मौत है। नेता वही सच्चा है जो परोपकार का काम करके थक न जाय। लोकैषणा से मुक्त होकर ही नेता जनता को अपने पीछे चला सकता है, कोई स्तुति करे, कोई निन्दा करे, उसे सेवा करते रहना चाहिए।

यह सत्य है कि नेता को लोकैषणा से मुक्त होना चाहिए परन्तु कीर्ति को वह रोक नहीं सकता। फिर भी कीर्तिमानों से उसकी कीर्ति प्रशंसित होगी, क्योंकि वह कीर्ति के पीछे भागने वाला नहीं। जो लोग कीर्ति के पीछे भागते हैं, कीर्ति उनका त्याग कर देती है। परन्तु जो कीर्ति की परवाह नहीं करते, कीर्ति उनके पीछे भागती फिरती है। यह प्रशंसित कीर्ति ही नेता के काम में सहायक सिद्ध होती है।

संसार के नेताओं को मन, वचन और कर्म द्वारा इस वेदाज्ञा का पाठ करना चाहिए और यदि उनका जीवन तदनुसार नहीं है तो अपने पिछले किये हुए कर्मों के प्रायश्चित्त के लिये एकान्त में बैठ जाना चाहिए। क्या हमारे आर्य नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी की बलिदान शताब्दी मनाते हुए उस वेदमाता के माध्यम से दिये गये उस अमर हुतात्मा के अमर सन्देश पर ध्यान देकर आत्मशुद्धि के लिये अपनी गद्दियों का ग्यामोह छोड़ एकान्त में बैठेंगे ? *

शरण पड़े की लाज

मा मो बक्षस्य हृत्तये विद्योवानस्य रीरषः ।

सा हृत्पानस्य कर्मावे ॥ —शु० २१२१२

“जो अज्ञान से हमारा अन्यादर करे उसे मारने के लिए हम लोगों को, हे जगन्निघन्ता ! कभी प्रेरित मत कीजिये । जो हमारे सामने लज्जित हो रहा हो उस पर क्रोध करने के लिये हम लोगों को कभी प्रवृत्त मत कीजिये ।”

मनुष्य के जीवन में जितने दुःख समाने आते हैं, उनमें से लगभग आधे झूठे आत्मसम्मान के उत्पन्न किए हुए होते हैं । घलते-चलते अज्ञान से किसी का मोढ़ा भिड़ गया हमारी हतक हो गई । अपने विचार में मग्न चलते हुए विद्यार्थी ने नमस्ते न की अध्यापक की मानहानि हो गई । सभा में जाते हुए जज साहब का स्वागत करने के लिए कोई न उठा, उनकी इज्जत में फर्क आ गया । गरीब जाटों की वाणी में बड़े से बड़े आदमी को तू कहने का रिवाज है । एक वकील साहब के पास जाकर पंजाबी जाट मुकदमे वाले ने कहा “तू ते बाबू राजा करण है तेरे क्या परवाह है, गरीबों से थोड़ी फीस ले ले । बाबू साहब की इज्जत में फर्क आ गया । बोले—“मूर्ख क्या बकवास करता है, अदब से बोल ।”

हतक और बेइज्जती से दुःख क्यों होता है ? इसलिये कि हम लोगों ने शरीर को ही आत्मा समझ रक्खा है । शरीर के लिये भी कहीं-कहीं सच्छास्त्र में आत्मा शब्द का प्रयोग मिलता है । आत्मता ही कुल दुःखों का मूल है । जो मनुष्य यह समझता है कि वह मुझे अपमानित करके कष्ट पहुँचा सकता है । उसने मेरे अनित्य शरीर को ही सब कुछ समझ छोड़ा है और मुझे भी निरादर और अपमान से दुःख इसीलिये होता है कि मैं शरीर को अपना अस्तित्व समझता हूँ । दोनों ओर अविद्या ही

दुःख का कारण है। यदि मैं वास्तविक स्वरूप को समझ लूँ। यदि मुझे यह भी निश्चय हो जाय कि मैं आत्मा हूँ और आत्मा नित्य है, तो मनुष्यों के मानसमान कब हिला सकते हैं? मनु भगवान् ने वेद के उपदेशानुसार ही सच्चे ब्राह्मणों को ताकीद की है कि मान से विष की तरह भागे और अपमान को अमृत की तरह ग्रहण करे। यदि मैं अपने स्वरूप को समझ लूँ तो मुझे बेईज्जत करने वाला संसार में कौन उत्पन्न हुआ है। फिर मैं हिंसा रूपी पाप में क्यों दिन रात लिप्त रहा हूँ? जिसे तलवार कतर नहीं सकती, जिसे आग जला नहीं सकती, जिसे पानी गला नहीं सकता, और जिसे हवा सुखा नहीं सकती, मैं उसकी रक्षा के बहाने से उसी का घातक न बनूँ? कवि ने सत्य कहा है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और स्वयं ही वह अपना मित्र है।

जब आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया, तब संसार में शत्रु कहाँ रहा? सब मित्र ही मित्र दिखाई देते हैं। मित्र का धर्म क्या है? विपत्त काल में सहायता करना। जब कोई मनुष्य पाप के पञ्जे में फंसा हुआ विवेक को दबाये रखता है, तब उसको उस बेढब पंजे से छुड़ाने के लिए ताड़ना ही धर्म है। सद्बुद्ध जिस प्रकार फोड़े को नशतर से चीरकर बीमार का उपचार करता है उसी प्रकार धर्मात्मा सज्जन अविद्या ग्रस्त पापी को उभारने के लिये उचित दण्ड रूपी नशतर को प्रयोग में लाता है। परन्तु बिना नशतर चुभोए ही बीमार को अपनी बीमारी का ज्ञान हो जाये, यदि मुझे शारीरिक या मानसिक पीड़ा पहुँचाने वाला स्वयं अपने किये पर पछताये और लज्जा-वश मेरी ही शरण होने को उद्यत हो तब क्या करना चाहिये? परमपिता अपनी पवित्र वाणी द्वारा उपदेश देते हैं कि ऐसे अपने किये हुए पर पछताने वाले मनुष्य के सामने आकर शरण दूँदने पर क्रोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

रावण मर्यादा पुरुषोत्तम राम की साध्वी सती धर्मपत्नी सीता को हर कर ले गया। राम ने लङ्का पर चढ़ाई की। विभीषण ने भाई को समझाया और उसके धर्म नीति के त्यागने पर राम की शरण में चला गया। सुग्रीव के अर्दली उसे पहले से रखकर अपने मालिक के पास गये और सुग्रीव ने रघुकुल तिलक राम तक समाचार पहुँचा कर कहा:—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दशानन भाई ॥
जानि न जाई निसाचर माया। कामरूप केहि कारण आया ॥
भेद हमारा लेन सठ अभा। रखिय बाँध मोहि अस भावा ।

सुग्रीव ने राजनीति की बात कही थी परन्तु हनुमान् राम को बड़ा उच्च पद देते थे। वह ताकने लगे कि राम क्या आज्ञा देते हैं और उनका उत्तर सुनते ही गद्-गद् हो गये।

सुन भु बानि हरष हनुमाना। सरनागत वच्छल भगवाना ॥

राम ने क्या कहा था जिस पर हनुमान के हर्ष से रोमांच हो आये। सुनिये:—

सरनागत कहुँ जे तजहि, निज अनहित अनुमानि ।

ते नर पामर पापमय तिनिहि विलोकनि हानि ॥

कोटि विप्रवध्न लागहि लाहू। जाए शरण तजौ नहि ताहू ॥

भेद लेन पठवा दस सोसा। तबहु न कछु भय हानि कपीसा ॥

जगमहुँ सखा निसावर जेते। लछमनु हनइ निशिष महुँ तेते ॥

जो समीत आवा सरनई। रखिौ ताहि प्राण की नई ॥

धन्य हो मर्यादा पुरुषोत्तम ! धन्य तुम्हारी विशाल उदार नीति। तुम्हीं ने वेदों के पवित्र उपदेश को सार्थक किया है।

वेद के दो उपदेश एक मन्त्र से और दोनों ही एक दूसरे से निराले दीखते हैं। परन्तु इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। संशय के कारण ही मनुष्य अपमान से दुःखी होता है और संशय के कारण ही वह शरण आये पर अत्याचार करता है। संशयात्मा को कुछ भी सुख नहीं हो सकता है। इसलिये परमात्मा से नित्य ही निःशंक होने का वर मांगना चाहिये। *

मुक्ति-सोपान

[भाग २]

: १ :

आत्म दर्शन

दो वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् वकील बड़ा मारके का मुकदमा जीत कर आराम चौकी पर सीधा हुआ है, दस वर्षों के निरन्तर प्रयास के पीछे नीतिज्ञ देशभक्त अपने देश के लिये अभीष्ट अधिकार दिला बधाई के संकड़ों तार प्राप्त करके विश्राम के लिये बैठा है, १५ वर्षों तक अनगिनत सौदों से लाखों कमा साहूकार रोकड़ खाते के जोड़ से शान्ति लाभ करने लगा है। १० वर्षों की लगातार कोशिश से सैनिक बल बढ़ा, बड़ी प्रबल विजय प्राप्त कर के सम्राट् दम लेने को एकान्त में विराजमान है। क्या इनमें से किसी का भी आत्मा संतुष्ट है? साँसारिक विषयों को सन्तोष का साधन समझते हुए जिन्होंने उन्हीं के पीछे अपनी सारी शक्तियों को लगा दिया, अभीष्ट विषय की प्राप्ति पर उन्होंने भी अपने आपको असन्तोष की ज्वाला में अधिक जलते हुए पाया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्भ्यात् ।

हृविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते । मनु ॥

विषय भोग की इच्छा विषय भोग से शान्त नहीं होती । जैसे घृत के डालने से अग्नि अधिक ही प्रज्वलित होती है इसी प्रकार विषय भोग से विषय वासना अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है । भूमिहार भूमि के, कृपण घन के, चटोरा स्वादिष्ट भोजन के, यशकामी यश के पीछे इसलिये नहीं भागते कि इन वस्तुओं को अपना परमोद्देश्य समझते हैं प्रत्युन् इसलिये कि जिस अनिर्वचनीय अवस्था को वे प्राप्त होना चाहते हैं, उसका साधन उन्हीं को समझते हैं । शान्त अन्दर वाले को करना है इसलिये बाहर की जो भी वस्तु प्यारी है वह इसलिये है कि उससे (अविद्यावश अन्दर की शान्ति की सम्भावना हो रही है । परन्तु जब दड़े यत्नों के पश्चात् भी अन्दर बाला शान्त नहीं होता, तब जिज्ञासु का कष्ट और भी बढ़ जाता है और वह उसकी दृढ़ में लगता है जिससे मिले बिना शान्ति नहीं होसकती ।

यत्न व्यर्थ है जब तक कि लक्ष्य का पता न लगे । दुःख क्यों है ? इसलिए नहीं कि बाहर से अन्य भूत प्राणी आक्रमण करते हैं वा देवी शक्तियाँ अर्ध्नी शीतोष्णादि द्वारा सताती है प्रत्युन् इसलिये कि जीवात्मा स्वयं उनमें दुःख मानता है । यहाँ तक कि अन्दर से उठकर जो शारीरिक और मानसिक रोग मनुष्य को सताते से दिखाई देते हैं वह भी जीवात्मा की अपनी उत्पन्न की हुई घटना है । आधिभौतिक, आधिदैविक, अध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःख मनुष्य उत्पन्न कर लेता है । अन्य प्राणियों से दुःख किसको होता है ? जिसका चित्त विक्षिप्त और अशान्त हो । बसन्त ऋतु में भ्रमण रूपी पथ्य को साधन के लिये बाबूजी ब्राह्ममुहूर्त में ही छतरी हाथ में लेकर बाहर निकलते हैं । अभी ५ पग चलते हैं कि सड़क में पड़ा कुत्ता आहट ~~प्राकर~~ सिर उठाता और धीमे शब्द से अपना परिचय देता है । बाबूजी भीरु हैं डर कर पैर तेज उठाते और छतरी कुत्ते की

ओर लपक कर चलते हैं। कुत्ता शेर हो जाता है, भौंकता २ उनके पीछे दौड़ता है। बाबूजी भाग निकलते हैं और कुत्ता उनकी टाँगें लेने को ही है कि पहले वाला एक डाट से कुत्ते को भगा देता है। दूसरी ओर क्षत्रिय वीर जङ्गल में जाता हुआ शेर को अकस्मात् सामने देख निहत्था औसान नहीं छोड़ता और पगड़ी के सिरे में पत्थर बाँधकर धुमाता और ऐसा चक्कर बाँध लेता है कि शेर डर कर स्वयं भाग जाता है। अनुभवी पुरुषों ने परीक्षा करके देखा है कि जहाँ अपने आपको रोगी मानने वाला भला चङ्गा मनुष्य रोग में ग्रस्त हो जाता है वहाँ मानसिक बल को उपयोग में लाकर अम्यासी पुरुष साधारण जुकाम ज्वरादि तो क्या बड़े विकट रोगोंको भी दूर भगा देते हैं।

तब दुःख का कारण बाहर नहीं है उसको अन्दर ही ढूँढना चाहिए। परन्तु जनता उलटे रास्ते चल रही है। जो विषयी पुरुष बाह्य विषयों के भोग से ही दुःख की निवृत्ति मानते हैं उनकी दुर्दशा का ध्यान छोड़ कर यदि ऐसे पुरुषों की ओर दृष्टि डालें जो विषयों से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं तब भी दृश्य दुःखदायी ही दिखाई देता है। जल स्थल मूर्त्यादि में दुःख निवृत्ति की औषध ढूँढने में जो नर-नारी लगे हुए हैं उन्हें अन्त को कबीर के शब्दों में कहना पड़ा :—

‘चलते चलते कमर पिरानो, बात न पूँछी पत्थर पानी ॥’

आये साल कितने स्त्री-पुरुष बंदी, केदार, द्वारिका, जगन्नाथ, काशी, अमरनाथ जाते और वहाँ से अधिक दुःख सह कर लौट आते हैं। मुसलमान जगत् से कितने प्रत्येक वर्ष मक्का और मदीना की ‘जियारत’ को जाते और जङ्गली बद्दुओं से लुटकर घर लौटते हैं। प्रश्न है कि इन सबकी दशा को देखते हुए फिर भी नर-नारी क्यों पूनः उसी मार्ग में चल देते हैं ?

यह प्रश्न बड़ा गम्भीर और इसका उत्तर भी कठिन

प्रतीत होता है। परन्तु जिन्होंने अपनी जान पर खेल कर दूँड़ा है उनके लिये इसका उत्तर हाथ बाँधे खड़ा है। इस समय बड़े पुरुषों के जीवन चरित्र जिस शैली पर लिखे जाते हैं उससे जहाँ कुछ लाभ होता है वहाँ हानियाँ भी बड़ी होती हैं। उन बड़े आदमियों के महान् चरित्र जहाँ पाठकों को अपनी ओर खींचते हैं वहाँ उनकी निबलतायें पाठकों की अपनी गिरावट के समय शान्तिदायक बहाना बन जाती हैं। प्राचीन आर्यावर्त के जीवन लिखने की शैली कुछ विचित्र ही थी। प्राचीन मन्त्र-द्रष्टा ऋषि जानते थे कि सूक्ष्म से स्थूल में जाकर मन डाँवाडोल हो जाता है। वे जानते थे कि प्रमाद मनुष्यों को आदर्श तक पहुँचने की कठिनाइयों का सामना नहीं करने देता और इसलिये तप का जीवन छोड़ने के लिये बहाना दूँढ़ते रहते हैं, इसलिये न तो वे दूसरे महात्माओं के जीवन चरित्र लिखते और ना ही अपना जीवन वृत्तान्त लिख कर हम गिरे हुए अभिमानियों की तरह संसार को उलटे मार्ग पर डालने का प्रयत्न करते, वे अपने जीवन के अनुभव का सार जनता के आगे रख जाते थे और ऐसा जीवन चरित्र पढ़ कर फेंक देने के योग्य न होता था। विविध भाषाओं में गत एक शताब्दी के अन्दर ही कितने लाख जीवन चरित्र छप कर मुद्रित हुए। उनमें से कितने हैं जिनको दूसरी बार पढ़ने का किसी ने साहस किया? थोड़े ही होंगे जिन्हें एक भी काम के आदमी ने दूसरी बार पढ़ा हो, परन्तु महर्षि पतञ्जलि का लिखा हुआ जीवन सार बद्धिमान् जिज्ञासु बार-बार पढ़ते हैं और जितना ऊपर उठते जाते हैं उसके साथ उनका प्रेम अधिक-अधिक बढ़ता जाता है।

पतञ्जलि का जन्म कब और कहाँ हुआ? उनके माता पिता की योग्यता क्या थी? कुमारावस्था में वह किन व्यसनों में फँसे और कैसे उनकी मृत्यु हुई? ये प्रश्न और इनके उत्तर

योगदर्शन की उपस्थिति में किसी विचारशील सज्जन को अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। महर्षि पतञ्जलि का जीवन वृत्तान्त उनके योग दर्शन के अन्दर गठित है और इस प्रकार के एक भी जीवन वृत्तान्त का वारतदिक पाठ करने से मनुष्य अमर हो जाता है।

'ऋषि जीवन से शिक्षा'—ग्रहण करना साधारण मनुष्यों का काम नहीं, परन्तु गिरे से गिरे पुष्प को भी उससे आश्रय अवश्य मिलता है। तीनों प्रकार के तापों से पीड़ित मनुष्य जिन विषयों में सुख मानकर उनकी ओर दौड़ता है, उनमें परिणाम में दुःख देखकर जिज्ञासा छोड़ प्राणी निराश हो जाता है। नास्तिकपन के गढ़े में गिरने का यही भयानक समय हुआ करता है। विछुड़े हुए से मिलाप के लिये भागता है। परन्तु वहाँ अधिक दुःख होता है तब समझ लेता है कि विछुड़े हुए का ख्याल भी एक छलावा है। प्रत्येक दौड़ में मृगतृष्णा का ही अनुभव कर उसे भ्रम हो जाता है कि जल का स्रोत कहीं है ही नहीं। ऐसे विकट समय में जब सब शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं, जब प्यासा जल के अस्तित्व से ही अविश्वासी हो अपने सारे यत्नों को छोड़ बैठता है, उस समय ऋषि का गम्भीर आशाजनक नाद उसे आत्मघात से रोकता है। ऋषि हृदय भेदक शब्दों में कहते हैं—

'अथ योगानुशासनम्'—प्यारे जिज्ञासु निराश मत हो क्यों कि मैं 'अब योग शास्त्र का आरम्भ करता हूँ' बारम्बार निराश होते हुए भी जो तुझे कोई प्रबल शक्ति फिर आनन्द की तलाश में घुमाती है क्या यह छलावा है? यदि शान्ति घाम कहीं न होता तो गिर कर बारम्बार तू न उठता। यदि प्रकाश का सागर कहीं न होता तो तेरे अन्दर प्रकाश की बिजली, अन्धकारमय समय में न चमक उठती। प्यारा, अन्दर था, तूने उसकी बाहर तलाश की, इतनी ही कसर थी। मैंने उसको देखा है, मैंने अमृत

के स्रोत में स्नान किया है, चल तुझे भी उसकी ओर ले चलूँ । परन्तु मिलाप सुगम भी नहीं । तूने उसे साधारण मार्ग समझा, परन्तु वह विशेष मार्ग है । साधारण सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये जहाँ मार्ग है और उसकी विद्या है, जिसके द्वारा ही उस मार्ग पर चल सकते हैं उसी प्रकार इस महान् उद्देश्य तक पहुँचने के लिये विशेष मार्ग है और उस मार्ग में चलने की विद्या भी विशेष है ।

“युञ्ज समाधौ” योग समाधि को कहते हैं ।

सम्यक् प्रकार ध्यान करने से ही लक्ष्य के साथ जुड़ सकते हैं । वह न शरीर का विषय है और न इन्द्रियों का यदि ऐसा होता तो बाहर भटकते हुए अशान्ति क्यों रहती ?

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरः आत्मा महान्परः ॥’

बुद्धि से भी जो अन्तरात्मा परे है उसका ग्रहण चेतनात्मा ही कर सकता है । योग में अभिधेय मुक्ति-सागर परमात्मा है । प्रयोजन मुक्ति की प्राप्ति है । और उस योग अर्थात् मुक्ति और उसका मार्ग यह सम्बन्ध है । योग शास्त्र उस सम्बन्ध को बतलाता हुआ मार्ग को भली भाँति दिखलाता है । महर्षि पताञ्जलि उसी मार्ग के लिये इस योग शास्त्र का उपदेश करते हैं ।

योग क्या है ? यद्यपि इसका निर्देश कर चुके हैं:—तथापि मार्ग का वर्णन करने से पहले इसका स्वरूप कहते हैं:—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग कहाता है ।

‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः’ ।

मन और चित्त कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्द ही हैं । मन जब बहिर्मुख होता है और इन्द्रियों द्वारा, विषयों में फँस कर बुद्धि

और यहाँ तक कि, जीवात्मा को भी बाहिर खींच लेता है तब शान्ति-सरोवर आदित्य स्वरूप से, आत्मा का बिछोड़ा हो जाता है। तब क्या सन्देह है कि जब चित्त के बहिर्मुख होने से क्लेशों में फंसावट हुई थी तो उसी के अन्तर्मुख होने से जहाँ फंसावट दूर होगी वहाँ अन्तरात्माको प्रकाश स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। मनुष्य के जागृत का बोधक 'क्षिप्तावस्था' है। संसार में जीवन का चिन्ह तभी समझा जाता है जब कि उस दीपक की तरह जिसे वायु स्पर्श करता है, मनुष्य का चित्त चंचल रहता है। इसीका परिणाम मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाएँ हैं। जब काम-क्रोधदि के वश में होकर मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है तब उसे मूढ़ावस्था प्राप्त होती है। वहाँ तक प्रधान होता है। उससे व्याकुल रज और सत् का आश्रय विक्षिप्तावस्था प्राप्त करने का यत्न करता है जिस में कुछ सुख का भान होता है। परन्तु सुख के साथ दुःख द्वन्द्व में फंसा कर फिर घबरा देता है, तब मन को एकाग्रवस्था में ले जाकर चित्त को निरुद्धावस्था में टिकाता है। उस निरुद्धावस्था का फल होता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

उस आत्म-दर्शन से ही बिछुड़े के साथ मिलाप होगा।
जिज्ञासु ! उसी के साधनों में लग जाने में कल्याण है।

तुम कहाँ हो ?

कैसा हृदयबेधक विलाप है ! चञ्चल मन को चुप कराने के लिये बहुत से साधन सोचे । नाच रङ्ग की सभा में फंसकर वहाँ की घमा चौकड़ी के शोर में मन बहलाने की कोशिश की, परन्तु कुछ काल के पश्चात् दिल में एक दर्द उठा और दर्दनाक आवाज फिर उठी—

हृदयेश्वर ! तुम कहाँ हो ?

इस चिमटी हुई योगिनी से छुटकारा पाने के लिये, इस चिन्ता से मुक्त होने के लिये, इस गम को गला सिद्ध करने के लिये, चरस का दम लगाया, भङ्ग का लोटा चढ़ाया, शराब की बोतलें ढुलाईं फिर भी उन्मत्त हृदय से वही मर्मभेदक शब्द निकले—

प्राणपति ! तुम कहाँ हो ?

शरीर शिथिल होगया, इन्द्रियों की ज्योति मन्द पड़ गई । अब न तो नाच-रङ्ग ही आनन्द देने हैं और ना ही मद्य की आग का सहन हो सकता है । मौत का चित्र सामने खींचकर डाक्टर सब व्यसन छुड़वा देता है । चतुर्थ अवस्था शीघ्र आ पहुँची, जत्रानी में ही बुढ़ापे ने आ घेरा, तब दर्शन शास्त्र (फिलासोफी) की शरण ली गई । कोई सृष्टिकर्ता नहीं, सब आप ही बना और आप ही स्थित है, यह तो सदा से ऐसा ही चला आया है । कर्मफल वस्त्रों का खेल है । कर्म आप से आप फल देता होगा, नियन्ता कोई नहीं । दूसरों को समझाने में फिलासफी ने खूब काम दिया, परन्तु जब अपने अन्दर वाले के समझाने का समय आया तो फिर वही शब्द निकले—

‘जगत् के निर्माता तुम कहाँ हो ?’

इन्कार किसी से बन न आया तिरा ।

चारों ओर भटकने से निराश होकर जब बाहर भटकना बन्द कर दिया ‘अन्दर के पट तब खुले जब बाहर के पट देखे’

—अन्दर के पट खुल गये, पहली वृद्ध गई। कष्ट क्या हुआ ? क्लेशों ने क्यों सताया ? इसलिये कि आनन्द को ढूँढा जहाँ वह नहीं था। अब दृश्य ही बदल गया।

तुम कहाँ नहीं हो ? आँखें अच्छे रूप के लिये व्याकुल हो रही हैं। उस रूप की ढूँढ में काँटों में घसीटे गये, गढ़ों में ठोकर खाकर गिरे, शरीर छलनी हो गया, कोई स्थान बिना घाव के न बचा। बड़ी मुसीबत झेलकर अभीष्ट रूप के सामने पहुँचे और उमके प्रकाश में आँखों को सेंक उसके भोग की तैयारी की, तब सौन्दर्य के भण्डार का ही स्वरूप उसमें भी देखा। स्त्री व पुरुष के सौन्दर्य का स्रोत-बहाने वाली जगज्जननी के दर्शन हुए। आँख खुल गई। हाड़ माँस और चर्म में सौन्दर्य कहाँ? यदि इन चीजों में सौन्दर्य होता तो चिरस्थायी होना चाहिये। इस सारे खेल के अन्दर और बाहर जगदम्बा का ही सौन्दर्य है। अब आँख का भाव बदल गया। जिस रूपवती पर पाप की दृष्टि डालने आया था उसके अन्दर माता के एकरस, न बदलने वाले सौन्दर्य को देख उसके आगे पूजा भाव से शिर झुक गया और अन्तःकरण से अनायास ही यह शब्द निकले—

जगज्जननी ! तुम कहाँ नहीं हो ?

कान शब्द में, जिह्वा रस में, नासिका गन्ध में, त्वचा स्पर्श में—एक-एक इन्द्रिय अपने २ विषय में खींच कर ले गई। परन्तु उसे कोई स्थान खाली न पाया। जिस हाथ से चोरी का माल उठाते की चेष्टा हुई है, उसमें वह है। जिस वस्तु की चुराने

की चेष्टा हुई है उसमें वह व्यापक है। कहां चोरी करें ? कहां विषय भोग करें ? कहां कुचेष्टा करें ? कौन सा स्थान है जहां नियन्ता नहीं है ? आनन्द तभी तक है जब तक कि सुन्दर विषय का भोग नहीं किया ? विषय भोगते ही जहां विषय का भयानक रूप बन जाता है वहाँ आनन्द महाकष्ट में बदल जाता है।

तुम कहां नहीं हो ?

पापी को यह मर्म भेदक शब्द कम्पायमान कर रहे थे परन्तु जब कोई स्थान उससे खाली नहीं, यह निश्चय हो गया और जब सारा सौन्दर्य उसी के अन्दर स्थित प्रतीत हुआ तब वे ही शब्द गिरे हुए आत्मा का भी सहारा बन जाते हैं।

जङ्गल में भूला यात्री भटक रहा है। ज्येष्ठ का अन्त है। कुत्तों ने भी जीभें बाहर निकाल दी हैं, चलते २ प्यास के मारे व्याकुल हो रहा है। बेहोश हो मैदान में गिर पड़ता है। आँख बन्द और प्यासा, मुँह खुला हुआ है। अन्धेरा छा जाता है, वायु का वेग वृक्षों को जड़ से हिला देता है, पानी एक दम बरसने लगता है और शुष्क जिह्वा तर हो जाती है। यात्री शान्त होकर उठ बैठता है, उसके अन्तरात्मा से यह शब्द निकलते हैं—

शान्ति के भण्डार ! तुम कहां नहीं हो ?

भगवान ! यदि हम, भूने हुए तुम्हारे पुत्र, तुमको अपने अन्दर और बाहर प्रत्येक समय में उपस्थित जाना करें तो फिर हमें क्या किसी अन्य शिक्षा की आवश्यकता है ? पर्वत के शिखर पर हिम की शोभा तुम्हारी शोभा को ही दर्शाती है, हरे २ वृक्षों और वनस्पतियों की तरावट तुम्हारा ही दर्शन कराती है।

उन्नत कामी पुष्प को एक देवी के पीछे भागते हुए एक सज्जन ने देखा, देवी की रक्षा के लिये सज्जन भी अग्रसर हुआ। समीप पहुँच कर आश्चर्य का दृश्य देखा। देवी लौट कर निडर चक्षुओं से दुष्ट को देख रही है और दुष्ट आँखों पर हाथ रच कर

मुक्ति-साधन

(५६)

कहाँ
है जहाँ
विषय
यानक

रो रहा है—“माता जी क्षमा करो, माता जी क्षमा करो।” सज्जन इस दृश्य को देखें विमोहित हो खड़ा रह गया और उसके अन्दर से फिर वही प्राणदायक शब्द निकले ‘जननी तुम कहां नहीं हो?’ निस्सन्देह कोई भी परमाणु, कोई भी भाव तुमसे खाली नहीं है, तब इस पवित्र भाव के उत्पन्न करने को तुम्हारे बिना किससे याचना करूँ ‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः’।

ये
गया
ही

: ३ :

कर्म-फल कौन बाँटेगा ?

भीलों से पाला हुआ बाल्मीक चोर डाकू बन गया था। अपने सारे परिवार का पालन डाका मार कर ही करता रहा। एक दिन एक ऋषि के घौती लोटे पर हाथ मारना चाहा। ऋषि ने पूछा ऐसा काम क्यों करते हो ? डाकू ने उत्तर दिया कि उसके पास परिवार पालन को कोई अन्य साधन नहीं। ऋषि ने पूछा—क्या इस पाप के फल को तेरे पारिवारिक सम्बन्धी बाँट लेंगे, घर वालों से पूछ आ, तेरे लौटने तक हम यहीं रहेंगे। डाकू ने स्त्री, पुत्रवधू, पुत्री—सबसे प्रश्न किया, उत्तर में सबने यही कहा कि पाप का फल बाँटने को कोई भी तैयार नहीं। डाकू लौटकर ऋषि के चरणों पर गिर पड़ा। ऋषि ने स्वच्छ अन्तःकरणसे डाकूको आत्मोपदेश दिया और वही डाकू तप के प्रभाव से ऋषि और तत्वज्ञानी बाल्मीकि कवि बन गया।

एकः प्रजायते जन्तुः एक एव प्रलीयते ।

एको नुं भुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होकर अकेला ही मर जाता है।
और अपने ही शुभ कर्मों का फल प्राप्त करता तथा दुष्कर्मों का

दण्ड भोगता है। क्या इसमें कोई हिस्सा ले सकता है ? माता के लिये, पत्नी के लिये, सन्तान के लिये क्या कुछ कुकर्म नहीं किये जाते ? परन्तु जब दुष्कर्मों के फल के भोग का समय आता है, तो क्या कोई साथ होता है ? परिस्थिति भिन्न होने पर भी अवस्था भेद नहीं होता। जब स्वार्थपरायणता (परिवार भक्ति) का समय था तब घर वालों के लिये पाप कमाये गये, अब देश भक्ति (परोपकार) का समय है तो देश के लिये क्यों न पाप कमाये जायें ? क्या देश भक्ति से पाप का कुछ सम्बन्ध है ? तो पाप और देश हित का सम्बन्ध ही क्या ?

काबुल की लाम में लाखों के वारे न्यारे किये। छोटों से लेकर बड़े-बड़े अफसरों तक को सैकड़ों और हजारों रिश्वत में दिये, दोस्तों की दावतों में हजारों खर्च कर दिये, शराबों के कण्टर के कण्टर बहा दिये, पत्नी-लड़कों सम्बन्धियों के लिये बड़े बड़े प्रासाद खड़े कर दिये, ब्याह शादियों पर रण्डियों, भड्डुओं की भेंट भी सहस्रों किये, परन्तु जब ऊपर से पकड़ हुई, गवर्नमेण्ट ने खोज आरम्भ की और 'ताजी रात-ए हिन्द' की दफा ठुक गई, उस समय न बड़े-बड़े अफसर ही दुःख बंटाने को खड़े हुए और नहीं पत्नी बच्चे सहारा दे सके। जेलघर में सीधे बड़े कमसरियट एजेण्ट महाशय को ही जाना पड़ा। कम्पनी बना कर लाखों लुटा जो सम्बन्धियों और सुधारक संस्थाओं में तुमने लुटा दिये—क्या उन सम्बन्धी और उन संस्थाओं के चात्रको ने तुम्हें आत्मघात से बचा लिया ? दुनियाँ की आँखों में धूल झाँक कर यदि बच भी गये तो सब कर्मों के देखने वाले नियन्ता से बचकर कहाँ जाओगे। उसकी दृष्टि अँधेरी से अँधेरी गुप्त कोठरी से भी तुम्हें ढूँढ़ निकालेगी।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'
किये कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। कटौती का कोई

काम नहीं बुरे का बुरा और अच्छे का अच्छा भल भोगना ही पड़ेगा । × ×

हमें कुछ मत कहो, जो कुछ हम करते हैं केवल परोपकार के लिये । देखो ! परोपकारी पुरुष इतना बड़ा कालिज चला रहे हैं, लाखों रुपयों की जरूरत है । प्राचीन ब्रह्मचर्य प्रथा को पुनर्जीवित करने के लिये गुरुकुल खोल दिया है, करोड़ से कम में यह क्या चलेगा ? अगर इस तरफ न देखें तो कौन सहायता देगा ? माना कि खोतामल का मुर्झाया हुआ मुकदमा हारकर के हमने १० हजार की डिग्री दे दी, लेकिन कालिज को भी १०००) का दान तभी मिला । यह माना कि शराबी कबाबी अकेदार की अनुचित प्रशंसा की, लेकिन उससे १५००) नकद भी तो गुरुकुल के लिये गिनवा लिये । हे भूले भाइयो ! जब आन्तरिक चोट लगने पर तुम्हारा अन्तरात्मा जागेगा और अनुताप की अग्नि तुम्हें जलायेगी, तो क्या इन संस्थाओं के संचालक तुम्हारे दुःख को बांट लेंगे ?

× × ×

धर्म की रक्षा के लिये, अघर्मियों के पराजय के लिये झूठ बोलते हैं, मक्कारी करते हैं, छलछिद्र से भी सहायता लेते हैं, परन्तु कार्य कितना महान् है ? भोले भाइयो ? यदि कभी अपनी अवस्था पर तुम विचार करते और 'सत्य' के शुद्ध स्वरूप को देख सकते तो तुम्हें मालूम हो जाता कि 'सत्य स्वरूप' की सृष्टि में असत्य का राज्य लाना सर्वथा असम्भव है । अघर्म का एक पैसा भी जिस शुभ कार्य में पड़े, उसमें गड़बड़ मच जाती है । सम्पूर्ण श्रेष्ठ कामों का आश्रय 'सत्यस्वरूप' ही है । इसीलिये उसी की शरण ले और उसी पर श्रद्धा रख सब काम सफल हो सकते हैं ।

“ब्रह्म के गुणों का गान करो”

शीतल जल, मन्द २ सुगन्धित पवन, शरीर को आरोग्य रखने के लिये हमें किसने प्रदान किये ? हरियाली की अद्वितीय शोभा से हमारी आंखों को तरावट किसने दी ? बुरे कार्य में प्रवृत्त होते हुए हमें भय, शङ्का, लज्जा द्वारा नरक कुण्ड में गिरने से कौन बचाता है ? उत्तम शिक्षा और पवित्र ज्ञान के भण्डार 'वेद' का हमारे लिये कौन प्रकाश करता है ? वही परब्रह्म परमात्मा जो चक्षुओं का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन और बात्मा का भी बात्मा है। उसी से हम सब कल्याण मार्ग का ज्ञान पाते हैं। ऐसे पिता, ऐसे पालक और रक्षक को भूलना कैसा महा पाप है, उसकी आज्ञा-पालन से मुँह मोड़ना कैसी भारी अविद्या है ? उसी परमात्मा का स्मरण कसे, उसी के गुणों का गान करो जिसने उत्कृष्ट विद्याओं के भण्डार 'वेद' को तुम्हारे लिये खोल दिया है।

: ४ :

सत्सङ्ग बड़ा उद्धारक है

हाय, कुसङ्ग ने सर्वनाश कर दिया। कैसे हृदयभेदक शब्द हैं। नगर २ ग्राम २ से यही ध्वनि उठ आकाश-मण्डल में गूँज रही है। स्वच्छ हृदय बालक माता की गोद को छोड़, हम-जोलियों में जब प्रथम बार प्रवेश करता है तब माता पिता की उस पर कैसी आशाएँ बँधती हैं। उसके शरीर की चमक और चेहरे की दमक उनको आह्लादमय बना देती है। शनैःशनैः बालक का मुख और उसके अङ्ग मलिन होने लगते हैं। विचित्र बातें करने लगता है और उसके कर्म विस्मयोत्पादक हो जाते हैं। माता पिता की आँखें उस समय खुलती हैं जब राजरोग में ग्रस्त हो जाता है। माता विलाप करने लगती है और पिता के मुख

से अनायास निकलता है 'अथ दुर्जुनसंसर्गं परिर्ध्यासि पतिष्यसि' पतित युवक व्याकुल हो जाता है; उसकी आंखें भी खुलती हैं और पीड़ा से व्याकुल युवक घाड़ मारकर रोता है और कहता है। 'हाय, कुसंग ने सर्वनाश कर दिया।' उसे कुसंग से घृणा हो जाती है और तब भगवान् की ओर ध्यान जाता है। लुन्घों, बदमाशों की संगत में जिस प्रकार मखौल उड़ाये जाते थे आज उसी प्रकार ज्योतिस्तम्भ की ओर टिकटिकी लग रही है। यदि पहिले ही उसका आश्रय लेता तो यह दुःखमय दिन देखना क्यों नसीब होता ?

दुःख में तो सब कोई भजे, सुख में भजे न कोय।

एकबार सुख में भजे, तो दुःख काहे को होय ॥

अब तो उसी से लौ लग गई है। युवक का आत्मा उच्च सिंहर के केन्द्र में जुड़ गया है। जब तक आत्मा उधर लगा रहा तब तक दुःख भूला रहा, परन्तु उधर से दृष्टि हटते ही दुःख की तरंगों ने आ घेरा। यह लहरें भयानक हैं, इनसे किसी तरह पार हो जाऊँ यही युवक विचार रहा है। परन्तु कहाँ चले ? जिसमें दृष्टिपात मात्र से दुःख भूल जाता है उस शान्तिधाम के पास पहुँचने से कौसी सान्त्वना प्राप्त होगी ? किन्तु यहाँ कैसे पहुँचा जाये ?

'त्रिपादूर्ध्वं उदंत पुरुषः'

वह तो बहुत ऊँचा है 'चित्त चाहत है उड़ जाय मिलों, पै उड़ो नहिं जात बिना पर सों' पर कहाँ हैं जिनके आश्रय उड़कर जा मिलूँ। न जप किया, न तप किया, न यम नियम का पालन किया। कोई भी तो आश्रय नहीं जो ऊपर ले जा सके। इस दुर्गम मार्ग में कैसे निर्वाह होगा ? नीचे वही पुरानी कुसंगत वही पाप की भट्टी दहक रही है और ऊपर शान्तिधाम इतनी दूर ! निर्बल गिरा हुआ प्राणी कहाँ जाये ? शान्तिधाम

की ऊँचाई देख व्याकुल युवक फिर से उसी भट्टी में गिरने लगता है। दृश्य कैसा भयङ्कर है !

+ + +

युवक अचेत हो गया। पाप की जलती हुई भट्टी में गिरने ही को था कि मधुर स्वर में श्लोक सुनाई दिया।

असार संसार पयोद्धिमध्ये निमज्जता सद्भिर्बुद्धारवृत्तः।

महात्मभिः संगतिरेव साध्या नान्यस्तदुत्तारविद्यावुपायः ॥

आँखें खुल गईं। आगे एक दिव्य मूर्ति दिखाई दी। बाल सारे सफेद हैं, अस्सी वर्ष से कम आयु नहीं, परन्तु चेहरे पर एक भी झुर्री नहीं, शरीर रक्तमय लाल है परन्तु मुख से शान्ति का स्रोत बह रहा है। बाँह बढ़ाकर भट्टी में गिरने से युवक को बचा लेते हैं—“पुत्र ! शान्ति स्वरूप के राज्य में तू क्यों व्याकुल है ? अमृत के स्रोत की सृष्टि में क्यों मृत्यु की भट्टी में जा रहा है ?” युवक उस दिव्य मूर्ति के पीछे हो जाता है और आनन्द भवन में पहुँच कर सन्तों का सहवास करता है। दूसरे ही दिन आश्चर्य से देखता है कि जहाँ वह कुसङ्ग में दिनों दिन नीचे गिर रहा था वहाँ सत्सङ्ग के प्रभाव से अब बिना पर के ही ऊपर उठ रहा है। आज से कल उन्नति पर और कल से परसों अधिकाधिक उन्नति की ओर। चित्र ही बदल चला है। ठीक है—

शठ सुघरार्ह सत् संगत पाई ।

पारस परसि कुधातु सुहाई ॥

+ + +

सत्सङ्ग की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ! इसके बिना ब्रह्म प्राप्ति का कोई साधन नहीं। संसार रूपी भवसागर से पार उतरने के लिये सत्सङ्ग नौका के समान है। सत्सङ्ग के बिना विवेक नहीं होता और बिना विवेक के मनुष्य पापों और

व्यसनों से बच नहीं सकता। माता विदुषी हो तो पहला उत्तम सत्संग होता है, जो बहुत से गुणों का बीज बालक के हृदय में बो देती है। फिर सदाचारी पिता का सत्संग बालक के अन्दर शुभ आचार का पौदा उगाता है, जिसकी श्रेष्ठ आचार्य मिलने से पूर्ण रक्षा होती है। भाग्यशील हैं वे युवक जिन्हें प्रेममयी माता की गोद का सहवास मिला, जिन्हें धर्मात्मा सदाचारी पिता से सहायता मिली और जिन्हें सावित्री के गर्भ में प्रवेश कराके निःस्वार्थ तत्व ज्ञानी आचार्य ने दूसरा जन्म दिया।

+

+

+

परन्तु यह सौभाग्य इस समय थोड़े ही पुरुषों को प्राप्त है। संसार रूपी सागर में बहते हुआ का सत्संग के सिवाय और कोई सहारा नहीं।

आज से ४० वर्ष पहले सत्संग सभाओं का कुछ पता नहीं लगता। वह विज्ञापनों का युग न था। इसीलिये जिज्ञासु को प्रलोभनों से बचकर सत्संग करने के योग्य सज्जनों की तलाश करनी पड़ती थी। इस तलाश में जितना कष्ट होता था उतना ही फल भी स्वादिष्ट और सुदिव्य होता था। आज सत्संग बड़ा सुलभ है। बड़े २० नगरों में तो शाम को सैर करने जाते हुए बीसियों सभाओं के नोटिस मिलते हैं। युवक इच्छानुकूल जिसमें चाहें चले जाते हैं। आजकल सत्सङ्ग सुलभ है। जितना ही सुलभ है उतना ही अपमानित भी है।

हे सभाओं के संचालको ! तुम्हारा अधिकार बड़ा उच्च है और इसीलिये कर्तव्य बड़ा कठिन और उत्कृष्ट है। लाखों बालकों तथा युवकों के जीवन तुम्हारे आश्रित हैं। क्या तुम अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का यत्न न करोगे ?

झूठी आशा का त्यागना ही जीवन है !

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं वशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
 वृद्धो याति गृहीत्वा वण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥

आशा देवी कौसी बलवती है। अंग ढीले पड़ जायें, शिर श्वेत हो जाये, मुँह में दाँत न रहें, बूढ़ा होकर लाठी टेकने लग जाये, फिर भी आशा समूह से मुक्त नहीं होता। आशा का चित्ताकर्षक चित्र केवल इङ्गलैण्ड के कवि कैम्बेल (Cambell) ने ही नहीं खींचा, अपितु प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक समय में कवि इस पर अपना दिमाग लड़ाते रहते हैं। फारसी के एक कवि ने कहा है—“दुनियाँ व उम्मीद कायम ।” संसार चक्र को आशा ही चला रही है।

+ + +

डेरा इस्माइल खाँ के वार्षिकोत्सव से निवृत्त होकर दूसरे दिन कूच था। मैं नित्यकर्मों से निवृत्त होकर स्वाध्याय कर रहा था कि सामने एक विचित्र मूर्ति आ खड़ी हुई। सिर श्वेत परन्तु दाढ़ी मूँछ झाँठी हुई। सारे शरीर पर बुढ़ापे का असर था, झुरियाँ पड़ी हुई थीं, अस्थि पंजर मात्र, न मुँह में सब दाँत और न पेट में आँत लेकिन सिर पर तिल्लेदार बाँकी टोपी, कानों में सोने की बालियाँ, जिनमें शायद सच्चे मोती जड़े हुए, पैरों में कलावतून के काम की जूती। विचित्र मूर्ति थी। मैंने आँख उठाकर देखा, परन्तु जवाब न मिलने पर पढ़ने में लग गया। फिर भी जब मूर्ति सामने से न हटी, तब मैंने कहा—“आइये,

बैठिये ! क्या आप ब्राह्मण हैं ? नमस्ते ।” बूढ़े महाशय नमस्ते करके बैठ गये और पूछा—‘आपने कैसे जाना कि मैं ब्राह्मण हूँ ?’ मैंने उत्तर दिया—‘आपके अभिवादन में पहल करने से स्कने के कारण ।’ ब्राह्मण देवता ने गुरुकुल की कुशल पूछी और चुप हो गये । मैं भी पढ़ने में लग गया । जब पाँच मिनट चुप रहा तो ब्राह्मण देवता से न रहा गया बोल उठे—‘मैं हकीम हूँ, हरिद्वार में भी दो तीन महीने इश्तिहार बाँट कर रहा था, लोग पीछे पड़ गये कि हकीमजी यहाँ ही रहो, परन्तु हमने कहा कि हमें रुपये कमाने की आवश्यकता नहीं ।’ फिर स्वयं उन्होंने परीक्षा देना आरम्भ किया । यूनानी का प्रकरण कण्ठ से सुनाकर उन्होंने कहा कि वैद्यक में भी वह निपुण हैं । यह कहकर भाव प्रकाश में दिया हरीतकी का सारा अध्याय तोते की तरह रटा हुआ सुना दिया । इसी पर ही बंस न हुई, पश्चिमी चिकित्सा को भी दावा किया और उर्दू के ‘मैटीरिया मेडिया’ का एक भाग सुनाने लग गये । मैंने बहुतेरा कहा कि मुझे उनके ज्ञान पर विश्वास आगया, लेकिन उन्होंने एक न सुनी और अपनी सारी कहानी सुनाकर दम लिया । फिर भी क्या दम लिया ? नहीं, बोले—“आपने पूछा नहीं कि मैंने हरिद्वार में क्यों इश्तिहार दिया ?” मैंने उत्तर दिया कि इसकी कुछ आवश्यकता न थी । हकीमजी बोले—“नहीं महाराज, मुझसे तो सब मित्र अपने मुँह से इश्तिहार सुनना चाहा करते हैं । जब मैं कहता हूँ कि लेकर पढ़ लो तो यही कहते हैं कि आपके सुनाने में हमें आनन्द आता है, मैं आपको भी सुना देता हूँ ।” यह कहा और सारे का सारा इश्तिहार रटा रटाया, सुना दिया । मैंने कहा—“आप बड़े गुणी हैं ।” उत्तर मिला—“आपको अभी हमारे सब गुण मालूम नहीं हुए, हम बाल ब्रह्मचारी हैं । हमने विवाह ही नहीं किया ।” मेरी दृष्टि में उनका मान स्थापन होने लगा और मैंने कहा—‘तब तो

इस गिरे हुए समय में आप एक आदर्श पुरुष हैं—आप अवश्य गुरुकुल में पधार कर वहाँ के शिक्षाक्रम का अवलोकन करें।' मेरा कथन सुनकर देवताजी बहुत चकराये और बोले—मैं तो विवाह करना चाहता हूँ। मेरे कई कुएं हैं और भूमि की आमदानी बहुत होती है, एक कठिनाई है, हमारे देश में बट्टे सट्टे का विवाह होता है। जिस घराने में सम्बन्ध डूँढ़ता हूँ वहीं से उत्तर मिलता है कि हमारे कुमार के लिये लड़की दिलवाओ तो तुम्हारा भी विवाह हो सकता है। परन्तु हमारे कुल में दूर समीप कोई कुमारी लड़की नहीं है फिर विवाह कैसे होता? फिर मेरी ओर झुककर घीरे २ बोले—'यदि आपके आस-पास कोई ब्राह्मण कन्या हो तो मेरा विवाह करा दीजिये। रुपये की कुछ पर्वाह नहीं हजार दो हजार भी खर्च हो जाये तो तैयार हूँ।' ज्यों २ बूढ़ा बोलता जाता था मेरे मुँह पर आश्चर्य और घृणा का भाव स्पष्ट होता जाता था, परन्तु उसे कुछ पता न चला। मैंने कहा—'महाशय ! शमशान की तैयारी करो, यह क्या बातें कर रहे हो, तुम्हारी आयु क्या विवाह की है?' उत्तर घड़ा घड़ाया था—आप मेरी आयु क्या समझते हैं? अभी मेरी आयु २५ वर्ष की है। इससे अधिक नहीं।' मैंने कहा—मैं ६० वर्ष का हूँ, मेरे अपने शरीर का मुकाबला करो।' देवता मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए बोले 'अभी चार महीने बहुत बीमार रह चुका हूँ नहीं तो आप मेरे शरीर को देखते!' फिर न जाने उसे क्या ध्यान आया और खड़े होकर चलते २ बोले 'सच' 'सच आप तो गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का पालन कराया करते, हैं आपको विवाह के झगड़ों से क्या वास्ता?' बूढ़ा तो चला गया परन्तु मेरे मुँह से अनायास निकला:—

बलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितंरङ्कित शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णका तरुणायते ॥

शरीर और शरीर के सब अङ्ग जितना ही शिथिल हो जाते हैं, तृष्णा उतनी ही जवान होती जाती है ।

सच है—संसार चक्र आशा के धुरे पर ही चल रहा है । तब क्या आशा ही जीवन है ? यदि संसार चक्र में चक्कर काटते रहना ही जीवन है तब तो आशा ही जीवन हो सकती है । नहीं तो कवि का कथन ठीक ही प्रतीत होता है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।

यथा सञ्छिद्य कान् आशं सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥

बूढ़े हकीम की आशा का कुछ ठिकाना है, मुझे बतलाया गया कि बच्चे तक उसका उपहास करते हैं, परन्तु वह आशा में ही मग्न रहता है ।

हम में कितने हैं जो इस 'आशानन्द' हकीम के अनुयायी नहीं ? आशानन्द की कहानी पर सभी पाठक हँसेंगे और उसकी त्रिबुद्धिता पर शोक करेंगे, परन्तु समय आने पर क्या सौ में से एक भी वीर निकलेगा जो तृष्णा का शिकार न हो जाये ?

संसार में आधे से ज्यादा दुःखों का कारण झूठी आशा है । टूटी हुई खटिया पर लेटे अफीमची की तरह कितने ही युवक हवाई किले खड़े करते और उन्हें टूटा हुआ देखते हैं ।

नव शिक्षित युवक अपने हाथ में किसी महापुरुष का जीवन-चरित्र लेता है, उसका ध्यान उन साधनों और तपों की ओर नहीं खिन्नता जो तैयारी के समय उसने किये । यदि चरित्र-नायक धार्मिक संशोधक है तो युवक एक दम अपने आपको लाखों का पूज्यदेव बना हुआ देखना चाहता है । यदि नैपोलियन का जीवन पढ़ता है तो जागते स्वप्न में एकदम विजयी सेनापति बन जाता है । मुझसे एक ब्रह्मचारी ने बिना किसी भूमिका के पूछा—
“हम नैपोलियन कैसे बन सकते हैं ?” मैं इसका क्या उत्तर देता ? चुपसा रह गया । कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मचारी को

क्रियात्मक उत्तर मिल गया और उसने 'आशा' को असली रूप में देख लिया ।

+ + +

आशा दुःखदायिनी नहीं, यदि उसमें स्वार्थ का आवेश न हो, स्वार्थ ही उसे परम दुःखदायी बना देता है । धर्म-परायण मनुष्य कभी झूठी आशा नहीं बाँधता, इसलिए उसे दुःख नहीं होता । बच्चे के मरने का दुःख इसलिए होता है कि उसके सदा जीते रहने की झूठी आशा बाँधी गई थी । व्यापार में १ लाख रुपये की आशा बाँधने पर उसे ६० हजार मिलने से जितना दुःख है उतना ही आनन्द उस आदमी को १०) मिलने से होता है जिसकी कभी रुपये कमाने की आशा ही नहीं बँधी थी । संसार में वैसे ही कुछ कम दुःख नहीं है, कि आशा बाँधकर उनके पूरा न होने से असीम दुःख सागर में डुबकियाँ लेता फिरे । मनु भगवान् के इस उपदेश से कि "ब्राह्मण अपमान को अमृत के तुल्य ग्रहण करे और मान से विष क्री तरह भागता रहे" इस स्थान में शिक्षा लेनी चाहिए । जिस मनुष्य ने अपने किसी काम का आश्रय नहीं लिया और झूठी आशा को भी विष के तुल्य त्याग दिया है और जिसने निराशा को अमृतवत् अपनाया है वही अमर जीवन की ओर चलता है । आशा रहित मनुष्य का जीवन समता का जीवन है, उसमें उतार चढ़ाव नहीं होता । जहाँ द्वन्द्व है वहाँ दुःख है और जहाँ उतार चढ़ाव है वहाँ द्वन्द्व अवश्य है । झूठी आशा बाँधना 'कुमति' का चिह्न है और आशाओं से सर्वथा मुक्त हो जाना 'सुमति' का प्रमाण है । गोस्वामी तुलसीदास ने सच कहा है :—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपद निधाना॥

मैं मान्य बन सकता हूँ, जगत् में प्रशंसा प्राप्त कर सकता हूँ, मुझमें क्या नहीं जो उन मनुष्यों में है, जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो रही है ? अभिमान से युवक का सिर ऊँचा

हो जाता है, सभाओं में जाता है तो करतालिका ध्वनि की आशा में चारों ओर नजर घुमाता है लेकिन कोई भी उसकी ओर आँख भर कर नहीं देखता। जब कुछ समय पश्चात् एक साधारण आकृति का आदमी सादे, स्वच्छ, स्वदेशी वस्त्र पहने नीचा सिर किये सबके पीछे बैठने लगता है तो मण्डप में खलबली मच जाती है। गड़बड़ देख सामयिक प्रधान उस ओर तिरछी निगाह डाल कुछ बोलने को ही हैं कि आगत साधारण वस्त्र वाले, सिर नीचे किये युवक पर दृष्टि पड़ती है। सारी सभा एकदम उठ खड़ी होती है, करतालिका ध्वनि से सभा मण्डप गूँज उठता है। युवक को वेदी पर लाया जाता है और जनता एक स्वर में बोलती है—

‘बोलो अनाथों, निराश्रयों के सेवक ब्रह्मचारी सर्वानन्द की जय।’ युवक न ग्रेजुएट है, न धनाढ्य है, न बहुत शारीरिक बल रखता है और न ही इसका दिमाग ऊँचा उड़ता है, प्रत्युत् नीचा सिर किये, बिना किसी फल की आकांक्षा के इसने प्लेग पीड़ित (माता, पिता, बन्धु, पति-पत्नी से त्यागे हुए) नर-नारियों की सेवा की है। दिन रात एक करके इसने कई निराश्रित बालकों को बचाया है। जिन्हें हकीम वैद्य डाक्टर भी त्याग गये उन्हें अपने प्रेम से मृत्यु-मुख में जाते जाते इसने खींच लिया है। यहाँ न दलील की जरूरत न अपील की आवश्यकता। भरे हुए हृदय बह निकले हैं, और उस शुद्धात्मा की परिक्रमा कर रहे हैं।

पाठक वृन्द ! श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग तुम्हारे सामने हैं। भगवान् तुमको सुमति दे कि तुम सच्चे मार्ग का ही अवलम्बन करो।

पास घर का सारा समाचार उपदेशक जी भेजा करते थे। धर्म-पत्नी पतिव्रत धर्म पालन में वैसी ही दत्तचित्त थी जैसे पतिव्रत धर्म में डाक्टर साहब। घर में बघाई और प्रसन्नता का राज्य हुआ। इस रङ्ग में भङ्ग डालने के लिये पुराने पापी डाक्टर के पास पहुँचे और सत्यकाम की करतूत स्वयं वर्णन करदी। डाक्टर केवल सदाचारी ही न थे, प्रत्युत् बुद्धिमान भी थे। उन्होंने सत्यकाम से मिलकर प्रेमपूर्वक सारा हाल पूछा और कहा—“युवक ! उपदेशक जी तो मेरे सच्चे भाई हैं, मेरी प्रार्थना पर हो वह मेरे घर का सारा समाचार भेजते रहे। क्या तुमने स्वयं कुछ देखा या सुना था ? या तुमने किसी के बहकाने से ऐसा अपवाद फैलाया। युवक की आँखें खुल गईं, उसे सब कुछ स्मरण हो आया और व्याकुल होकर कहा “डाक्टर जी ! आपके कथन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने पाप किया है, परन्तु मैंने जो कुछ कहा अपने ज्ञान के अनुसार सत्य ही कहा, उससे हानि अवश्य बहुत हुई। फिर भी मुझे भ्रम है कि जब अपने अन्तःकरण के निश्चयानुसार मैंने सच बोला तो मैं पापी कैसे हो सकता हूँ ?”

डाक्टर साहब ने तत्काल ही पातञ्जल योगदर्शन का व्यास भाष्य खोला और द्वितीय साधनपाद के सूत्र ३० पर नीचे का भाष्य पढ़ने लगे।

सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे । यथादृष्टं यथानुमितं तथा वाङ्म ।
न श्चेति । परत्र स्वबोध संक्रान्धे वःगुक्ता, सा यदि न वञ्चिता
भ्रान्ता वा प्रति पत्तिवन्ध्या वा भवे दिति । एवा सर्व भूतोपका-
रार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्याभिधीयमाना भूतोप-
घातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भदेत्तेन पुण्याभासेन पुण्य
प्रति रूपकेषु कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात्परीक्ष्य सर्वं भूतहितं
सत्यं ब्रूयात् ।

भुक्ति-सोपान

(७५)

“जिसमें मन और वाणी यथार्थ रहे। जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो, जैसा सुना हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना चाहिये। दूसरे मनुष्य में अपने ज्ञान की प्रेरणा को जो वचन कहा जाये, वह छल कपट भरा, भ्रम में डालने वाला और निरर्थक न हो। सब प्राणियों के उपकार के वास्ते कहा गया हो, प्राणियों के नाश के वास्ते न कहा गया हो, यदि वह कहा हुआ वाक्य प्राणियों के नाश का हेतु हो तो सत्य न होगा। उसके अनुसार आचरण करने से पाप ही होता है। पुण्य के नाम से जो स्वार्थ साधन किया जाता है, इस अपुण्य के कृत्य से मनुष्य अत्यन्त कष्ट पाता है। इसलिये परीक्षा करके जिसमें सब प्राणियों का हित हो, ऐसा सत्य बोले।”

ज्यों ज्यों डाक्टर महाशय भाष्यार्थ पढ़ते जाते थे सत्यकाम की व्याकुलता बढ़ती जाती थी। समाप्ति पर शान्त होकर उसने डाक्टर महोदय को नमस्ते की और क्षमा की प्रार्थना की। डाक्टर ने कहा—‘प्रिय आर्य युवक ! क्षन्तव्य कुछ है ही नहीं तो क्षमा की प्रार्थना क्या ? तुमने सत्य का वास्तविक स्वरूप देख लिया, मुझे सब कुछ मिल गया।’

सत्यकाम नदी के किनारे एकान्त में जा बैठा। उसके हृदय पट पर गत तीन चार मास की घटनाओं के चित्र खिंचते गये। उसने आश्चर्य से देखा कि जिसे उसने पुण्य समझा था वह अपुण्य ही था। पुण्य-पाप की तुलना परमात्मा के लिये है, अल्पज्ञ चिर्बल मनुष्य क्या तुलना कर सकेगा ?

सत्यकाम ने उसी समय अपने जीवन पर दृष्टि डाली तो उसमें बीसियों कमियाँ दिखाई दीं। अपनी निर्बलताओं की सूची देख उसका हृदय भर आया और उसने अपने हृदय को परमात्मा के आगे झुकाकर आत्म-सुधार की मानसिक प्रतिज्ञा की, और इस लोकोक्ति का मन से पाठ कर लिया हुआ लौटा—‘मुझको पराई क्या पड़ी अपनी निबेड़ तू !’

* *

आश्रमादाश्रमं गच्छेत्

‘आवश्यकता है चतुर्थाश्रमियों की, जो आर्यसमाज के मन्त-
व्यानुसार वैदिक धर्म का उपदेश करें?’ इस प्रकार के विज्ञापन
आज आर्यसामाजिक अखबारों की शोभा बढ़ा रहे हैं। चित्ता-
कर्षक और मनोरंजक शीर्षक देकर आर्य अखबारों ने सन्यासाश्रम
की पूर्ति की आवश्यकता को बढ़ी मर्म भेदक अपीलों द्वारा बत-
लाया। अपील का असर क्या हुआ, यह जानना आवश्यक है ?

बूढ़े डिप्टी साहब ने ५६ वर्ष की आयु में बूढ़ों के नाम की
पुकार पढ़ी—‘बुड़ो ! तुम संसार के विषयों में लिप्त हो रहे हो !
बहुत कमाया, बहुत खाया और खिलाया, अब तो कुछ परोपकार
करलो। सन्यास लेना तुम्हारा कर्त्तव्य है।’ ‘आयु के दो वर्ष कम
लिखाकर ५६ में ५४ बने हुए डिप्टी साहब अभी एक वर्ष की
रियायत और लेने की फिकर में थे। अखबार की अपील काम
कर गई और नौकरी का समय बढ़ाने की तृष्णा को जबाब देकर
पेंशन लेने को तैयार हो गये। पेंशन लेकर सीधे अखबार वाले
के पास, दीक्षा लेने के विचार से लाहौर पहुंचे तो क्या देखते हैं
कि बुढ़ापे पर जवानी की लहर चल रही है और सम्पादकाचार्य
महाशय मृतस्त्रीक होते हुए भी मूँछों पर मेंहदी लगाये और उन्हें
ऊपर चढ़ाये गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। उधर से निराश होकर धर्म
की प्यास नुशाने के लिये आर्यसमाज के वृद्ध पुरुषों की ओर भुके
और उपनिषद् तथा योग का सार जानना चाहा, वहाँ किसे अव-
काश था ? बूढ़े से बूढ़ा वोटों (votes) के हासिल करने और
विपक्षी दल को गिराने की फिकर में लगा हुआ है। तब बूढ़ा
पेंशनर एक ठण्डी साँस भर कर लौट आया और फिर उसने
आर्यसमाज का द्वार न देखा। + + +

बूढ़े डिप्टी का दृष्टान्त आगे रखकर एक ‘पुरजोश नौज-
वान’ अधिकार पर प्राण देने वाले एक पेंशनर के पास पहुंचा
और विवश होकर बोला—‘कैसा सच्चा सज्जन, रत्न, धर्म की रक्षा

के लिये मिल रहा था। आपस का लड़ाई झगड़ा देख समाज से उपराम हो कर चला गया। यह पाप किस के सिर चढ़ेगा? पेन्शनर अधिकारी बोले 'अरे छोड़ो ! जब हम सरकारी नौकरी करते थे तब तो हमारे पीछे पड़ कर तुम लोगों ने हमें यहाँ बुलाया अब हमें घत्ता बतलाना चाहते हो।' युवक निराश होकर लौट आया।

बूढ़े सम्पादकाचार्य की अपील जब कुछ फल न लाई तो जवान सम्पादक ने अपील गुरु की 'आर्यसमाज के नौनिहालो ! सब कुछ तुम्हीं ने करना है। जब बूढ़े नहीं हिलते तो तुम मैदान में निकलो और सन्यास लेकर अपना तन, मन, धन वैदिक धर्म पर न्यौछावर करदो। बूढ़ों की प्रतीक्षा मत करो। ऋषि दयानन्द ने कब गृहस्थ लिया था ? यदि वह बुढ़ापे की प्रतीक्षा करते तो धर्म प्रचार कैसे होता? नौजवान उपस्नातक (Under Graduate) को जोश आया और वह दृढ़व्रती होने के लिये सम्पादक महाशय की शरण में पहुँचे। वहाँ वेतन के (१५०) गिनवाए जा रहे थे। गृहस्थ के सब भोग विद्यमान थे। बिरादरी के साथ सम्बन्ध स्थिर रखने की सभाएं हो रही थीं। युवक स्तम्भित हो गया, क्या पूछे और किससे पूछे ? अन्धा अन्धे का पथ-प्रदर्शक कैसे बनेगा ? इन्हें देखकर कौन युवक संन्यासी होगा ? युवक की यह दशा देख एक स्वतन्त्र विचारक बोले—'तुमने क्या तुलसीकृत रामायण नहीं पढ़ी ? नहीं तो अब पढ़ो। गोस्वामी जी लिखते हैं—

'नारि मुई घर सम्पति नासी । मूंड मुंडाय भये संन्यासी ॥

इनकी धर्मपत्नी जीवित है, बिरादरी में मान है, परमेश्वर की दया से घर में ऋद्धि-सिद्धि सभी कुछ है, फिर यह संन्यासी कैसे हो ? युवक निराश हो लौटा और पढ़ाई में चित्त लगाने को तैयार हुआ। लेकिन उसका दिल क्या फिर जमता है ? युवक

के मानस पटल पर संन्यासी बनने के पश्चात् ही कृतकार्यता का चित्र अङ्कित हो चुका था। एक सुन्दर युवक, केश छेदन कराये और भगवा चोला पहने सभामण्डप में पहुँचता है, कर तालिका ध्वनि से सभा मण्डप गूँज उठता है। संन्यासी निडर हो बुराइयों पर कोड़े लगा रहा है और जनता चित्रवत् बैठी है, पापी अनुताप कर रहे हैं और उनके जीवनोँ में पलटा भी आ रहा है। कहाँ वह दिव्य चित्र ! और कहाँ किरोसीन लैम्प के सामने फिर से रटना !

+ + +
व्याकुल युवक घर जाकर भी कुछ पढ़ लिख न सका। एकदम शिखर से गिर पड़ना किसे व्याकुल नहीं कर देता ? एक वृद्ध वैदिक धर्मी सज्जन उस युवक के अन्दर आये परिवर्तन को देखते हैं, एकान्त में ले जा बड़े प्रेम और सहानुभूति से बात करते हुए उसका सारा हाल जान लेते हैं। तदनन्तर वृद्ध महाशय उसे अपने घर ले जाकर मनुस्मृति देते हैं। युवक पढ़ता है—

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।

अहिंसया च भूतानाम् मृतत्वाय कल्पते ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।

समः सर्वेषु भूतेषु न लिगं धर्मं कारणम् ॥

“जो संन्यासी बुरे कर्मों से इन्द्रिय निरोध, रागद्वेषादि दोषों का क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है। मूर्खों से दूषित किये हुए भी जो धर्म करता है वह चाहे किसी आश्रम में हो, समदर्शी होने से संन्यासी है। केवल धर्म-चिन्ह (काषाय वस्त्र) धर्म का कारण नहीं। युवक के पुराने संस्कार जाग उठे और वह गाने लगा—
‘जब रङ्गा नहीं उस रङ्ग में तो क्या कपड़े रङ्गने से।’ वृद्ध ने गद्गद् होकर आशीर्वाद दिया और युवक विदा हो अपने मन्तव्य में लग गया। * *

मुक्ति-सोपान

(भाग ३)

[व्यष्टि तथा समष्टि धर्म]

: १ :

स्वाध्याय के बाह्य नियम

यजुर्वेद के तैत्तिरीयोपनिषद् के द्वितीय अनुवाक् में शिक्षा की व्याख्या की है—

‘ओम्—शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः ।

मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शिक्षाध्यायः ।’

अर्थ—परमात्मा का निज नाम लेकर शिक्षा हम कहेंगे । (हे शिष्यो ! सुनो !) अकारादि वर्ण^१, उदात्तादि स्वर^२, ह्रस्वादि मात्रा^३, आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न^४, शान्ति पूर्वक मध्यम वृत्ति से वर्णों का उच्चारण और परस्पर वर्णों का मेल [संहिता] इस प्रकार से शिक्षाध्याय कहा है ।

गुरु के वाक्योंको सुनकर शिष्य शिक्षा लेना आरम्भ करता है तब आरम्भ में ओ३म् का ध्यान करके मङ्गलाचरण करता है—
‘सहनो यशः सहनो ब्रह्मवर्चसम् ।’ हम दोनों—शिष्य और गुरु का यश साथ ही प्रचारित रहे और हम दोनों का ब्रह्मतेज

[वेद से प्राप्त हुआ तेज] साग्र ही हो । अर्थात् स्वाध्याय का आरम्भ करने के पहले शिष्य को श्रद्धा से यह वाक्य बोलने चाहिए ।

अब देखना चाहिए कि यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में [कात्यायन ऋषि ने] क्या उपदेश दिया है ? प्रातिशाख्य के प्रथम भाग में पहले शब्द, रूप, प्रयत्न स्थानादि का वर्णन करके सोलहवें सूत्र में कहते हैं :—

ओङ्कार स्वाध्यायादौ

स्वाध्याय का आरम्भ ओङ्कार पूर्वक करना चाहिए, यह सूत्र का तात्पर्य है । मनु महाराज ने भी कहा है—

ब्रह्मणः प्रणवः कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते ॥

'वेद पढ़ने के प्रारम्भ में सदा प्रणव [ओ३म्] का उच्चारण करे प्रौर अन्त में भी । यदि पूर्व में प्रणव का उच्चारण न करे तो उसका पढ़ा हुआ धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है ।' यह ठीक ही है । जो पाठ श्रद्धा के बिना किया जाता है उसका स्मरण चिर-स्थायी नहीं होता । परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है—

ओङ्कारायकारौ । १७ ।

स्वाध्याय के आदि में जो ओङ्कार के उच्चारण की प्रतिज्ञा है वह अखण्डच नहीं क्योंकि उसके तुल्य ही फल 'अथ' शब्द का भी है । मनु ने भी कहा है—

ओङ्कारश्चाथकारश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलावुभौ ॥

यह ठीक है परन्तु इनमें से—

ओङ्कारं वेदेषु । १८ ।

ओङ्कार का उच्चारण वेद के स्वाध्याय के आदि में करने की ही विधि है । और—

अथकारं भाष्येषु । १९ ।

भाष्य के स्वाध्याय के आदि में 'अथ' शब्द के प्रयोग की विधि है। चार संहिता मूल—वेद के अतिरिक्त जितने भी (ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग, उपाङ्गादि) ग्रन्थ हैं वे सब वेद के भाष्य रूप हैं।

अब स्वाध्याय की तैयारी का वर्णन है:—

प्रयतः । २० ।

स्वाध्याय के प्रयत्न के बाह्य साधन क्या हैं? इस पर भाष्यकार 'उव्वट' कहते हैं—'प्रयतः शुचिरुच्यते, पादशौचाचमनादिना शुचिरधीयीतेत्यर्थः।' स्वाध्याय का आरम्भ करने से पहले हाथ पैरादि धोकर आचमन से कण्ठ शुद्धि करनी चाहिए।

फिर—

शुचौ । २१ ।

शुद्ध तथा एकान्त देश में अध्ययन करना चाहिए न केवल अकेले विद्यार्थी के लिए एकान्त देश में अध्ययन करने की विधि है प्रत्युत् गुरुकुल तथा अन्य विश्वविद्यालय भी स्वच्छ एकान्त देशमें होने चाहिए। इसका फल आत्मा की शुद्धि होगा और बिना आत्म-शुद्धि के स्वाध्याय का फल प्राप्त नहीं होता। इसीलिए कहा है—

द्वावेव वज्रयेन्नित्यमनघ्यायो प्रयत्नतः ।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धमात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥

जब आत्मा को स्थिर कर लिया और एकान्त स्थान भी प्राप्त हो गया तब आसन की विधि कही जाती है—

इष्टम् । २२ ।

जिस आसन (बैठने के प्रकार) में बैठकर स्वाध्याय में विघ्न न पड़े, उसी आसन का अभ्यास करना चाहिए। औंधे लेटकर कोई पुरुष सूक्ष्म विचारों को अपने अन्दर स्थान नहीं दे सकता, जैसे आराम-चौकी पर बैठकर व्यायाम करने की चेष्टा निष्फल है। इसलिए ऐसे आसन पर बैठकर स्वाध्याय करना

चाहिए जिससे स्वाध्यायमें विघ्न न होकर पूरी सफलता प्राप्त हो ।

ऋतुं प्राप्य । २३ ।

भाष्य—हेमन्तऋतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थं प्रहरेऽधीयीत ।'

हेमन्त (बहुत जाड़े की) ऋतु में रात चौथे पहर में उठ कर पढ़े । इससे स्पष्ट विदित होता है कि हेमन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य सब ऋतुओं में रात को पढ़ना मना है, और उस ऋतु में भी पहली रात पढ़ने के लिए वर्जित है । फिर पढ़ने में विशेष नियम का पालन—

योजनान्न परम् । २४ ।

भाष्य—अधीयानो योजनात् परमध्वानं न गच्छेत् ।'

अर्थात् पढ़ते हुए एक योजन से आगे न जायें यह विधि विचित्र प्रतीत होगी । परन्तु जब यह नियम है कि गुरुकुल नगर से एक योजन की दूरी पर होना चाहिए, तब समझ में आ जाता है कि जहाँ भ्रमण करता हुआ पाठ पर विचार करता रहे वहाँ विचारते-विचारते सीमा से बाहर न निकल जाय । विद्यार्थी-जीवन में भोजन कैसा करना चाहिए—

भोजनं मधुरं स्निग्धम् । २५ ।

भाष्य—'मधुररसप्रयं घृतप्रायं चान्नं भुञ्जीत ।'

अर्थात् मधुर रस प्रधान और घृत प्रधान अन्न का भोजन करना चाहिए । रूखा, तोखा, खट्टा आदि भोजन का तो मधुर शब्द से ही खण्डन हो गया । फिर भी जहाँ मस्तिष्क को ठीक रखने तथा शारीरिक बल की स्थिरता के लिए घृत की आवश्यकता है वहाँ रस प्रधान भाजी दाल आदि के सेवन से गरिष्ठ भोजन का भी निषेध हो गया । ब्रह्मचारी के लिए सब प्रकार के हानिकारक तथा काम क्रोधादि को उत्तेजित करने वाले भोजन मना है ।

मनुष्य जाति का सुधार कैसे हो ?

भारतवर्ष विशेषतः नवभारत की दृष्टि अपने सुधार तथा पुनरुद्धार के लिए योरोप की ओर लगी हुई थी। पर अब वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध में योरोपियन सभ्य जातियों के आचरणों ने सिद्ध कर दिया है कि योरोपियन सभ्य जातियाँ स्वयं गुमराह हैं। वे दूसरों की रहबरी क्या करेंगी? अन्धा अन्धे को कैसे मार्ग दिखला सकता है ?

योरोप और अमेरिका के विचारक अब मान रहे हैं कि वर्तमान पश्चिमीय सभ्यता को सर्वथा बदल देते से ही मनुष्य जाति का सुधार होगा। इस सभ्यता को बदलने के लिये आवश्यक है कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के आदर्श को ही बदल दिया जाय। जहाँ पशु भाव से स्त्री-पुरुष का सङ्ग होगा वहाँ व्यभिचारी, डाकू और घातक सन्तान उत्पन्न होगी। जहाँ परमात्मा की पवित्र जननशक्ति को लक्ष्य में रखते हुए पितृ-ऋण से उऋण होने के लिये 'गर्भाधान संस्कार' होगा वहाँ धार्मिक, न्याय-परायण, परोपकारी सन्तान उत्पन्न होगी।

अभी तक योरोपियन सुधारकों की दृष्टि उस उच्च शिखर पर नहीं पहुँची जहाँ पहुँचकर प्राचीन आर्य ऋषियों ने मत्स्य-लोक के निवासियों को उपदेश दिये थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के आठवें अध्याय के चौथे ब्राह्मण में जो उत्तम देवी सन्तान उत्पन्न करने की विधि बतलाई गई है उसे अमेरिका के सन्तान विद्या के जानने वाले डाक्टरों ने अब कहीं सम्झने की कोशिश आरम्भ की है।

हमारे नव शिक्षित इन नई Eugenic की पुस्तकों पर मोहित हो रहे हैं। इन पुस्तकों को पढ़ने से लाभ अवश्य है परन्तु इन्हें पढ़ते हुए सावधान अवश्य रहना चाहिए। यद्यपि दोनों प्राचीन आर्य तथा अर्वाचीन योरोपीय पद्धतियों का प्रकार एक ही है तथापि दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं और इसलिए साधनों में गिर जाने की सम्भावना है। प्राचीन आर्य पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य पालन धर्म है, इसलिये सब अवस्थाओं में पालन करना ही चाहिए। गृहस्थ को २५ वर्षों में अधिक से अधिक दस बार ही सन्तानोत्पत्ति क्रिया करनी चाहिए परन्तु योरोपीय Eugenic में अधिक बार स्त्री-सङ्ग करना इसलिए निषिद्ध है कि स्त्री-पुरुष दोनों के शरीर निबल हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि अधिक सङ्ग से जिन स्त्री-पुरुषों में शारीरिक दुबलता न आवे उन्हें इस नियम के पालने की आवश्यकता नहीं। Problems of Sex नामी एक पुस्तक प्रोफेसर टायसन और ग्रीडीज ने लिखी है। ग्रन्थकर्ता लिखते हैं कि सब स्त्री-पुरुषों के लिए सङ्ग के एक से नियम नहीं हो सकते, क्योंकि किसी समय अभ्यासी खिलाड़ी से भी बढ़कर एक शारीरिक बल रखने वाला अशिक्षित मनुष्य व्यायाम दिखा सकता है। उन प्रोफेसरों ने परिणाम की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उनका कथन माना जाय तो जो जितना सहन कर सके उतना स्त्री-सङ्ग करे, परन्तु इसका सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ेगा और दम्पती के भावी आत्माओं की क्या दशा होगी इसे नहीं सोचा।

सन्तान शुद्धि और उसके द्वारा मनुष्य जाति के पुनरुद्धार के काम में धर्म बड़ी सहायता दे सकता है, परन्तु इस समय सम्प्रदायों और मतों का बड़ा जोर है। पादरी मेयर साहब ने जातीय पुनरुद्धार पर मजहब का प्रभाव जतलाते हुए और ईसा-मसीह की श्रेष्ठता बतलाते हुए भी यह मान लिया है कि मजहब

को कुछ आगे चलने की आवश्यकता है। वह लिखते हैं कि जैसे मजहब ने यह आज्ञा दी है कि अमुक-अमुक सम्बन्धियों के साथ विवाह नहीं करना चाहिए, वहाँ क्यों न वह [मजहब] आगे चले और यदि कहें कि—“किसी ऐसे व्यक्ति को विवाह न करना चाहिए जो किसी मानसिक वां शारीरिक रोग में ग्रस्त है या जो जानता है कि उसमें पागलपन वा मिरगी का पैत्रिक विष मौजूद है जिससे किसी निर्दोष स्त्री-पुरुष को यह रोग न लग जाय और ऐसी सन्तान उत्पन्न हो जो जीते हुए भी मृतक समान है।” पादरी साहब को ऐसा निराशापूर्ण लेख न लिखना पड़ता यदि वे ईसाई मजहब की संकुचित परिधि से बाहर निकल कर वैदिक धर्म की शिक्षा को पढ़ते। मनु भगवान् ने कौसी पवित्र और उच्च शिक्षा दी है—

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशाशंसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रि कुष्ठि कुलानि च ॥

—अ० ३।६-७।

‘चाहे कितने ही धन-धान्य गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध कुल हो तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्न दश कुलों को त्याग दे। जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े २ लोम, बवासीर, क्षय, दमा, खाँसी, विकृत आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठ युक्त हों उन कुलों की कन्या या वर के साथ विवाह नहीं होना चाहिए।’ इसका कारण ऋषि दयानन्द बतलाते हैं— ‘क्योंकि यह सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।’

अयोग्यों के विवाह का कारण सच्ची शिक्षा का अभाव

है। पहले जब तक यह विश्वास न हो कि मनुष्य जाति का उद्धार हो सकता है तब तक इस काम में सुधारकों की प्रवृत्ति होना ही कठिन है। जनसाधारण प्रायः यह कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि भाग्य को कोई बदल नहीं सकता। जब बना हुआ भाग्य संचित कर्मों का ही समूह है तब जहाँ कुर्मों के आधिक्य से बुरा भाग्य प्रारब्ध बन गया वहाँ उत्तम कर्मों के प्राबल्य से अच्छा प्रारब्ध भी बन सकता है। ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर जब विद्या के प्रकाश में काम करना आरम्भ किया जायगा तो बिना अधिक प्रयास के ही परिवर्तन आरम्भ हो जायगा।

हमारी जाति में इस समय यही कमी है कि इस प्रकार के अपूर्व विश्वास का अभाव है। सच्चा विश्वास पर्वतों को चीरता और लोहे के तवों में छेद कर देता है—परन्तु दृढ़ श्रद्धा जब हो तब न ? ब्रह्मचर्य के बल पर और उसके महत्व पर श्रद्धा न हो तो मनुष्य जाति का सुधार कठिन है। किसी कवि ने कहा है:—

“श्रुति मात्र रसाः सर्वे प्रधान पुरुषेऽङ्गराः ।

श्रद्धा मात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा ।”

जब ब्रह्म और उसका ज्ञान 'वेद' भी श्रद्धा के लिए अग्राह्य नहीं, फिर उसका आश्रय लेकर कौन-सा कठिन दुर्ग है जिस पर सदाचारी मनुष्य विजय नहीं प्राप्त कर सकता ? श्रद्धा का आवेश बिना सचाई के नहीं होता।

श्रद्धासम्पन्न मनुष्य सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में पागल-सा दिखाई देता है, परन्तु संसार में पाप और अविद्या के दुर्ग-गिराने वाले पागल ही हुआ करते हैं ! ब्रह्मचर्य और पवित्रता को स्थापन करने में ऐसे ही मनुष्य कृतकार्य हो सकते हैं जिन्हें इनकी श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास हो, वही दूसरों को इस पवित्र मार्ग पर चला सकते हैं।

जहाँ राजनैतिक कृतकार्यता के सामने सतीत्व तथा शुद्धता का कुछ भी ध्यान न रखा जाय, सामयिक सफलता के लिए धर्म का बलिदान कर दिया जाय वहाँ राजनैतिक, सामाजिक वा जातीय सफलता भी चिरस्थायी नहीं होती। स्वजाति पर विदेशियों की कुनीति का ऐसा ही प्रभाव पड़ रहा है। कुछ समय पूर्व यवनों में इस विचार का खुला प्रचार था कि कोफिर की स्पिरिट को दबाने के लिए द्विजों की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करना चाहिए। वह भाव इस समय भारत में फैलता जाता है। चोरी से चोरी तथा झूठ से झूठ को जीतने का प्रचार हो चला है। इस भयानक अवस्था में यह प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है कि पवित्रता धर्म है और इसलिए उसको बड़े से बड़े व्यक्तिगत, सामूहिक तथा राष्ट्रीय लाभ पर बलिदान करना, अपने सर्वस्व का नाश करना है। परमेश्वर करे ऐसे पागल पैदा हों जो मनुष्यों को ब्रह्मचर्य और सदाचार की पवित्र वेदी पर मानापमान तथा सर्व पाशवीय भावों को स्वाहा करना सिखावे तभी मनुष्य जाति का सुधार सम्भव है। *

—+—
: ३ :

जातीय आत्म-विचार की आवश्यकता

आत्म-विचार की आवश्यकता—व्यक्तियों को ही नहीं सम्पूर्ण मनुष्य-समाज और जातियों को भी है। मैं अभी न्यूयार्क [अमेरिका] का एक मासिक पत्र पढ़ रहा था, उसमें अज्ञेय सन्तान उत्पन्न करने से बचने के विषय का एक लेख देखा। लेखक ने नित्कासिन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर गुयर [Prof. M T. Guyer] की पुस्तक 'Being Well Born' में से उद्धरण देकर

सिद्ध किया है कि अङ्गहीनों के विवाह से संसार में बहुत-सी अप्रतिभियाँ फैलती हैं। प्रोफेसर गुयर की सम्मति है कि अङ्गहीनों का विवाह ही न होना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो दो समान अङ्गहीनों का विवाह तो सर्वथा ही त्याज्य है। वह लिखते हैं कि गूगे, बहिरे यह दोष पैतृकदाय में ही प्राप्त करते हैं और इस प्रकार समान दोष वालों का विवाह उनकी सन्तानों को दोषयुक्त कर संसार में दुःख का बढ़ाने वाला होता है। उनकी सम्मति में जो गूगे-बहिरो के शिक्षणालय हैं उनसे बड़ी हानि हो रही है। समान अङ्ग-विहीन स्त्री-पुरुष जब परस्पर मिलते हैं तो स्वभावतः [अन्य सम्बन्ध न मिलने पर] उनका आपस में सम्बन्ध हो जाता है जिनसे बहुत ही दुःख-दायी परिणाम निकलते हैं। इसलिए प्रोफेसर महोदय ने इस विषय पर पुस्तक लिखी है ताकि 'विवाह' विषय पर ठीक प्रकाश पड़कर यथार्थ ज्ञान फैलाने से अयोग्य पुरुष इस विवाह रूपी विशेष पवित्र सम्बन्ध से बचें।

मालूम होता है कि अमेरिका जैसे स्वतन्त्रता-प्रिय और जागृत देश में भी सर्वसाधारण अयोग्यों के रोकने में प्रवृत्त नहीं होते इसलिए गुयर लिखते हैं—'हम अपने उत्तम कोटि के मनुष्यों को सहस्रों की संख्या में कटवाने के लिए युद्धक्षेत्र में भजने से सङ्कोच नहीं करते, जब हमारे उस बहमी विचार का अपमान होता है जिसे जातीय सम्मान कहते हैं, परन्तु हम इस देव दुर्वियोग को सर्वथा भूल जाते हैं, जब अयोग्य पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति से वञ्चित करने के प्रस्ताव से उनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप को सुनकर आपे से बाहर हो जाते हैं।' यदि बटुवे को चुराने वाले या घोड़े इत्यादि वस्तुओं को चुराने वाले को कानून द्वारा रोकने की आवश्यकता है तो क्या उस मनुष्य को रोकने की आवश्यकता नहीं है जो सारे परिवार के

रक्त को विषयुक्त कर पुष्टों तक सारे वंश को विषमय बना देता है ?

“इस समय की एक सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विवाह सम्बन्धी सच्चाइयों की शिक्षा देकर स्त्रियों में जागृति उत्पन्न की जाय। यतः सबसे अधिक हानि स्त्रियों को ही पहुँचती है, इसलिए एक बार पता लग जाने पर अपनी शारीरिक रक्षा के लिए वे अपने भावी वरों से उत्तम स्वास्थ्य की अपेक्षा अवश्य रखेंगी। सन्तानों का सम्पूर्ण भविष्य स्त्रियों पर ही अवलम्बित है और उन्हीं की हाँ या ना पर विवाह का फैसला होता है, इसलिए सन्तान में होने वाले गुण और अवगुणों का निश्चय उन्हीं के हाथ में है। युवा कुमारियों को यह अनुभव कर लेना चाहिए कि नष्ट-चरित्र वा दुराचारी युवक वास्तव में शारीरिक स्वास्थ्य का स्वामी नहीं होता और अपनी भावी पत्नी और सन्तान के लिए भयानक सिद्ध होता है, चाहे उपन्यास उसका कैसा ही मनोरंजक और कल्पित चित्र क्यों न खींचे।”

आर्य-जाति की दशा, अमेरिका की दशा से अधिक भयानक है। भेद केवल इतना है कि उनकी आँखें खुली हुई हैं और हम अपनी दशा पर कुछ विचार नहीं करते। जिस भयानक राजरोग को समझ कर अमेरिका ने उसकी चिकित्सा प्रारम्भ कर दी है उसको हमारे पूर्वजों ने जाना था और इसलिए ऐसी आश्रम-व्यवस्था स्थापित की कि रोग जातिसे सदा दूर रहता था। ब्रह्मचर्याश्रम की स्थिति इसलिए थी कि बालक-बालिकाओं के गृहस्थ-काल उपस्थित होने तक उन्हें सच्चे गृहस्थ के योग्य बनाया जावे। आर्य-जाति के बच्चे आज २० वर्ष की आयु तक ही जिन शक्तियों को नष्ट कर देते हैं, उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध गुरुकुलों में होता था। जो गिरताथा उसे भी आचार्य जानता

था और जो नहीं गिरता था उसे भी जानता था । आर्यों का राज्य-शासन और जनता की सम्मिलित सम्मति ही ऐसी थी कि आचार्य की आज्ञा लिये बिना जो युवक विवाह के पवित्र सम्बन्ध के लिए आतुर होता उसे कोई भी ब्रह्मचारिणी स्वीकार करने के लिये तैयार न होती थी । भगवान् मनु लिखते हैं—

“गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधिः ।

उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम् ॥

“गुरु की आज्ञा ले स्नान और यथाविधि समावर्तन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, [द्विज] अपने वर्णानुवृत्त सुन्दर लक्षण युक्त कन्या ने विवाह करे ।”

उस समय गुरु की आज्ञा का बन्धन ऐसा दृढ़ था जिसका मुकाबला आजकल के बड़े से बड़े राजनियमभी नहीं कर सकते ।

आर्य-जाति की कन्याओं में इस समय पूर्ण जागृति उत्पन्न करना कठिन है । लाखों में कोई ऐसी विरली विदुषी निकलेगी जो संस्कारों के उच्च तत्व को समझ सके । इनके द्वारा इस रोग को दूर करना कठिन है जो इस समय फैल रहा है । विषयासक्त पुरुष, स्त्रियों को केवल विषय-भोग का साधन समझते हुए अगाङ्ग निर्बल सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं । अबोध बालक भ्रष्ट रोगों से पीड़ित हो रहे हैं, कोई पृष्ठने वाला नहीं है । पिपासाकुल कोई बनिये का लड़का यदि चमार के घड़े का पानी पी ले तो उसे बिरादरी से पृथक् कर दिया जाता है, वह पैतृक सम्पत्ति में वञ्चित कर दिया जाता है । परन्तु यदि वही लड़का हुक्के की जहर चढ़ा और शराब के कनस्तर लुटेर अपनी धर्मशक्ती को विषमय करने के अतिरिक्त पांगल सन्तान उत्पन्न करता है तो उसे पैतृक सम्पत्ति से अलग करने का किसी को साहस नहीं होता ।

भारतीय नवयुवकों ! आर्य जाति के पुत्रों ! क्या तुमने

भुक्ति - सोपान

()

कभी सोचा है कि तुम अपनी जाति को किस रसातल में पहुँचा रहे हो। विदेशियों से शिक्षा लेकर तुमने अपने स्रोत को ही भुला दिया है। तुम अपने आपको देश-भक्त कहते हो, भारत को माता पुकारते हो, 'वन्देमातरम्' के नाद से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर देते हो तो क्या तुम्हारी कर्तव्य-परायणता की पराकाष्ठा हो गई? क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि 'वन्देमातरम्' के इस प्रकार के घोष से माता को कुछ शान्ति भी हुई या नहीं? जितनी अङ्गहीन, निर्बल, रोगग्रस्त सन्तान उत्पन्न हो रही है, माता का दुःख दिन-रात उतना ही बढ़ता जाता है। तुम्हारे अन्दर के नेत्र यदि खुले होते और तुम माया के मलिन मुख को देख सकते तो तुमको निश्चय हो जाता कि माता की सन्तान का नाश करने वाले माता के पुत्र नहीं हो सकते।

आर्य युवको ! जरा विचार तो करो कि क्या शास्त्रार्थ या वाद-विवाद में अन्य मतावलम्बियों को चुप करा देना ही वैदिक धर्म की ठीक सेवा है? प्राचीन आचार्यों का अभाव है और नवीन आचार्यों के पास अधिकार नहीं। क्या तुम्हारी सम्मिलित शक्ति आर्य युवकों के लिए आचार्य का काम नहीं दे सकती? मैं जानता हूँ कि जब कोई आर्य युवक २४ वर्ष की आयु से पहले विवाह करता है तो तुम अपने अमल से उसे बतला देते हो कि उसने बुरा काम किया है। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने सङ्गठन को अधिक विस्तृत तथा दृढ़ करो। आर्य-कुमार सभाओं में बूढ़े और गृहस्थ दखल देना छोड़ दें। इन सभाओं के सङ्गठन से एक भी अविवाहित युवक अलग न रह जाय। अपना मुख्य नियम यह बना लें कि मद्यदि मादक द्रव्यों [तम्बाकू सहित] का सेवन और मांस भक्षण करने वाले उनकी सभा के सभासद न बन सकेंगे। सब यह प्रतिज्ञा करें कि उनमें से कोई विवाह न करेगा जब तक कि विवाह से एक वर्ष पहले

सर्व प्रकार के छोटेसे छोटे ध्यसन से भी मुक्त न हो लेगा। प्रत्येक प्रतिज्ञा करे कि यदि उसको कोई भी बीमारी होगी (चाहे कितनी छिपी हुई क्यों न हो) तो वह विवाह करने से इनकार कर देगा। प्रमेह रोगसे ग्रस्त तथा अन्य रोगों से पीड़ित स्वार्थवश यह समझ लेते हैं कि विवाह से उनके यह रोग दूर हो जायेंगे। परन्तु यह भारी भूल है। यदि यह सम्भव भी हो तो एक स्वस्थ देवी के शरीर और मन को नाश करना पिशाचत्व से कम नहीं समझा जाना चाहिए।

आर्य युवको ! यदि तुम्हारे नियमों के विरुद्ध कोई भी युवक (चाहे सभा का सभासद हो वा नहीं) विवाह करना चाहे तो प्लेग की तरह बचो। उसका ऐसा बहिष्कार करो कि वह फिर अगुआ बन कर समाज में न बैठ सके। इस पवित्र कर्तव्य के पालन से तुम भारतमाता के ऋण से उच्छ्रण हो सकोगे।

: ४ :

कितने अवसर विसार दिये !

यह कथा प्रसिद्ध है कि एक बार बादशाह अकबर ने वीरबल से कहा कि जब वह हिन्दुओं के सब सिद्धान्त मानते हैं तो उन्हें क्यों न हिन्दू बना लिया जाय ? वीरबल ने अपनी लोक प्रसिद्ध प्रकृति के अनुसार उत्तर के लिये ४ दिनों की मोहलत मांगी। जब तीन दिनों तक दरबार से वीरबल को अग्रपस्थित पाया तो दरबारियों से उसका पता पूछा। एक ने बतलाया कि वीरबल तीन दिन से यमुना-तट पर एक खेल खेला करते हैं। वीरबल का बिछोडा अकबर के लिये असह्य हो जाता था क्योंकि वह वीरबल के वाक्त्रातुय पर मोहित थे। बादशाह सलामत स्वयं यमुना तट

पर पधारि । देखते क्या हैं कि वीरबल एक गधे को साबुन आदि से खूब मल-मलकर धो रहा है । अकबर ने हंसकर पूछा, 'यह क्या मसखरापन कर रहे हो ?' उत्तर मिला, 'जहाँपनाह ! इस गधे को घोड़ा बना रहा हूँ ।' बादशाह सलामत बोले, 'अबे बेबकूफ ! कभी गधा भी घोड़ा बना है ? हाजिरज्जाब वीरबल ने कहा, 'तब बादशाह सलामत ! कभी मुसलमान भी हिन्दू बना है ?' विद्वेषक का यह भण्डेलापन तो चल गया, परन्तु यह कोई उत्तर न था, क्योंकि गधे और घोड़े में जातीय भेद है जबकि हिन्दू और मुसलमान एक ही मनुष्य जाति के सभ्य अङ्ग हैं ।

वीरबल का वह ३५० वर्ष पुराना उत्तर अब तक आर्य जाति के संकुचित विचारों का उदाहरण है । यदि उस समय अकबर को आर्य जाति में मिला लिया जाता तो न औरङ्गजेबी जमाना आता और न भारत की वह दुर्दशा होती जो आचारहीन मुगल बादशाहों के नीचे रहने से हुई, और न जाने उस वीरता का कदम उठाने पर आज संसार ने कैसा पलटा खाया हुआ होता वह अकबर जिसने अपने सारे जीवन में पक्षपाती मोहम्मदी मत से किनारा रक्खा, अपनी मृत्यु के समय मुसलमान मुल्ला को बुला कर 'कलमा' पढ़ता है, क्योंकि आर्य-जाति के संकुचित विचार रखने वालों ने उसे धर्म भाई मानकर अङ्गीकार न किया । जो बर्ताव आर्य सभ्यता की कुञ्जीबरदार (प्रहरी) आर्य जाति ने अकबर के साथ किया था वही बर्ताव उसका अब तक विदेशी हितचिन्तकों के साथ जारी है । आर्य सभ्यता के पुराने आदर्श पर मोहित होकर कितने भद्र पुरुष बाहर से मातृ-भूमि के (भारत के) सेवक बनकर आये, परन्तु आर्य जाति ने उनको अपने से अलग ही रखा और अन्त को वे, प्रबल इच्छा रखते हुए भी, भारतमाता की वह सेवा न कर सके जो वे हम में मिलकर कर सकते ।

अकबर के मन्तव्य

अकबर के मन्तव्यों का (जिन्हें वह दिन रात कार्य में लाता था) वर्णन पढ़कर कौन इनकार कर सकता है कि वह आदर्श आर्य सुधारक नहीं था ? सय्यद-मुहम्मद लतीफ ने आगरे का जो वर्णन किया है, उसमें उन्होंने अकबर का इतिहास उस समय के मूल ग्रन्थों में से दिया है। लतीफ महाशय के उस ग्रन्थ में से उद्धरण देकर यह दिखलाना बहुत सुगम है कि अकबर हिन्दू व मुसलमान साम्प्रदायिक न था, प्रत्युत् शुद्ध आर्य धर्म के समीप पहुँचा हुआ था।

हिन्दू धर्म के सिद्धान्त पैतृकदाय से ही अकबर को मिले थे। अकबर गर्भ में था जब उसके पिता हुमायूँ को अमरकोट के राजा रणप्रसाद की शरण लेनी पड़ी। उसी अमरकोटाधीश के घर में १५ अक्टूबर १५४२ ई० के दिन अकबर का जन्म हुआ। हुमायूँ यहाँ तक उदार हो चुका था कि चित्तौड़ के राणा उदयसिंह की माता कर्णवती का 'रक्षाबन्ध भाई' बना था, और उसे बहादुर-शाह के विरुद्ध सहायता भी दी थी, इसीलिए यह स्वाभाविक बात थी कि अकबर के अन्दर हिन्दुओं से घृणा न हो।

अकबर को सबसे पहले 'कयामत' के मसले पर सन्देह हुआ। 'उसने कयामत के मसले को जबाब दे दिया और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास स्थिर किया। वह इस लोकोक्ति का दिल से अनुमोदन करता था कि 'कोई भी ऐसा मत नहीं है, जिसमें जीवात्माओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने दृढ़ता से जड़ न पकड़ी हो।' ब्राह्मण इस सिद्धान्त के समर्थन की साक्षी के लिए पुस्तकें रचते थे।' (पृष्ठ २१०) वह पुनर्जन्म के विरुद्ध सजा-जजा से इनकारी था, और जिनों, फरिश्तों तथा अदृश्य-जगत् के प्राणियों के अस्तित्व से इनकारी था, (पृष्ठ २१०)। अकबर के समय गायत्री मन्त्र में सूर्य की उपासना का विधान समझा जाता था, इसलिये

श्रीमान् सबसे बड़े प्रकाश सूर्य की पूजा करते थे, जिसको, शेष सब प्रकाश प्रजा है और उन्होंने सात विविध रङ्गों के वस्त्र धारण करना आरम्भ किये जो कि सप्ताह में विशेष दिनों पर सातों ग्रहों के रङ्गों के अनुसार पहनते थे । (पृ० २१०) । और एक आज्ञा दी गई कि प्रातः सायं, मध्याह्न तथा रात्रि समय चारबार सूर्य पूजा हुआ करे । वह नित्य सूर्य की ओर मुख करके १००१ सूर्य के नामों का संस्कृत में जप करते थे और हिन्दू चिन्ह (चन्दन का टीका) माथे पर लगाते थे, उन्होंने अपने मत का नाम 'तौहीदे इलाही' रखा था और हिन्दू मुसलमान दोनों में से चेले बनाते थे (पृ० १६१) । इस्लामी नमाज संकुचित और अशुद्ध बतलाई जा कर छोड़ दी गई और रोजों (भूखे मरने) को तकलीदी (अन्ध-विश्वास) कहकर मना किया गया । ईरान के अग्नि-पूजकों तथा ब्रह्म के अनुयायियों की प्रार्थनाएं अधिक विस्तृत तथा फलदायक समझी जाकर जारी की गईं ? (इस तौहीदे इलाही मत के) सभासद मांस भक्षणसे निवृत्त रहते, अपने जन्म दिवस पर उन्हें उसके समीप जाने की भी मनाई थी (पृ० २१३) उसने गो मांस का खाना मना किया, उनका विश्वास था कि गायको मारना पाप है और वह गोबर को शुद्ध समझता था । वैद्यगण अपनी पुस्तकों में यह सिद्ध करने के लिए उदाहरण देते थे कि गोमांस स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और बहुत सी बीमारियों को उत्पन्न करने वाला है (पृष्ठ २१०) । फादर अक्वावा एक पादरी ईसाई था, जिसने २७ सितम्बर १५८२ ई० के एक पत्र में लिखा था— 'बादशाह आए दिन कई बातें करके दरबार में हलचल मचा देते हैं । अन्य बातों में वे सूर्य व चाँद की पैदा की हुई वस्तुओं की स्तुति करते हैं और शनि तथा आदित्यवार को मांस सर्वथा छोड़ देते हैं ।—(इन दिनों) प्रायः बाजार में मांस नहीं बिकने पाता और आदित्यवार को कुछ भी मांस खाने को नहीं मिलता । (पृष्ठ २१४)

माँस भक्षण तो अकबर ने छोड़ ही दिया था, परन्तु ज्ञात होता है कि वह सब उत्तेजक पदार्थों से भी परहेज करता था। "श्रीमानों ने न केवल गौमाँस न खाने की शपथ ले ली है प्रथ्यु लहसन, प्याज और दाढ़ों को भी [जवाब दे दिया है]। दिवाली के त्यौहार पर जब हिन्दू लोग गौ की पूजा करते हैं तब बहुत सी गौएँ सजाकर श्रीमानों के सामने लाई जाती हैं। दाढ़ी मुँडाना बादशाह की दोस्ती और प्रेम का बड़ा चिह्न समझा जाता था और इसलिए यह आश रिवाज हो गया था। हिन्दू-रुचि के विरुद्ध बातें सब छोड़ दी गईं और घण्टियों के बजल्ले का रिवाज जारी किया।"

अकबर को जल से बड़ा प्रेम था। वह जल को अमृत समझता था, गङ्गाजल पर तो वह मोहित था—'चाहे घर पर हो अथवा यात्रा में वह गङ्गाजल का ही सेवन करता था जो कि खामी हुई सुराहियों में 'सारन' से आता था जो गङ्गातट पर सबसे समीप स्थान था, जब कि दरबार आगरे में वा फतहपुर में होता, तो गङ्गा-तट से जल भेजने के लिये विश्वासपात्र मनुष्य नियत थे। श्रीमानों का भोजन वर्षा के जल से बनता था। अथवा यमुना वा चुनाव से लाये हुए जल से [जब बादशाह पञ्जाब में होते], परन्तु थोड़ा गङ्गाजल उसमें अवश्य मिलाया जाता।'

अकबर अपने भोजन में त्यागी तथा अल्पाहारी था। उसने माँस त्याग रखा था और उसे हाथ लगाये बिना अकबर को महीनों बीत जाते थे। वह प्रायः चावल, दूध और मिठाई पर ही गुजारा करता था और २४ घण्टों में एक बार से अधिक भोजन नहीं करता था। (पृष्ठ २२२)

अकबर के दयालु स्वभाव का एक उदाहरण देकर लेख के इस भाग को समाप्त करता हूँ—सन् १५८० ई० में एक बार

अकबर 'दस्तरखान' पर बैठा था, उसे एक विचार सूझा कि जहाँ मैं भोजन का आनन्द ले रहा हूँ वहाँ बहुत से भूखे मनुष्य भी होंगे, जिन्होंने इस भोजन को अत्यन्त लालसा से देखा होगा। जिस पर ऐतिहासिक [मिर्जा निजामुद्दीन अहमद] पूछता है— "तब वह कैसे खा सकता था जब भूखे भोजन से वञ्चित थे?" उसी समय उसने [अकबर ने] आज्ञा दी कि जो भोजन उसके लिये बने उसमें से पहिले भूखों को खिलाया जाया करे और बाद को उसके सामने परसा जाया करे। मालूम होता है कि बिना जाति और मतभेद के उसकी दया सब ओर विस्तृत थी।

परन्तु क्या अकबर केवल प्रचलित हिन्दू-सिद्धान्तों का ही पोषक था? वह केवल अपने अपनाये हुए हिन्दू-धर्म का ही सुधारक न था प्रत्युत् मुहम्मदी मत का भी संशोधक था।

जहाँ मद्य को मनुष्य के लिये हानिकारक समझ कर वह उसको त्याज्य वस्तुओं में गिनता था, वहाँ शराब की इजाजत थी यदि वह [शारीरिक] बल बढ़ाने तथा वैद्य की आज्ञानुसार दो जावे। अपनी माता की मृत्यु पर अकबर ने स्वयं मूछें-दाढ़ी मुण्डवा लीं, तब उसके मुसलमान दरबारियों ने भी उसका अनुसरण किया। और तब से ही दाढ़ी मुण्डवाने की प्रथा चली। अकबर का पुत्र जहाँगीर और पौत्र शाहजहाँ भी दाढ़ी मुण्डाने रहे। दाढ़ी की प्रथा फिर से कट्टर और ज़जेब ने प्रचलित की। अकबर से पहिले मुसलमान बादशाहों ने हिन्दुओं के लिये मुहम्मदी शाही चला दी थी, अकबर ने उदार हिन्दू-नीति के अनुसार यह आज्ञा दी कि हिन्दुओं के झगड़े का फैसला विद्वान् ब्राह्मण शास्त्रानुसार किया करें और मुसलमानों का मुहम्मदी काजी। मुसलमानों में सूद का लेना भी बादशाह ने जायज करार दिया।

शुद्धि का महकमा भी अकबर ने खुला जारी कर रखा

था। जो हिन्दू छुटपन में बलात्कार से बिना समझे मुसलमान बनाये गये थे, युवा होने पर उन्हें अवसर दिया जाता था कि अपने कुल में लौट जावें, किसी मनुष्य को उसके मन्तव्य के कारण तङ्ग नहीं किया जा सकता था, हर एक को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि अपना पैतृक मत बदल कर अपनी इच्छा और सुगमता के अनुसार दूसरा मत ग्रहण कर ले। यदि कोई हिन्दू स्त्री किसी मुसलमान के प्रेम से मत परिवर्तन करती तो उसे जबरदस्ती उनके कब्जे से निकाल उसके परिवार के सुपुर्द कर दिया जाता। इसी प्रकार किसी मुसलमान स्त्री का किसी हिन्दू से प्रेम हो जाता था तो वह हिन्दुओं में शामिल होने से रोकी जाती। [पृष्ठ २१८, २१९] अकबर की इस व्यवस्था की ओर उन आर्य नामधारियों को ध्यान देना चाहिए जो वर्षों के व्यभिचार पर शुद्धि और विवाह का ठप्पा लगाकर समाचार-पत्रों में अपने रस का गीत गवाते हैं।

‘अकबर हिन्दुओं के इस रिवाज के विरुद्ध था जिसके अनुसार एक आदमी को उस स्त्री के साथ विवाह में जोड़ दिया जाता है जिसने उसे कभी देखा नहीं और न जिसका सत्सङ्ग किया है। उसका मत था कि विवाह को धर्म सम्मत बनाने के लिये उचित है कि वर और वधू की परस्पर सहमति हो, और यदि वे नाबालिग हों तो उनके माता-पिता की अनुमति हो। जब तक वर-वधू अपने बुरे-भले के समझने के योग्य न हो जावें वह [अकबर] उनका विवाह उचित न समझता था। संसार में सदाचार की दृढ़ता के लिए अकबर विवाह को आवश्यक समझता था, परन्तु विवाह करते समय मनुष्यों का उद्देश्य-विषय-भोग से उच्च होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब दोनों के गुण-कर्म मिल जायें।’

बाल-विवाह के विरुद्ध अकबर ने कानून बनाया।

१६ वर्ष की आयु से पहिले लड़की का तथा २८ वर्ष से पूर्व लड़के का विवाह न होने पावे। बहु-विवाह के वह विरुद्ध था। गर्भवती, बूढ़ी, बाँझ वा अत्यन्त बाला स्त्री के साथ सम्भोग निषिद्ध था। सती के रिवाज के विषय में यह कानून था कि बलात्कार से किसी स्त्री को न जलाने दिया जाय। परन्तु उसकी स्वतन्त्रता को न रोका जाय।

कहाँ तक लिखा जाय, यदि अकबर का आर्य-जाति में प्रवेश हो जाता तो इस देश की काया ही पलट जाती। फिर ५ उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करके उन्हीं के उपदेश को अपने जीवन का आधार मानने वाला और ब्रह्मविद्या [उपनिषद्] के आगे सारे यूरोप का सिर झुकवाने वाला दाराशिकोह ही शायद अकबर की डाली हुई बुनियाद पर एक उदार राष्ट्र का महल खड़ा करता। परन्तु इस अभागे देश के निवासियों को अभी कर्मफल भोगना था ! हा ! कितने अवसर बिसार दिये, आर्यसन्तान ! क्या अब भी न चेतेंगी ? * *

: ५ :

इस अधूरे यत्न से क्या हो ?

भारतवर्ष में इस समय (सन् १९२५ में) ३ प्रतिशत भी पढ़े-लिखे नहीं हैं। योरोपियन देशों में वह देश अभागा समझा जाता है जिसमें अनपढ़ों की संख्या एक प्रतिशत से अधिक हो। भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार की आवश्यकता को सब चिरकाल से स्वीकार कर रहे हैं, परन्तु क्या मानसिक शिक्षा मात्र से इस देश का कल्याण हो सकेगा ? माना कि कुछ समय से शारीरिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो ज़ला है और उसकी आवश्यकता को सब समझने लगे हैं, परन्तु क्या प्रजा के शरीर और मन को बलिष्ठ करने से ही किसी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है ? जिन

योरोपियन देशों को १९ प्रतिशत शिक्षित प्रजा का अभिमान है, जिनके यहाँ शारीरिक बल बढ़ाने के बढिया से बढिया साधनों का विकास हो चुका है, उनकी इस समय क्या दशा है? जो सभ्यता के ठेकेदार थे और काली जातियों को पशु और असभ्य समझते थे उनका झूठ, उनका अत्याचार, उनका पिशाचत्व संसार में हाहाकार मचा रहा है। विचारक ऐसी सभ्यता से लज्जित हो रहे हैं। वह देश, जो जुलाई सन् १९१५ ई० (प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व) तक हमारे पथ-प्रदर्शक थे अब शिक्षा की उन्नति में भी हमारे लिए आदर्श नहीं समझे जा सकते।

इन सभ्य देशों की गिरावट का कारण क्या है? मनुष्य, शरीर, अन्तःकरण-चतुष्टय और आत्मा के संयोग का नाम है। पाश्चात्य जातियों ने आत्मा को बीच में से उड़ा दिया है। जब आत्मा ही न रहा तो सदाचार का क्या काम? जननेन्द्रिय की पवित्रता को भुला दिया गया। राजनैतिक विजय के लिए स्त्रियों ने सत्तीत्व की कुछ भी परवाह न की। पुरुषों ने ब्रह्मचर्य-पालन और वीर्य-रक्षा को कुछ न समझा। आज इसलिए हम 'हिंसक पशुओं' का दङ्गल देख रहे हैं।

हम अभी तक उनका अनुसरण किये चले जाते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन इसी में समझा गया है कि कुछ दिनों तक विवाह रोक दिया जाय। गुरुकुल खुलने के तीन वर्ष बाद मिसेज एनी बेसेण्ट ने नियम बनाया कि बनारस हिन्दू कालेज के स्कूल में मिडिल तक कोई ऐसा विद्यार्थी प्रविष्ट न हो सके जिसका विवाह हो चुका हो। तीन वर्षों से दयानन्द स्कूल लाहौर में भी इस नियम को मिडिल तक प्रचलित किया गया है। यह तो कुछ सुधार नहीं, परन्तु यदि बी० ए० क्लास तक भी विवाहित की भरती बन्द कर दें तो भी क्या होगा? क्या पशु-जीवन बन्द हो जायेगा? क्या विवाहित जोड़े अपने कुकर्मों को बन्द कर देंगे?

क्या ये कभी २ श्वान-परिवार को भी मात नहीं कर देते ? क्या बोर्डिंग-स्कूल खोल कर इस रोग का इलाज हो सकेगा ? जब तक सुकुमार बालकों को जननेन्द्रिय की रक्षा और पवित्रता को स्थिर रखने की विधि न सिखाई जायगी, तब तक विवाह न करना, वा विद्यार्थियों को वर्ष का कुछ भाग एक साथ रखने से कुछ भी लाभ न होगा ।

वर्तमान कालेज शिक्षा-प्रणाली कैसे विद्यार्थी उत्पन्न करती है ? आज से ४२ वर्ष पूर्व जिस प्रकार काशीपुरी में कालेजों के विद्यार्थी व्यभिचार दोषों से पीड़ित, लट्ठ और छुरी की लड़ाई लड़ते थे, आज भी कालेजों के केन्द्र-स्थानों में छुरी चल रही है । इसमें विद्यार्थियों का कितता अपराध है ? इस पर विचार करना चाहिए । जिन्हें माता-पिता ने पशु-जीवन व्यतीत करते हुए उत्पन्न किया, जिन्हें व्यभिचारी, लम्पट, विषयी पुरुषों ने शिक्षा दी, कालेज में पहुँच कर जिनके सामने बड़े नेताओं का दुराचारपूर्ण जीवन रखा गया, उनसे आशा ही क्या की जा सकती है ? कालेज, रात्री या यमुना के इस पार हो वा उस पार इससे कुछ लाभ नहीं, जब तक कि माता-पिता के उत्तम संस्कारों से प्रभावित होकर बालक आचार्य-कुल में निवास नहीं करता । तभी तब वह उत्तम आचार्य चुनने के योग्य होगा । वेद की आज्ञा है:—

‘स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा ते अन्देन न सन्नशे ।’

“हे ज्ञान के जिज्ञासु विद्यार्थी ! स्वयं अपने शरीरको समर्थ बना, स्वयं अच्छे आचार्य को प्राप्त हो, स्वयं उसकी सेवा कर जिससे तेरा यश (कुसंग) के साथ नष्ट न हो ।” कैसा पवित्र, कैसा उत्साहजनक उपदेश है ! क्या कालेजों की वर्तमान स्थिति में कोई विद्यार्थी अपने लिए स्वयं आचार्य को स्वीकार कर सकता

है ? सैकड़ों में कोई एक आत्मज्ञ प्रिन्सिपल दिखाई देता है; दौड़ता हुआ जिज्ञासु ब्रह्मचारी उसके पास पहुँचता है, प्रिन्सिपल युवक के शुद्ध भाव को पहचानता है, परन्तु शोक ! प्रविष्ट करने की नियत संख्या पूरी हो गई और एक भी और प्रविष्ट नहीं हो सकता, फिर आचार्य को कैसे चुने ?

परन्तु आचार्य भी कहाँ मिलते हैं ? और बेचारे करें भी क्या ? उन्हें प्रविष्ट करते हुए विद्यार्थी की परीक्षा लेने का क्या अधिकार है ? प्रार्थी की आँखें भयानक हैं, उसका मुख पिशाचत्व का नमूना है, उस पर विषय ही विषय-भोग अङ्कित है, परन्तु परीक्षा की पर्ची जिसके पास है उसे इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में गुरु और चेला दोनों ही असन्तुष्ट हैं। वेद भगवान् का उपदेश है कि—

“कस्त्वा छयति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति ।

क उते शमिता कविः ।”

“कौन (तेरे अङ्ग-प्रत्यंग की परीक्षा कर) तुझे छेदन करता (अर्थात् तेरा सार जान लेता है) कौन तुझे उत्तम शिक्षा देता ? कौन तेरे (भौतिक और आत्मिक) अङ्गों को शान्ति पहुँचाता है और कौन तेरा यज्ञकर्ता तत्व-ज्ञानी कवि है ?” कहाँ यह गुरु-शिष्य का आदर्श और कहाँ आजकल के वेमेल जोड़ ! जब तक जाति की शिक्षा जाति के हाथ में नहीं आती, तब तक शिक्षणालयों को राज्य के प्रबन्ध से अलग करके उनकी स्थिति का निर्भर उनके आज्ञार्यों के सदाचार और उच्च जीवन पर ही नहीं रखा जाता और जब तक माता-पिता शुद्ध भाव से सन्तान उत्पन्न करके उनमें आचार्य चुनने की योग्यता का संस्कार नहीं करते, तब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमें दिनों-दिन रसातल की ओर ही लिये जायगी।

वर्णाश्रम धर्म के सुधार से ही संसार का सुधार होगा !

आज सारा संसार बौलशैविज्म के डर से कांप रहा है । जब मित्र उसका (बौलशैविज्म का) चित्र खींचते हैं, तो स्वर्गीय दृश्य दिखा देते हैं और जब शत्रु उसकी तस्वीर बनाते हैं तो उसमें कुम्भीपाक की भट्टी दिखाई देती है । बौलशैविज्म क्या है ? एक गिरगिट की तरह रङ्ग बदलने वाला छलावा है । उसका वही रूप है जो 'रुद्र-धनुष' तोड़ते समय महाराज राम-चन्द्र के स्वरूप का आदि कवि तुलसीदास ने वर्णन किया है :—

जाकी रहो भावना जसी ।

प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

परन्तु वास्तव में "बौलशैविज्म" है क्या ? न मित्रों का खींचा चित्र ही ठीक है और न ही शत्रुओं की खींची डरावनी तस्वीर ही दुरुस्त है । उसकी वास्तविक स्थिति इन दोनों का माध्यम है । बौलशैविज्म एक अग्नि है और अग्नि का गुण भस्म करना है, उसकी भड़की हुई ज्वाला की लपटों में जो कुछ भी आता है, भस्म हो जाता है । वहाँ पापी और पुण्यात्मा का कुछ भी भेद नहीं रहता । उसमें अपराधी और निर्दोषी में कोई अंतर दिखाई नहीं देता । जो भी उसकी लपेट में आया, स्वाहा हो गया ।

"बौलशैविज्म" संसार के परमोद्देश्य का परम साधन नहीं । परम साधन की ओर ले जाने के लिए यह एक भीषण परन्तु अनिवार्य यन्त्र है । संसार भोम-प्रधात हो रहा है और

स्वार्थ का राज्य है। व्यक्ति से व्यक्ति और राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ के जाल में फँसकर ही भिड़ रहा है। प्राकृतिक उन्नति का प्रासाद संसार की सभ्य जातियों में भोग और स्वार्थ की बुनियाद पर खड़ा है। निर्बलों को बलवान् खा रहा है। पशु-जाति के दृष्टान्त से आज की सभ्यता अपने क्रूर कर्मों की रक्षा करना चाहती है। “जिसकी लाठी उसकी भैंस”—यह सिद्धान्त पेश किया जाता है। “निबल पिस जाने के लिए हैं, जीने का अधिकार सबलों को ही है”—यह आजकल की सभ्यता का मूल-मन्त्र है। परन्तु क्या पशु-सृष्टि के नियम मानवी सृष्टि पर भी लागू हो सकते हैं? आहार, निद्रा, भय और सृष्टि का बढ़ाना इन सबमें मनुष्य और पशु समान हैं। किन्तु—

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो ।

धर्मेण हीनः पशुभिस्समानः ॥

मनुष्य में धर्म ही विशेष गुण है। मननशील होने से ही मनुष्य कहलाता है। इसलिए पशु-जगत् के नियम इस पर लागू नहीं होते, यदि धर्म को तिलाञ्जलि दे दी जाय तो फिर नर और पशु में भेद ही क्या है?

संसार धर्म के उच्च शिखर से पशुत्व के निचले नरक में गिर रहा है, इसीलिए बलवान् निर्बलों को खाते जा रहे हैं। पशु धोखा नहीं देते, वे खुले बनों में इस नियम पर अमल करते हैं कि छोटे पशु बड़े पशुओं का भोजन बनाये जाते हैं। लेकिन मनुष्य मक्कारी करता है। भोग और स्वार्थ को धर्म की आड़ में ही सिद्ध करने का यत्न करता है। दूसरी जाति से लड़ाई व्यापार को अपने हाथों में लेने के लिए ही की जाती है, परन्तु याद न्याय और सच्चाई की ली जाती है। मध्यकाल में मजहब, सम्प्रदाय और रिजीजन के नाम पर यदि लड़क नदियाँ बहाई जाती थीं, तो आज न्याय और सच्चाई

तथा असम्य जातियों की रक्षा का ढोंग रच कर खून की नदियाँ बहाई जाती हैं। जहाँ मजहब के नाम पर हजारों मले कटते थे, वहाँ सम्यता और न्याय के नाम पर लाखों कटते और करोड़ों ही घर तवाह होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

गत विश्वव्यापी युद्ध सम्य जातियों की इसी मक्कारी का परिणाम था। उस युद्ध ने लाखों राडें बैठा दीं, शायद दो करोड़ के लगभग देवियों को व्यचारिणी बना दिया, दो करोड़ के लगभग मजदूरी-पेशा लोगों को रोटी से भी लाचार कर दिया और कई राष्ट्रों को असहाय बना दिया। परन्तु कोई भी रोग बिना किसी उत्तम नतीजे के नहीं आता और न कोई ऐसी आंधी है जो कुछ अच्छी वस्तुओं का नाश करने के साथ-साथ ही बड़े संचारी रोगों को भी जड़ से उखाड़ कर न बहा ले जाय।

“बौलशैविज्म” इसी प्रकार की बड़ी आंधी है। इस बौलशैविज्म का पिता यही विश्वव्यापी युद्ध था। एक शताब्दी से अधिक समय हो गया था कि रूस की ‘जारशाही’ ने करोड़ों को दास और अन्त्यज बना छोड़ा था। पचासों यत्न उसके विरुद्ध किये गये, परन्तु ‘जारशाही’ का बाल-बाँका न हुआ। उधर बौलशैविज्म की ज्वाला उठी और एक लपेट में ही उसने जारशाही को भस्म कर दिया। जर्मनी में ‘कैसरशाही’ से छूटने की किसको आशा थी? क्या कोई इनकार कर सकता है कि कैसरशाही की इतिश्री उस बौलशैविज्म की स्पिरिट ने ही नहीं की जिसने सारे संसार को ही दहला छोड़ा है? मध्य एशिया के दसों छोटे-छोटे राष्ट्रों को एक सत्तात्मक राज्य की गुलामी से छुड़ा कर इसी ने स्वतन्त्रता की सीधी सड़क पर चला दिया है। बौलशैविज्म एक महता शक्ति है, जिसने अपराधी और निष्ठुर राष्ट्रों को भस्म करने का ठेका लिया हुआ है। जिसने इसके आगे द्धिर उठाया, उसी को इसने कुचल दिया। सचमुच

बौलशैविज्म परमेश्वर के न्याय-नियम का एक स्वाभाविक हथियार है, जिसका धर्म संसार से अन्याय और अधर्म का सशोधन करना है। पाप के घने जङ्गल के लिये बौलशैविज्म जलती हुई आग है। इसका काम नाश करना है।

परन्तु जब आग से जङ्गल जला दिया गया तो फिर उसमें उत्तम बीज बोकर खेती उपजाने की जरूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान स्वार्थ और भोग के पापमय जङ्गल को बौलशैविज्म की ज्वाला जला कर राख कर देगी। परन्तु उस निराधार सूखे जङ्गल में जनता कहाँ सिर छिपायेगी ? वहाँ तो धूप, वर्षा और शीत से बचने के लिए साधारण छाया भी नहीं रही, फिर मनुष्य कैसे जियेगे ? क्या प्रकृति की समाप्ति के साथ मनुष्यों की भी समाप्ति न हो जायेगी ? इस प्रश्न का उत्तर बौलशैविज्म के पास नहीं है। जङ्गल जब साफ हो गया तब चतुर माली का काम है कि भूमि को जोत कर उत्तम बीज बाना आरम्भ करे और जङ्गल को लहलहाती वाटिका में बदल दे।

वह माली वेद है, और उसकी क्रिया वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था है। एक प्रकार से सारी मनुष्य-जनता को चार आश्रमों में विभक्त करना चाहिए, इसी में कल्याण है। वेद के उपदेश पर अमल करते हुए हमारे प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के जीवन को चार भागों से विभक्त किया। साधारण मनुष्य की आयु १०० वर्ष की कल्पना करके पहिले २५ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम के लिये सु-क्षित कर दिये जिससे प्रत्येक बालक पूरी तैयारी करके गृहस्थाश्रम रूपी युद्ध में सम्मिलित हो सके। दूसरे २५ वर्ष, गृहस्थाश्रम में दस से अधिक सन्तान उत्पन्न न करते हुए संसार का प्रबन्ध चलाने के लिये निश्चित कर दिये। तीसरे आश्रम में २५ वर्ष तक ब्रह्म-प्राप्ति के साधन और सन्तान को उपदेश करने के लिए

तैयारी । और अन्तिम २५ वर्षों में निडर होकर धर्म मार्ग में सर्वसाधारण को दृढ़ करने का अधिकार । इस नियम को पालन करने के लिये और इस प्रकार भोग और स्वार्थ के जीवन से बचने के लिए वैदिक वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद डाली गई ।

वेद में वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा एक अलङ्कार से समझाई गई है । मनुष्य समाज को एक पुरुष मानकर वेद बतलाता है, कि उस विराट् पुरुष के—

“ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्याः प्रदम्याभू शूद्रोऽजायत ॥”

ब्राह्मण शिर, क्षत्रिय भुजा तुल्य हैं, वैश्य ऊरु है और शूद्र पैर हैं । मनुष्य के शरीर के तीन जोड़ हैं—(१) गले का, (२) छाती से नीचे का, (३) जङ्घा के नीचे गोड़े का । ये तीन जोड़ मनुष्य के शरीर को चार भागों में विभक्त करते हैं । गले के ऊपर का भाग सिर कहलाता है, इसी भाग में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । छठा प्राण और सातवीं एक ही कर्मेन्द्रिय अर्थात् वाणी है । तृण से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त और पृथ्वी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त जितना भी ज्ञान है वह पाँचों इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है और इसी भाग में वह कर्मेन्द्रिय है, जिसके द्वारा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है । फिर सारे शरीर के पालन-पोषण के लिए जिस भोजन की आवश्यकता होती है वह भी इसी भाग में पिस कर प्राण की सहायता से सारे शरीर में फैल जाता है, परन्तु प्राण उसमें से अपने लिये कुछ भी नहीं रखता । तब ब्राह्मण कौन है ? वही जो मनुष्य-समाज के अन्दर शिर का प्रतिनिधि है, अर्थात् जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपनी सारी शक्तियों से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है और वाणी द्वारा उसका ज्यों का त्यों उपदेश अन्य मनुष्यों के लिए कर देता है । इतना ही नहीं प्रत्युत सारे

संसार के लिए अर्थ-प्राप्ति के साधन बतलाता हुआ अपने लिए कुछ नहीं रखता । और न मानापमान के रोग से ग्रस्त होता है ।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना तो ब्राह्मण का काम है ही, इसके साथ ही अर्थ-संग्रह करने से उसको सर्वथा अलग रहना चाहिए । ब्राह्मण की कोई जायदाद नहीं होती, उसके पास धन जमा नहीं होना चाहिए, तथा अपने परिवार के भी निर्वाह की चिन्ता न होनी चाहिए । धर्मात्मा पुरुषों के दान पर ही उसकी आजीविका निर्भर होगी । मनुष्य-समाज में ऐसे ही पुरुष शिक्षक [टीचर्स] धर्म प्रचारक [प्रोचर्स] और धर्मशास्त्र-निर्माता अर्थात् स्मृतिकार होने चाहिए । जहाँ उपर्युक्त तीनों काम करने वाले अपनी जुदी जायदाद और सम्पत्ति रखने वाले होंगे, वहाँ सच्ची शिक्षा और सच्चे धर्म का फैलाना दुस्तर हो जायगा । अर्थी कहीं निष्पक्ष होकर धर्म का प्रचार नहीं कर सकता । जैसे मनुष्य-देह के शिर के स्वार्थी होने से सारा शरीर विकारी हो जाता है वैसे ही मनुष्य-समाज में ब्राह्मण के स्वार्थी होने से सारा समाज अपने आदर्श से गिर जाता है । ब्राह्मण को केवल अपने कर्तव्य-पालन पर ही सन्तोष होना चाहिए और उसे किसी भी लालच से काम करने के प्रलोभन में फँसना न चाहिए ।

अभी कल की बात है कि नये संशोधित राज-नियमों के अनुसार जिन राजसभाओं का निर्माण हुआ है उनमें से संयुक्त प्रान्तीय राजसभा के सभासदों ने गवर्नर से यह प्रार्थना की कि सभा के अधिवेशन की ऐसी तिथियाँ रक्खी जायें जिससे वकील, जमींदार, व्यापारी आदि सभासदों को अपनी अर्थ प्राप्ति के लिये भी समय मिल सके । जिन सम्यों के ऐसे विचार हैं उनके सामने जब कोई कानून बनाने का प्रश्न आवेगा तो क्या उनका ध्यान सबसे पहले अपनी जायदाद और सम्पत्ति की ओर नहीं

जायेगा ? और क्या अपनी आर्थिक हानि-लाभ का ख्याल वे सर्वथा छोड़ देंगे ? यह तो इस समय की बात है, परन्तु जब पूरा स्वराज्य मिल गया तब भी यदि कानून बनाने वाले वर्तमान नियमों पर ही चुने गये तो देश की अवस्थाओं में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आवेगा ।

मनुष्य के शरीर में जो काम बाहू का है वही मनुष्य समाज में क्षत्रिय का होना चाहिए । शरीर के अन्दर से जो दुःख उठे अर्थात् शरीर पर जो अन्दर से आक्रमण हों उनका इलाज जहाँ बाहू द्वारा होता है, वहाँ बाहर से जो आक्रमण शरीर के किसी भाग पर हों उनसे भी रक्षा करना बाहू का ही काम है । इसी प्रकार मनुष्य-समाज के ऊपर, अन्दर और बाहर से होने वाले आक्रमणों का निवारण करना क्षत्रिय का धर्म है । जिस प्रकार बाहू शिर से शिक्षा पाकर और उसी की बतलाई हुई विधि से राष्ट्ररूपी देह की रक्षा करता है, बाहू अन्दर गये भोजन में से केवल अपने आपको दृढ़ रखने के लिए जरा सा भाग रख लेता है, जमा कुछ नहीं रखता, इसी प्रकार क्षत्रिय भी अधिकार मात्र लिया करता है और अपना सारा ही बल राष्ट्र की रक्षा में लगा देता है ।

ऊरु-स्थानीय वैश्य स्पष्ट ही है । शरीर के पालन-पोषण के लिए जो भोजन अन्दर जाता है उसे ही खींच लेता है और फिर सारे भोजन को आमाशय में पका कर उसका रस सारे शरीर में पहुँचाता है और फोक को बाहर निकाल कर फेंक देता है । सारे शरीर के पालन के लिए सम्पत्ति उसी के पास जमा रहती है । यही कर्तव्य एक राष्ट्र में वैश्य का होना चाहिए । घनाढ्य भी वैश्य ही होने चाहिए, परन्तु वह घन उनके अपने स्वार्थ के लिये नहीं है । यदि ऊरु सारा भोजन अपने लिये ही रख छोड़े तो न केवल शरीर के अन्य विभागों

को ही निर्बल कर देगा अपितु अजीर्ण से अपना भी नाश कर लेगा । इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र में वैश्य स्वार्थी होकर अपने लिये धन जमा करें, तो जहाँ राष्ट्र के दूसरे भागों को वे निर्बल कर देंगे वहाँ जनता बौलशेविक बन कर खड़ी हो जायगी और वैश्यों का सर्वनाश कर देगी । वैश्य का सारा धन और सम्पत्ति जनता के लिये अमानत समझनी चाहिए । [यहाँ वैश्य से अभि-प्राय किसी जन्मगत जाति विशेष से नहीं, वरन् कृषि, गोपालन और व्यापार आदि द्वारा राष्ट्र में धनोर्गर्जन करने वालों से है]

शूद्र पाद स्थानीय है । शिर, बाहू और ऊरु के सभी कामों में सहायक पैर ही होता है । इसी प्रकार राष्ट्र में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय के सब कामों को सिद्ध कराने वाला शूद्र ही साधन होगा । पाँव यदि स्वस्थ नहीं हैं तो शिर, बाहू, ऊरु अपने कर्त्तव्य-कर्म का पालन नहीं कर सकते । जिस प्रकार सब अङ्गों के स्वस्थ रहने पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है, उसी प्रकार राष्ट्र में सब वर्णों के अपने धर्म में स्थित रहने पर ही राष्ट्र का कल्याण हो सकता है ।

यह वैदिक वर्ण-व्यवस्था है जिसको पुनरुज्जीवित करने से बौलशेविज्म से उजड़ा और सड़ा हुआ संसार फिर से हरा-भरा वाग बन सकता है । इस वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार जब तक न होगा तब तक विदेशियों के सर्वथा बाहर निकल जाने से भी भारतवर्ष का वर्तमान दासता से उद्धार नहीं हो सकता । परन्तु संसार में वर्णाश्रम-धर्म फिर से स्थापन कौन कर सकता है ?

आर्यसमाज का ही अधिकार है—

—कि वह वैदिक वर्ण-व्यवस्था की पुनः स्थापना करे ।
अधिकार ही क्यों, उसका कर्त्तव्य है ।

ओ३३

: १ :

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।

नमो भरन्त एमसि ॥

ऋ० अ० १ । व० २ । मं० ७ ॥

शब्दार्थ— (अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (धिया) ज्ञान प्रकाश के लिये (वयम्) हम सब (त्वा) आपकी (दिवे दिवे, दोषा वस्तः) प्रतिदिन रात और प्रभात में (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हुए विनय के साथ (उप एमसि) उपासना करते हैं ।

उपदेश— धन्य आपकी दया की वृष्टि ! हम तुच्छ आत्मा, जिससे आप किसी प्रकार की सेवा की अपेक्षा नहीं रखते उस पर ऐसी अपार दया ! आपने नेत्र देकर हमें इस योग्य बनाया कि हम आज आपकी विस्तृत सृष्टि में आपकी रचना देख आपके महान् यज्ञ के सम्मुख विस्मित हो रहे हैं । आपने कर्ण देकर हमें उस उपदेश को श्रवण करने योग्य बनाया जिसके श्रवण बिना कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान की वृद्धि कर आत्मज्ञानी नहीं बन सकता एवं आपकी महिमा को नहीं जान सकता ।

प्रभो ! आपने जो वाणी दी है उससे उपदेश कर हम सहस्रों आत्माओं का हृदयान्ध दूर कर एवं पुण्यभागी बन आपका साक्षात् दर्शन पाने के लिये प्रार्थना कर सकते हैं । जिसमें ये इन्द्रियाँ बनी रहें, आपने यह शरीर रूप यन्त्र कैसा अद्भुत बनाया है ? उदान वायु के द्वारा अन्न पान भीतर जाता है, जिसके विकृत भाग को अपान वायु बहिष्कृत करता है और सार भाग को समान वायु रक्त में परिणम करता हुआ लक्षों नाडियों में विस्तृत

कर देता है। इस रक्त के विकार को प्राण वायु फेफड़ों द्वारा बारम्बार परिशुद्ध करता हुआ उसे शरीरावयवों के पोषण के उपयुक्त बनाता है जिससे इस शरीर रूप मन्त्र में बैठा हुआ आत्मा अपने कार्यों को सिद्ध करता रहता है। भगवन ! एक क्षण भी तो ऐसा नहीं है जिसमें आपकी कृपा का फल हम न भोगते हों। प्रति श्वास हम आपका ही वायु लेकर सुखी होते हैं फिर प्रति श्वास में आपको नमस्कार क्यों न करें ? इस पृथिवी के छोटे २ कण वियुक्तावस्था में हमारे व्यवहार के अयोग्य थे। आपने उन्हें पृथिवी रूप में परिणित कर और इस पृथिवी पर नाना प्रकार के फल-फूल कन्दमूल उत्पन्न कर हमारी रसना के द्वारा हमें कितना सुख पहुँचाया है ?

पितः ! पुत्रवत् हमें पोषण करने वाले ! आपकी असीम कृपाओं का कहां तक हम वर्णन करें ? सच्चे सम्बन्धी तो आपही हमारे हैं। पूर्व जन्म के शरीर, स्थान, प्यारे पिता माता सभी से सम्बन्ध टूट गया परन्तु आपकी कृपामय शरण में जिस प्रकार पूर्व जन्म में सुख भोगते थे उसी प्रकार इस जन्म में भी भोग रहे हैं। आप जैसे दयामय पिता का एक बार दर्शन पाते ! आप हैं तो हमारे आत्मा में ही विद्यमान, परन्तु हाय ! हमारे पाप इतने बढ़े कि हम अपने में ही आप का दर्शन नहीं पाते। अनात्मा में फंसकर हमने आत्म स्वरूप को विस्मृत कर दिया है। पिता ! प्रकृति की ओर से ध्यान खींच लेने की शक्ति प्रदान करो, जिसमें आत्मस्थ होकर हम अपने में ही आपको पा जावें और फिर प्रतिदिन आप ही की उपासना करते रहें।

प्यारे पाठक गण ! प्राणायाम से मन को शिथिल कर प्रत्याहार और धारणा की साधना कीजिये। हम, न अन्नमय कोष हैं, न मनोमय कोष और न ज्ञानेन्द्रियाँ, प्रत्युत् हम हैं एक

सूक्ष्म चेतन सत्ता । हमें अपने में ही अपने प्रभु को खोजना है
अतएव हम अपने प्रभु के ध्यान में कैसे निमग्न हों जब तक कि
हम प्रकृति का ध्यान न छोड़ दें । क्या हम अपने मनुष्य जीवन
को यों ही बीतने दें और अपने प्रभु को हृदययज्ञम न करें ?

२ :

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमश्चदेवतम् ।

पतिं पतीनां परमं पुरस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

—श्वेताश्वेतरोपनिषद् अ० ६ म० ७

शब्दार्थ—(ईश्वराणाम्) शक्तिमानों में (तं परमं महेश्वरम्)
उस परम शक्ति (देवतानां) देवताओं में (तंपरमं देवतम्) उस
बड़े देव (पतीनां) रक्षकों में (तं परमं पतिम्) उस परम रक्षक
(भुवनेशम्) सारे संसार के मालिक (ईड्यम्) स्तुति योग्य (देवम्)
देव को (पुरस्तात्) सर्व प्रथम (विदाम) हम जानें ।

उपदेश—क्या वह पुरुष जिसे अपनी शक्तियाँ प्रयोग में लाने
का मौका ही नहीं मिला या वह जो सचाई के मार्ग से भटका
हुआ है जिसने अपनी शक्तियों को अनुचित रूप से प्रयोग किया
है ? क्या वह कभी भी सर्वशक्तियों के मालिक को जान सकता
है ? पहले इसके कि सर्वशक्तिमान् की महानता को समझाने का
साहस कर सके, मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह स्वयं,
शक्ति की महानता को अनुभव करके उसका उचित प्रयोग
सीखे और उस पर आचरण करे । कौन मनुष्य है जिसे ताकत
अन्धा नहीं कर देती ?

“अस नर को उपज्यो जग माहीं । प्रभुता पाव जाहि मद नाहीं ।”

मनन शील, सच्चा मनुष्य वही है जिसने ताकत के
रहस्य को समझा है । इन्द्रियों की दासता में फँसे हुये, विषयों

को मजबूत जंजीरों के अन्दर जकड़े हुये, पशु भाव को प्राप्त हुये पुरुष अविद्या के गढ़े में गिर कर समझ लेते हैं कि विषयों को अन्वाद्युन्व भोगना ही ताकत का प्रगट करना है। जिन वीर पुरुषों ने अपने मन को हर प्रकार के मल विक्षेप और आवरण से पृथक् करके परमपिता के केवल चौथे जागृत पाद पर ही विचार किया है और इसकी विचित्र महिमा के लेशमात्र भी दर्शन किये हैं, उनका अनुभव है कि आनन्द ताकत को नष्ट करने में नहीं है, अपितु उसके सुरक्षित रखने के अन्दर ही सच्चा आनन्द है। परमात्मा क्यों आनन्द स्वरूप है ? इसलिये कि सांसारिक कर्म बन्धन के अन्दर फंसना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अतः सामर्थ्य के अभिलाषियों के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि परम शक्तिमान् परमात्मा के शक्ति स्वरूप को अनुभव करने का प्रयत्न करे।

फिर उस परमात्मा के दैवीय स्वरूप के दर्शन कौन कर सकता है ? जो स्वयं प्रकाश से अलग रहता है, जिसने अपनी आयु अन्धेरे में नष्ट की है, वह सब प्रकाशकों के प्रकाशक, महादेव को कैसे जान सकता है ? प्रकाशस्वरूप तक पहुँचने के लिये सबसे पहले हृदय के अन्दर प्रकाश को धारण करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। किस शीशे के अन्दर प्रकाश का ठीक यथार्थ प्रकाश होता है ? उसके अन्दर नहीं जिसके मुँह पर मैल ने चमक ही बाकी नहीं छोड़ी ? परम रक्षक परमात्मा को किसने समझा है ? जिसने दीनों को दबाने में अपनी शक्ति को नष्ट किया है और अनाथों के लूटने में ही पुरुषार्थ को खचं किया है वह रक्षा-धर्म को क्या समझ सकता है ? जिसकी हम-दर्दी का क्षेत्र विस्तृत नहीं हुआ ? जिसने मनुष्यों को ही केवल अपना भाई समझकर बेजवान पशु पक्षियों की गर्दन पर बिना कारण छुरी चलाना अपना हक समझा हुआ है, वह क्या समझ

सकता है ?' परमात्मा की उस शक्ति को, जिसके द्वारा वह सारे संसार की रक्षा करते हैं ? किसने समझा है ? संसार में अनगिनत मनुष्य हैं जो मन द्वारा शक्ति के पृथक्-पृथक् पहलुओं पर विचार कर सकते हैं लेकिन उनके अन्दर एक मूखं नेकनियत इन्सान जितनी शक्ति भी नहीं है। रुकड़ों दार्शनिक विद्वान् हैं जो आकाश के हरेक बाह्य प्रकाश को बड़ी खूबी से बयान कर सकते हैं। परन्तु यदि वे अपने मन के अन्दर के भावों को प्रगट करें, तो उसके अन्धकार का केवल विचार करने से ही शरीर कांप उठता है। मैंने हजारों सुडौल और दृढ़ शरीर धारी देखे जो कुश्ती के हर किस्म के दाव पेच में निपुणता रखते हुये भी दूसरों की तो और रही, अपने शरीर की रक्षा के योग्य भी न सिद्ध हुये। इसका कारण क्या है ? यही कि केवल ज्ञान से उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि जब उसके साथ साधन और कर्तव्य सम्मिलित हो जायें, तब मनुष्य जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करता है। विद्या बिना आचरण के, बजाय सुख के दुःख का साधन बन जाती है। इसलिये अगर शक्तिमान्, प्रकाशस्वरूप, परमरक्षक परमात्मा तक पहुँचना है तो शक्ति प्रकाश और रक्षा धर्म को अपने अन्दर धारण करो।

: ३ :

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शीचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥

—गीता १७।२४

शब्दार्थ—(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्) बुद्धिमान्, द्विजों, गुरु और विद्वानों की पूजा, (शीचम्) शारीरिक पवित्रता, (आर्जवम्) अङ्ग सीधे रखना, (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यं, (अहिंसा

च) और अहिंसा का पालन, (शरीर) यह पांच शारीरिक (तप उच्यते) तप कहलाते हैं ।

उपदेश—तप की महिमा प्राचीन ऋषियों ने अपने शास्त्रों में स्थान-स्थान पर की है । वेदों की व्याख्या करते हुये, एकान्त में बैठे हुए अपने शिष्यों को ब्रह्माण्ड का रहस्य बतलाते हुये वे यही समझाते थे कि सृष्टि की उत्पत्ति में भी तप का ही बड़ा भारी हाथ है । तप कहते हैं असीम, दृढ़ता को । और परमात्मा के उसी गुण का परिणाम प्रकृति का सृष्टि रूप मानना है । यह तप का विचार यहाँ तक आर्यों के अन्दर घर कर चुका था कि पौराणिक घोर अन्धकार के समय में भी पार्वती के तप का जिक्र करते हुए तुलसीदास ने निम्नलिखित चौपाई नारद के मुँह से पार्वती के उपदेश के लिये कहलायी है:—

‘तप बल रचिय प्रपंच विधाता । तप बल विश्व सकल जगन्नाता ।
तप बल शम्भु करें संहारा । तप बल शीश धरें महि भारा ।
“तप अघार सब सृष्टि भवानी । करहु जाय तप यह जिय जानी”

सारा ब्रह्माण्ड ही तप के सहारे सड़ा है, महामुनि पतञ्जलि ने अपने योगशास्त्र में दूसरे क्रिया ‘नियम’ का वर्णन करते हुये तप की प्रधानता जतलायी है । अतः जीवन उद्देश्य रूपी लक्ष्य के मार्ग पर चलने के अभिलाषियों के लिये आवश्यक है कि वह सबसे पहले तप की असलियत को समझें । मालूम रहे कि वेद धर्म के अनुयायी, सदैव से प्रत्येक कर्त्तव्य को तीन भागों में बाँटते हैं; अर्थात् मन, वाणी और कर्म सम्बन्धी । सबसे पहले शारीरिक तप का वर्णन कृष्ण भगवान् ने किया है और वह इसलिये कि अभ्यास के लिये शारीरिक तप सबसे सुगम है । सबसे पहले बुद्धिमान् द्विजों की पूजा लिखी है और वह इसलिये कि द्विज दो जन्मों के कारण सर्वसाधारण से बुद्धिमान् होंगे । गुरु की पूजा और फिर अन्य विद्वानों की पूजा, चाहे वे जन्म से

कैसे ही क्यों न हों। इन तीन प्रकार के मनन करने वाले विद्वानों की पूजा का अभ्यास इसलिए करना चाहिये, ताकि जहां एक तरफ अभिमान का नाश हो, वहां दूसरी तरफ ऐसे तपस्वी मनुष्यों के सत्सङ्ग से अपने में अच्छे गुण आवें। यही कारण था कि गुरु की शारीरिक सेवा को विद्यार्थी के कर्त्तव्य-कर्मों में से बहुत बड़ा कर्त्तव्य-कर्म बतलाया जाता था। अपने गुरु श्री स्वामी विरजानन्द जी के स्नान के लिये महान् दयानन्द का स्वयं प्रेम से जमुना जल भर कर लाना, इसी नियम पर आश्रित था। अपने शरीर से दूसरे की सेवा करना, यह शारीरिक तप का आरम्भ है। जो सेवक नहीं बना वह कभी प्रभु नहीं बन सकता। इसका स्पष्ट परिणाम यही होगा कि शारीरिक पवित्रता, स्वयमेव मनुष्य में पहुँच जायेगी। पवित्र मनुष्यों की सङ्गति में रह कर मनुष्यों को पवित्र रहने के लिये किसी मौखिक उपदेश लेने की आवश्यकता नहीं रहती। जब सत्सङ्ग में रहकर मनुष्य के अन्दर शारीरिक पवित्रता का गुण आ जाता है तब उसके लिये अपने अङ्गों को सरल सीधा रखना कठिन नहीं रहता। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि अङ्गों को सरल सीधा रखने का जीवन के उद्देश्य से क्या सम्बन्ध है? इसके समझने के लिये अहिंसा व्रत के धारण की आवश्यकता है। बाँकेपन से रहने का धर्म से बड़ा भारी वैर है। जो अकड़ कर चलता है और दिखावे का आदी है, वह किसी न किसी प्राणी का दिल दुखाये बिना नहीं रह सकता। अहिंसा का पालन कठिन है, जब तक मनुष्य वीर्य रक्षा नहीं कर सकता।

बस, जीवन उद्देश्य की ओर ले चलने के लिये जिस प्रकार सामग्री जीवात्मा को मिली है उसमें इस शरीर का साधारण दर्जा है। उसे ठीक रखना मुमुक्षु का पहला कर्त्तव्य है। इसका अभ्यास करना यद्यपि कठिन है परन्तु आरम्भ करने

पर उसके अन्दर स्वयं सफलता हो जाती है। सबसे पहले चतु-
रता के साथ गुरु और विद्वानों की तलाश करनी चाहिये। यदि
परखने से कसौटी पर ठीक उतरे तो उनके सत्सङ्ग के योग्य
बनने का यत्न करना चाहिए। मान अपमान का विचार त्याग
करके ऐसे महापुरुषों की शारीरिक सेवा करते हुए, धीरे-धीरे
अपने शरीर को शुद्ध रखने का स्वभाव पड़ जायेगा। ऐसे
भालस्य का ख्याल छोड़ देना चाहिए कि सर्दी की ऋतु में एक
दिन न स्नान करने से क्या बिगड़ सकता है। एक दिन के व्या-
याम छोड़ने से क्या हानि हो सकती है। एक बार अशुद्ध अन्न
खाने से क्या बिगाड़ हो सकता है। नियम पूर्वक शरीर के सब
अङ्गों को शुद्ध रखना चाहिये और फिर बाँकेपन को छोड़कर
शरीर को सरल सीधा रखने का स्वभाव डालना चाहिये। इससे
ब्रह्मचर्य की रक्षा में भी बहुत सहारा मिलेगा। अनुभव बतलाता
है कि जिनके शरीर शुद्ध हैं उनके मन भी बहुत हद तक शुद्ध
रह कर, काम चेष्टा को रोकने का साधन सिद्ध होते हैं। जब
देवपूजा से शुद्ध होकर मनुष्य अपने अङ्ग-गत्यङ्गों को वश में
रखता हुआ वीर्य रक्षा करके बलिष्ठ होगा, तब उसके लिये
अहिंसा धर्म का पालन एक स्वाभाविक बात हो जायगी। उसे
सारे संसार को मित्र बनाने में किसी परिश्रम की आवश्यकता
न होगी।

— ४ —

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायः म्भसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

— गीता १७।१५ ॥

शब्दार्थ - (अनुद्वेगकरम्) कठोरता से रहित (सत्यम् प्रियहितं च, सत्य, प्रिय तथा हितकारी (यत् वाक्यम्) वचन ओलना (च) और (स्वाध्यायाम्यसनम्) नियम से उत्तम ग्रन्थों का पाठ करना (वीड्मयं तपः) यह वाणी का तप (उच्यते) कहलाता है ।

उपदेश - शारीरिक तप जहाँ अपने आप तक सीमित रहता है वहाँ वाणी का तप अपना क्षेत्र विस्तृत कर लेता है । वाणी का सम्बन्ध दूसरे प्राणियों से अधिक रहता है । पहली विशेषता वाणी के तप की यह है कि ऐसा तपस्वी जो शब्द मुँह से निकाले उसमें कठोरता का लेशमात्र न हो । वाणी साधन है, एक मनुष्य के विचारों को दूसरे के मन तक पहुँचाने का । किन्तु कठोर वचन से बोलने का असल अभिप्राय नष्ट हो जाता है । जिस मनुष्य तक तुम किसी सच्चाई को पहुँचाना चाहते हो, अगर वह तुम्हारी बात सुनने के लिये तैयार ही नहीं होता तो तुम्हारे बात करने का क्या लाभ ? किन्तु केवल कठोर वचन को छोड़ने से ही लाभ नहीं निकलता । कठोर बोलने से तुम्हारे झुटकारे का केवल परिणाम यही हो सकता है कि तुम्हारे भाषण से दूसरा घृणा न करेगा । परन्तु मतलब उस समय तक सिद्ध नहीं होता जब तक वह मनुष्य जिसे तुम अपनी बात सुनाना चाहते हो तुम्हारी तरफ आकृष्ट न हो जावे । इस आकर्षण का कारण क्या हो सकता है ? किस आचरण से दूसरे मनुष्य की रुचि स्वयं तुम्हारी ओर खिच सकती है । विशेष पुरुषों के भाषण में विशेष प्रकार का रस होता है, इसके कारण उनका कठोर भाषण भी सुनने के लिए लोग मजबूर हो जाते हैं । इसका रहस्य क्या है ?

कृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं, अपनी वाणी को प्रिय बनाओ । प्रेम भाव उसके अन्दर कूट-कूटकर भर दो । फिर

मनुष्यों के दिल तुम्हारे कथन की तरफ स्वयं खिंचे चले आवेंगे । जिस कथन में यह शक्ति है कि तुमसे समाज को दूर फेंक दे उसी में यह शक्ति भी है कि वह हृदयों को खींच कर तुम्हें सौंप दे ।

माना कि कथन में सख्ती न होनी चाहिए और यह भी मान लिया कि तुमने अपने कथन को दूसरों के लिए प्यारा बना दिया परन्तु जब तक वह कथन हितकारी नहीं, जब तक मनुष्य की भलाई के हेतु से नहीं बोला जाता तब तक उसका वास्तविक फल तुमको नहीं मिल सकता । संसार में बड़े-बड़े मधुर भाषी हो चुके हैं, जिनके मधुर भाषण का सारा ल मनुष्यों की उन्नति में लगता रहा है । जिस तरह विद्या क प्रबल शक्ति है उसी तरह वाणी भी एक प्रबल शक्ति है, जिसके द्वारा विद्या का प्रकाश होता है । परन्तु जिस तरह विद्या एक दो धारा वाली तलवार की तरह दोनों तरफ चलती है, वही अवस्था वाणी की है । स्वार्थ सिद्धि के लिये कही हुई प्रिय वाणी संसार में हलचल मचा देती है । परन्तु वही प्रिय वाणी जब संसार के उपकार के लिए बोली जाती है तो अनगिनत मनुष्यों के लिए शान्ति का कारण होती है । सत्य यह है कि स्वार्थ सिद्धि के लिए बोली हुई वाणी चाहे कैसी ही प्रिय क्यों न हो, उसका बल केवल दिखलावे का ही होता है, उसका प्रभाव देर तक नहीं रहता । किन्तु जिस वाणी का प्रयोग प्राणिधारियों के लिये होता है उसके अन्दर स्वाभाविक बड़ा बल है । क्या वाणी की विशेषतायें यहाँ तक ही समाप्त हो जाती हैं ? बिल्कुल नहीं । चाहे वाणी कैसी भी कठोरता से रहित हो, चाहे कैसी ही प्यारी और कितना ही परोपकार करने वाली हो, अगर उसकी नींव सत्य पर नहीं है तो वह मनुष्य का कर्तव्य कर्म नहीं है ।

वह सत्य जिस पर सारा ब्रह्माण्ड आश्रित है, वही वाणी का भी आधार है । प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है—“क्या दुःखित

मनुष्य के सन्मुख सत्य बोलकर उसे और दुःखित करना हित हला सकता है ?" यह प्रश्न अविद्या के कारण हम मनुष्यों के हृदयों के अन्दर उठता है। यह समझना हमें कठिन नहीं है। जो सत्य नहीं वह सर्व हित के लिए कैसे हो सकता है ? हितकारी क्या है ? हम यहाँ तक तो पता नहीं लगा सकते कि हमारे लिये क्या हितकारी है। फिर यह पता लगाना कैसा कठिन है कि दूसरों के लिये हितकारी क्या है ? इसलिये हरेक वाणी को उचित अनुमान लगाने के लिये उसे केवल सत्य की कसौटी पर रखना ही पर्याप्त है। अगर सत्य बोलने के लिये वाणी में सख्ती का आना आवश्यक है तो आने दो किन्तु सचाई को विशेष मनुष्य के हित के लिये कभी भी न्यौछावर न करो, यह ऋषियों का उपदेश है। उपदेश बड़ा लाभकारी है ! किन्तु इस पर चलें कैसे ? इसका उत्तर ऋषि मुनि सदैव से एक ही देते आये हैं। जिस तरह दूसरे कर्तव्य कर्मों में दृढ़ होने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है उसी तरह वाणी भी तभी ठीक हो सकती है जब कि उसकी पवित्रता के लिये विशेष अभ्यास किया जावे। और वह स्वाध्याय से बढ़कर और अभ्यास हो नहीं सकता नित्य वेदों का अर्थ सहित पाठ करना ही स्वाध्याय कहलाता है। आज वेदार्थ का समझना तो दूर रहा आर्यों में से दत्त प्रतिशत भी वेदों का पाठ तक नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में उनको चाहिए कि ऋषि प्रणीत धर्मग्रन्थों का पाठ नियम से करें।

प्रातः काल ब्राह्म मुहुर्त में उठकर शारीरिक व्यायाम और स्नान के पश्चात् पहला कार्य ब्रह्मयज्ञ है। परमात्मा के सत्सङ्ग से मन को स्थिर करके शारीरिक स्वास्थ्य के लिये देवयज्ञ अथवा अग्नि होत्र के पश्चात् स्वाध्याय का समय है। यदि और धर्मग्रन्थ नहीं समझ सकते तो न्यून से न्यून जिस भाषा को समझ

सकते हैं उसमें लिखे हुए सत्पुरुषों के उपदेश का पाठ अवश्य किया करें। आर्यसमाज के सदस्यों के लिये ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका रास्ता दिखाने का बड़ा काम दे सकते हैं। जो मनुष्य इससे आगे बढ़ना चाहते हैं वे वेद भाष्य का विचार आरम्भ कर सकते हैं। स्वाध्याय मनुष्य को गिरते-गिरते बचा सकता है। इसलिए वाणी को कठोरता रहित करने, उसे प्रिय हितकारी बनाने और सत्य के सीधे सरल मार्ग से न डगमगाने देने के लिये आवश्यक है कि स्वाध्याय का कभी त्याग न किया जाय। हर देश, प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक समय में महापुरुषों ने स्वाध्याय पर बड़ा भारी बल दिया है। वाणी के तप के बिना शारीरिक तप की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये वाणी को पवित्र करो। उसे सत्य से माँजकर प्रिय और हितकारी बनाओ जिससे संसार के अन्दर सुख और शान्ति का राज्य आवे और हम सब प्रेम पूर्वक एक दूसरे के आत्मिक बल को बढ़ाते हुए मुक्तिधाम में परमानन्द लाभ करने के अधिकारी बन सकें।

—००००—
: ५ :

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

—मनु० अ० १२ श्लोक १४

शब्दार्थ—(मनः प्रसादः) मानसिक प्रसन्नता (सौम्यत्वं) स्वभाव में सौम्यता (मौनम्) मौन (आत्मविनिग्रहः) विषयों से अपने मन को रोकना (भाव संशुद्धिः) नेकनीति से परस्पर वर्ताव (इत्येतन्) यह सब (मानसं तपः) मानसिक तप (उच्यते) कहा जाता है।

उपदेश—मानस तप के बगैर शरीर और वाणी के तप स्थिर नहीं रह सकते क्योंकि मन ही इन सबका आधार है। मन द्वारा ही जीवात्मा वाणी और शरीर पर शासन करता है। सबसे प्रथम मन की प्रसन्नता आवश्यक है। मन को आनन्द जब तक नहीं तब तक इन्द्रियाँ और शरीर समता में नहीं रहते और इसलिये अपने कर्तव्य को पूर्ण नहीं कर सकते। किन्तु मन को आनन्द कैसे हो ? यह प्रश्न प्राचीन सब महा-पुरुषों को चक्कर में डालता रहा और आज उससे ज्यादा भंवर में डाल रहा है। अनुभवी ऋषियों ने बतलाया है कि मन के एकाग्र करने के लिये विशेष साधन आवश्यक हैं।

सबसे पहला कर्तव्य मन के आनन्द के लिये यह है कि मित्रता उनसे की जाय जो वास्तव में सुखी हों। दिखावे के सुख में और वास्तव के सुख में भेद है। सुखी के साथ मित्रता का अभिप्राय, संसार में दुःखियों के प्रति वैर भाव समझा जा सकता है। परन्तु ऋषियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है। वे दुःखी पर दया का आदेश करते हैं। दुःख के कारण जो काम, क्रोध इत्यादि दुर्गुण हैं उनसे जिस कदर घृणा की जाय उचित है। उन्हें जिस कदर दबाया जाय ठीक है। परन्तु जो मनुष्य हमारा भाई इन बुराइयों में फँसकर दुःखी हो रहा है उससे घृणा करना मनुष्यत्व से गिरना है। मानस तप मनुष्य के पद से बढ़ कर देवता के पद पर पहुँचाने का साधन है। इसलिये जिस किसी को दुःखी देखो उस पर दया करो और पूर्ण सहानुभूति से उनके साथ व्यवहार करो। जिस किसी नियतात्मा को देखो उसके आचरण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होओ। उसके साथ एकता का प्रकाश करो। क्या पतिततात्मा को देखकर उससे विरोध तथा घृणा करनी चाहिए ? कदाचित् नहीं। यदि परमात्मा ने तुम्हें शक्ति दी है तो उसे बुरे माग से हटा कर, सीधे माग पर लाने

का यत्न करो। अपने गिरे हुए भाई को उठने के लिये सहारा दो। यदि इतना सामर्थ्य नहीं है तो उससे कोई सम्बन्ध न रखो। इन साधनों को नियम पूर्वक पालने से मन को आनन्द की प्राप्ति हो सकती है और जब मन में आनन्द है तो इन्द्रियाँ भी इधर उधर नहीं हो सकतीं और न ही शरीर की अवस्था इन्द्रियों को अशक्त करने के योग्य हो सकती है।

इस पहले साधन से मन शान्त होकर दूसरों के लिये आकर्षक बन जायगा। स्वभाव के स्व, भाव के आने से संसार को विजय करना कुछ कठिन नहीं होता। दिलों को खींचने की शक्ति मनुष्य को बड़े-बड़े उपकार के लिये तय्यार कर सकती है। इस गुण को अपने अन्दर धारण करने के लिये भी बड़े भारी साधनों की आवश्यकता है। अभ्यास इसका मूल है। तुम्हारा मन चाहे हाथ से जा रहा हो परन्तु यदि आत्मा को दृढ़ करके जाते-जाते मन को भी वश में करने का दृढ़ यत्न हो तो मन काबू में आ सकता है। इस अवस्था में पहुँच कर मौन रहना एक विशेष गुण साबित होता है। यही कारण था कि प्राचीन आर्य ऋषियों की ब्रह्मचारियों को दी अन्य आज्ञाओं में एक यह आज्ञा भी थी कि बोले कम और सुने ज्यादा। एक मौन न केवल हजार अवगुणों पर परदा डालता है बल्कि लाखों मन में आये हुए पापों से बचाता है।

जब तक मनुष्य किसी विचार को मुँह से प्रकट नहीं करता तब तक उस पर आचरण करना उसके लिये रुकावट से खाली नहीं होता। बुराई को बार-बार मुँह से निकालना मनुष्य को लज्जित करता है। न केवल यही बल्कि एक विद्वान् का कथन ठीक है कि मुख से निकला हुआ वचन, धनुष से छूटे हुए तीर की तरह फिर लौटकर नहीं आता। आह! पुरानी घटनाओं को स्मरण कर हरेक मनुष्य कितने समयों की बैमोंका

वार्तालाप से लज्जित होता है और उसके परिणामों को स्मरण कर पश्चात्ताप करता है। जब तक चुप रहने के स्वभाव का अभ्यास नहीं किया जाता तब तक हर समय बोलते की इच्छा बनी रहती है। चुप रहने का बड़ा भारी लाभ यह है कि उसके आचरण से मनुष्य भूल करते-करते रुक जाता है। विषय दिन रात इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं। उनसे बचने का उपाय सिवाय इसके और कोई नहीं है कि मन को वश में किया जाय और मन को वश में करने में मौन बहुत कुछ सहायता देता है, इसी तरह पर जीवन व्यतीत करता हुआ मनुष्य नेक-नियत हो जाता है, जिस पर कि भविष्य की भलाई आश्रित है। क्या सन्देह है कि तप के बिना साधारण से साधारण काम जब सिद्ध नहीं होता तो जीवन का सञ्च उद्देश्य कब पूर्ण हो सकता है। जिस तप के प्रभाव से बड़े-बड़े चक्रवर्ती महाराजे करोड़ों के भाग्य का निर्णय करते हैं, जिस तप के प्रभाव से योगीजन अमृत-धाम की ओर चलते हैं, उसके प्रभाव को जिसने नहीं समझा और उसके नियमों के पालन करने में जिसने अपना सारा बल नहीं लगाया, वह संसार के भँवर चक्कर से कैसे निकल सकता है ?

; ६ :

श्रद्धया परमा तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

—गीता १२. १५

शब्दार्थ—(अफलाकाङ्क्षिभिः नरैः) निष्काम भाव से बिना फल की इच्छा के, जो मनुष्य (त्रिविधं तत् तपः) पहले वर्णन किये गये शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तप को (परमा श्रद्धया)

परम श्रद्धा के साथ (तप्तम्) सेवन करते हैं (युक्तः) आचरण-शील विद्वान् (सात्त्विकम् परिचक्षते) उस तप को सात्त्विक तप कहते हैं ।

उपदेश—'शरीर' 'वाणी' और मन तीनों से करने योग्य जो तप हैं उनका सेवन मनुष्य को नित्य करना उचित है । अतः अनुभवी, योगी आदेश देते हैं कि फल भोग की इच्छा को त्याग कर इन तपों का करना जिज्ञासु के आचरण को सात्त्विक कर्म की सीमा तक पहुँचाता है और सात्त्विक कर्म करते हुए ही मनुष्य अन्त में बन्धनों से छूट जाता है । इसलिए निष्काम कर्म करना ही मनुष्य का सबसे पहला धर्म है । सकाम कर्म अर्थात् फल की इच्छा से किया हुआ कर्म तो बराबर नाश होता चला जाता है । जो कर्म सिद्धि की इच्छा से किये जाते हैं, उनका अन्त इसकी प्राप्ति के बाद हो जाता है । इनमें से कोई कर्म भी बाकी नहीं रहता जो मनुष्य को इस संसार से आगे ले चले । परन्तु निष्काम कर्म की महिमा बड़ी है । जो कर्म, फल भोग की इच्छा को छोड़कर किये जाते हैं, उनका बल दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है और अन्ततः इस प्रकार बढ़ जाता है कि बिना इच्छा के ऐसे निष्काम कर्म करने वाले को हर एक प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती है । कृष्ण भगवान् ने स्थान-स्थान पर कर्त्तव्य करने का आदेश देते हुए अर्जुन को समझाया है कि अपने किये हुए कर्मों के फल भोगने की अभिलाषा मत करो ।

सांसारिक राज्य के प्रबन्ध से भी हमें मार्ग दिखलाने के लिये यही शिक्षा मिलती है कि जो राज्य का कर्मचारी किसी विशेष स्वार्थ को लेकर काम करता है उसका वही स्वार्थ पूरा किया जाता है और उससे आगे उसे कुछ नहीं मिलता । परन्तु जो मनुष्य केवल अपने आत्मा को प्रसन्न करने और उसकी आज्ञा का यथार्थ पालन करने को ही अपना उद्देश्य समझता है

उससे जहाँ उसका प्रभु प्रसन्न हो जाता है वहाँ धैर्य वृद्धि, पारितोषक आदि सब काम स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य—परमात्मा के नियमों के पालन, को मुख्य समझता है वह न स्वयं परमात्मा को ही प्राप्त होता है बल्कि जिन सुखों के प्राप्त करने के लिये सांसारिक पुरुष भटकते फिरते थे उनको भी बगैर माँगे हुए प्राप्त कर लेता है। इस संसार में जो इतनी अशान्ति और व्याकुलता फैल रही है उसका बहुत कुछ कारण यह है कि सर्व साधारण पुरुष हर एक काम को सकाम भाव से करते हैं। एक आदमी सच बोलता है। क्या इसलिये कि सच बोलना उसका कर्त्तव्य कर्म है ? कदाचित् नहीं, बल्कि इसलिए कि सत्य बोलने से उसका कोई अभिप्राय सिद्ध होता है।

यह कथन साधारण बात है “मुझे झूठ बोलने से क्या लाभ”? अर्थात् यदि कोई लाभ हो तो झूठ बोलने में भी कोई सङ्कोच नहीं। शोक यह है कि अविद्या में फँसे हुए हम लोग अपने हानि लाभ को नहीं समझते। देश के अन्दर दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है, हजारों लाखों हमारे भाई भूखों मर रहे हैं। क्या हम इसलिए उनकी सहायता के लिए जाते हैं कि उनकी सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है ? यदि यह होता तो हम समाचार पत्रों में तार द्वारा इन खबरों को न छपवाते कि हमने इतने अधिक आदमी दुर्भिक्ष से पीड़ितों के लिए भेजे। भूकम्प ने कांगड़े को नष्ट कर दिया था। चारों ओर से सहायता की पुकार हुई जो मनुष्य दुखियों की सहायता के लिए गये, उन्होंने अपनी प्रसिद्धि का नरसिंहा बड़े बल से फूँका। कई समाजों के सदस्यों ने दुखियों को सहायता देने को अवस्था में अपने चित्र खिचवाये और उन्हें समाचार-पत्रों में छापा। मुझे यह मालूम हुआ कि एक रईस धनाढ्य भी दुखियों की सहायता के लिये गये।

संभवतः कई समाजों से ज्यादा उन्होंने उन्हीं दिनों धन खर्च किया और स्वयं जाकर दुखियों की धन से सहायता की परन्तु न तो उन्होंने अपना नाम कहीं छपवाया और न ही सरकार से खास धन्यवाद प्राप्त करने का यत्न किया। सरल आत्मा ने जो कुछ किया, अपना कर्त्तव्य समझ कर किया। मैंने जब इस भद्र पुरुष का वृत्तान्त सुना, रोमाञ्च हो गया; गद्गद प्रसन्न हुआ।

लोग ख्याल करते हैं कि कर्त्तव्य का पूर्ण करना कठिन है। अनुभव बतलाता है कि इससे बढ़कर आसान और कोई कार्य नहीं। हाँ, साधनों में पड़कर हम लोगों ने स्वयमेव अपने आपको अपने कर्त्तव्य के पालन करने के योग्य नहीं छोड़ा। हम यदि किसी भूखे को रोटी देते हैं तो अपनी प्रशंसा की इच्छा से। अगर किसी परोपकार के काम में सम्मिलित होते हैं तो आशा यह रखते हैं कि जनता की ओर से हमारी सेवा में अभिनन्दन पत्र पेश किया जाय, हमारी सवारी निकाली जाय और सारे संसार में हमें प्रसिद्ध किया जाय। शोक ! हम यह नहीं समझते कि इस प्रकार का दिखावा भी अब ऐसा हो गया है कि अब इसका आम जनता की दृष्टि में कुछ मूल्य नहीं रहा। और देखिये ! ऐसे सकाम भाव से किये कामों में दुःख किस कदर होता है। फल की ओर आँखों का लगा रहना क्या कुछ कम कष्ट है ? जिन्हें फल की अभिलाषा नहीं, वे हर समय प्रसन्न होते हैं। काम करते हैं, उनकी चिन्ता दूर हो जाती है। अपने कर्त्तव्य के पूर्ण करने के बाद उन्हें परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने हमारे कर्त्तव्य हमें स्पष्ट बता दिये हैं। सृष्टि में उसके नियमों को ध्यान पूर्वक देखो। तुम्हारे लिये तुम्हारा कर्त्तव्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है। इस कर्त्तव्य को परा करने से बढ़कर और कोई कर्त्तव्य न समझो तब तुम्हें शान्ति मिल सकेगी। *

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्तते कामचारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परांगतिम् ।

—गीता १६।२३

शब्दार्थ—(यः) जो मनुष्य (शास्त्रविधिम्) शास्त्र की विधि एवं आदेश को, (उत्सृज्य) छोड़कर (कामचारतः वर्तते) अपनी इच्छानुकूल आचरण करता है, (स सिद्धि न अवाप्नोति) वह न तो सिद्धि या सफलता को प्राप्त कर सकता है, (न सुखम्) न सुख को (नपरांगतिम्) और न मुक्ति को प्राप्त कर सकता है ।

उपदेश—जन्म दिन से ही बालक के निर्माण-साधनों की आवश्यकता को न केवल आर्य ऋषियों ने ही अनुभव किया है, बल्कि संसार के सब विद्वानों ने संस्कारों की महानता के आगे सिर झुकाया है । जो मनुष्य संस्कार सम्पन्न नहीं है, वह मनुष्य जीवन के उच्च आदर्श की तरफ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता । दुःखों से छूट कर शान्त अवस्था को प्राप्त करना, मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है । किन्तु दुःखों से मनुष्य छट कैसे संकटा है ? जब तक कि सुख प्राप्ति के साधनों का उसे ज्ञान न हो । इसलिए कृष्ण भगवान् ने सिद्धि, सुख और मुक्ति का क्रम से वर्णन किया है । किन्तु सिद्धि के लिये साधनों की आवश्यकता है । उन साधनों की वास्तविकता मनुष्य कहाँसे जाने ?

इसी बीसवीं शताब्दी के विद्वान् नांजवान अपने दिमाग से निकले हुए विचारों के समर्थन को ही प्रकृति का समर्थन समझते हैं, किन्तु इन नवयुवकों पर ही क्या निर्भर है ? हर समय प्रत्येक देश, प्रत्येक सम्प्रदायों के अनुभव-शून्य नवयुवक इसी तरह अपनी बुद्धि पर निर्भर करना ही सिद्धि का साधन समझा करते हैं । और जब तक कि संसार के अन्दर सच्ची शिक्षा का

अभाव है, तब तक बराबर इसी तरह समझा करेंगे। अशिक्षित आत्मा साधनों की वास्तविकता को समझ नहीं सकता, क्योंकि जब उसे सुख के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है, तो वह सुख के साधनों का सच्चा चित्र अपने लिए कब खींच सकता है ? इसलिए मनु भगवान् ने धर्म शास्त्र का उपदेश देते हुए बतलाया है कि मुक्ति के साधनों के जानने का सबसे छोटा और श्रेष्ठ साधन मनुष्य का अपना आत्मा है।

जीवात्मा की हालत ठीक दर्पण की तरह है। जिस कदर एक शीशा अधिक साफ किया जावे उसी कदर सफाई के साथ वस्तुओं का प्रतिबिम्ब उसके अन्दर पड़ता है और उसी कदर सचाई के साथ उन चीजों की बाह्य स्थिति देखने वालों के लिए प्रकट कर सकता है। परन्तु यदि शीशे पर मैल व मिट्टी आदि से उसका रूप धुँधला पड़ जाये तो उसके अन्दर वस्तुओं का प्रतिबिम्ब बिल्कुल उलटा पड़ेगा। इसी तरह जो जीवात्मा अशक्त है, बिगड़ते-बिगड़ते अविद्या का बिल्कुल शिकार हो जाता है उसके लिए उसका अपना प्रकाश कुछ भी मार्गदर्शक का काम नहीं कर सकता। यदि उसकी शिक्षा ठीक हो तो वह केवल ठीक रास्ते का पता लगाने वाला बन जाता है। आगे चलने के लिए उसे फिर दूसरे पवित्र आत्माओं से शिक्षा लेने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु दूसरे पवित्र आत्मा भी एक निश्चित स्त्रीमा तक मार्ग प्रदर्शन कर सकते हैं। कभी-कभी ईर्ष्या या द्वेष में फँसकर सदाचारी पुरुषों का आचार भी धोखा देने वाला सिद्ध होता है, तब शास्त्र के मार्ग दिखाने की आवश्यकता होती है।

जब कि बड़े-बड़े आत्मा भी सर्वज्ञ नहीं, इसलिए उनकी लिखी हुई शिक्षायें (जो उनके बनाये शास्त्रों में लिखी हैं) भी पूरा पूरा मार्ग प्रदर्शन का काम नहीं दे सकतीं। तब पूर्ण शास्त्र

की ढूँढ़ होती है। और वह परमेश्वर का निभ्रान्ति और अनन्त ज्ञान—वेद है।

हे मनुष्य ! उस अनन्त और निभ्रान्ति ज्ञान की ढूँढ़ कर, और उसे पाकर उसमें वर्णन की हुई बुद्धि के साँचे में अपने जीवन को ढाल। फिर तेरे लिये मुक्ति का मार्ग बिलकुल सुगम हो जायगा। वह पूर्ण शास्त्र कहाँ है और उस वेद ईश्वरीय ज्ञान की कहाँ खोज करे ? यह प्रश्न किस मनुष्य के हृदय में कभी न कभी नहीं उठता ? इसका उत्तर देने का भी प्रत्येक मनुष्य ने किसी न किसी समय यत्न किया है। यह प्रश्न जैसे मनु भगवान के समय नवीन था, वैसा अब भी है। जब तक प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता तब तक मनुष्य का हृदय डावांडोल रहता है। जगत् पिता अपनी कृपा से हम सबके हृदयों को हिला देवे जिससे हम उसके सच्चे ज्ञान की ढूँढ़ करके अपने जीवन की सिद्धि के लिये सच्चे साधन जानकर सच्ची शान्ति की ओर पग उठायें।

: ८ :

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वं कर्मफल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ गीता १३।२॥

शब्दार्थ—(कवयः) क्रान्तिदर्शी, दीर्घदर्शी लोग (काम्यानां) फल भोग की कामना से किये जाने वाले (कर्मणां न्यासम्) कर्मों के त्याग को (संन्यासं विदुः) संन्यास कहते हैं। और(विचक्षणाः) विचारशील और आचार युक्त विद्वान् (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब काम्य कर्मों के फल त्याग को(त्यागं प्राहुः)यथार्थ त्याग कहते हैं।

उपदेश—संन्यास कैसा कठिन परन्तु उच्च पद है और वैराग्य कैसा शुद्ध मार्ग है ! 'न लिङ्ग धर्मकारणम्' गेरवे वस्त्र पहन कर कोई भी मनुष्य संन्यासी नहीं बन सकता। जिसका

मन दृढ़ नहीं, जिसने लगातार अभ्यास से आज्ञापालन के नियम नहीं सीखे और जिसने किसी तरह कवायद करके सस्त्र संचालन नहीं सीखा, वह अगर सैनिक वेश पहन भी ले तो युद्ध भूमि में क्या करेगा ? इसी तरह जिस मनुष्य ने निरन्तर साधनों द्वारा अपनी इन्द्रियों और अपने मन को आत्मा का दास नहीं बनाया, जिसने धर्म-नियम के पालन द्वारा काम क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि के मुकाबिले के लिये धैर्य, क्षमा आदि के सस्त्र धारण नहीं किये, उसने अगर गेरवे वस्त्र धारण कर भी लिये हैं तो उसे संन्यासी कौन दीर्घदर्शी कहेगा ? संन्यास बड़ा ऊँचा पद है। जिस प्रकार ऊँची चोटी पर उसका मन्दिर है इसी प्रकार उसे प्राप्त करना कठिन है। भारतवर्ष में इस समय लाखों भगवे वस्त्रधारी घूम रहे हैं। एक के आसन के पास सैकड़ों हजारों स्त्री पुरुष श्रद्धा और अश्रद्धा से बैठे हुये हैं। अगर सचमुच ये संन्यासी होते, यदि इनमें से एक चौथाई भी संन्यास पद के अधिकारी होते तो क्या भारतवर्ष में इसी प्रकार हाहाकार मचा रहता ?

संन्यास न केवल यही है कि फल भोग की इच्छा को छोड़ देना परन्तु ऐसे कर्मों को भी न करना जिनका निश्चित परिणाम कुछ न कुछ जरूर होने वाला हो। सकाम कर्मों से सर्वथा त्याग, एक पुरुष को त्याग की पहली सीढ़ी पर पहुँचा सकता है। परन्तु निष्काम कर्म किस तरह करने चाहियें, यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। अनेक कर्म, फल भोग की इच्छा से किये जाते हैं। राजा अभ्येधयज्ञ प्रजा के पालन के निमित्त करता है, ताकि प्रजा सन्तुष्ट होकर राज्य की उन्नति करे। राज्य प्रबन्ध के लिये राज्य कोष को भर देवे। धार्मिक गृहस्थ पुरुष, पुत्रेष्टि यज्ञ इसलिये करता है कि उसके पुत्र उत्पन्न होकर उसे आनन्दित करे। संसार में यह सब कर्म, फल भोग की

इच्छा से किये जाते हैं, उनका त्याग बड़े प्रयत्न और आत्म-दृढ़ता से हो सकता है। पर कृष्ण भगवान् इसको त्याग की अन्तिम सीढ़ी नहीं कहते। उनकी सम्मति में अभी जिज्ञासु के लिये और भी साधन शेष रह जाते हैं। सकाम कर्म को त्याग करके संन्यास का अभिलाषी, निष्काम कर्म अरम्भ करता है और समझता है कि अब मार्ग पूरा कर लिया। परन्तु नहीं। निष्काम कर्मों का कोई विशेष फल न हो, यह बात नहीं है। सन्ध्या से पुनः प्राण की प्राप्ति चाहे न हो, किन्तु क्या इस में सन्देह है कि श्रीदिपूर्वक जित्य सन्ध्या करने से मनुष्य की विशेष शान्त अवस्था हो जाती है। इसी प्रकार, दीन, अपाहिषों की सहायता करने से, दुर्बलों का उपकार करने से (चाहे दीन, अप्राहिष और निर्बल पुरुष ऐसे परोपकारी का प्रत्युपकार न कर सकें) एक उपकारक पुरुष को विशेष आनन्द प्राप्त के काम करने से प्राप्त होता है। कृष्ण भगवान् कहते हैं सर्व निष्काम कर्मों से जो आनन्दमयी अवस्था भी जीवात्मा की स्वयमेव हो सकती है, यदि मनुष्य उसका जरा ध्यान भी बीच में रखकर उस काम को करता है, वह सच्चा त्यागी नहीं है।

यह ऊँचा आदर्श है। आज का कौन मनुष्य इसे पूरा कर सकता है, आजकल लोग यश के लिये परोपकार के कामों में लगे हुये हैं, उनको अनुकरणीय समझा जाता है। मैं मानता हूँ कि जो मनुष्य यश के लिये भी नेक काम करता है वह भी संसार का भला करता है और इसलिये उन मनुष्यों से बहुत अच्छा है, जिनकी छिन्न परोपकार की ओर बिलकुल नहीं है। परन्तु क्या इस तरह की प्रसिद्धि का अभिलाषी पुरुष सैकड़ों और भाइयों को कुमार्ग की तरफ नहीं धकेलता। इसलिये न केवल यही कि मनुष्य निष्काम कर्म करे बल्कि उस निष्काम कर्म के स्वाभाविक परिणाम की भी बिलकुल उपेक्षा करदे तब वह संन्यास पद का

अधिकारी होता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय क्या है? प्रत्येक आर्य प्रातःकाल सन्ध्या करता है, उस समय न केवल उसका यह भाव होना चाहिये कि वह उसके बदले सांसारिक इच्छा न रखे किन्तु यह भी वह विचार न करे कि सन्ध्या करने से मुक्ति मिल सकेगी। अग्निहोत्र करते हुये, महापुरुषों की सेवा करते हुये, अतिथियों के आदर सत्कार के समय, दीन अपाहिजों को अपनी कमाई में से भाग देते समय मनुष्य को जरा भी यह विचार मन में न लाना चाहिये कि उसकी बाबत आम लोगों की क्या सम्मति होगी, या उसके बदले में परमात्मा, कब उसे अपने समीप बुलायेंगे। यह है कर्तव्य का ख्याल, जो कृष्ण जैसे आत्मा पुरुष ने अपना मार्गदर्शक बनाया हुआ था। यदि एक कर्म के आरम्भ करने से पहले लाभ, हानि का बही खाता खोलकर हम बैठ जावें तो संसार के बड़े २ दुःख कैसे दूर हो सकेंगे? यदि इस बही खाते को खोलकर शङ्कर और दयानन्द काम करते तो क्या वे अपने पुरुषार्थ से इसे संसार को पलटा दे जाते? कभी नहीं। सम्भवतः प्रश्न होगा, हमें क्या? जिसे संन्यासी बनना हो वह यह कठिनाइयाँ सहे।

आह! प्यारे भाइयो! हम कैसी अविद्या के अन्धकार में डूबे हुये हैं। क्या संन्यासी बनने की इच्छा करना या न करना तुम्हारे वश में है? कदाचित्त मत भूलो। हर एक जीवात्मा जो मनुष्य शरीर धारण करके जन्म लेता है अपने साथ एक कर्तव्य लाता है और कुछ नियमों की जंजीरों में जकड़ा हुआ आता है..... गति संसार का नियम है। अगर तुम अपने कर्तव्य में दृढ़ता से स्थिर नहीं होते और उनके सहारे से ऊपर को नहीं चलते तो गति तुम्हें नीचे की ओर ले चलेगी। तुम नहीं कह सकते कि हम संन्यासी नहीं बनना चाहते। तुम्हारा कर्तव्य है, संन्यासी बनो। एक तरफ ऊँचा पर्वत, दूसरी ओर भी पर्वत,

बीच में बारीक किन्तु पक्का तार लग रहा है। तुम बीच के भाग में खड़े हो। अगर हिम्मत से तार पर दृढ़ता से पग रखते हुये आगे न चलोगे, तो आँधी तुम्हें तुम्हारी जगह पर नहीं ठहरने देगी और जब एक बार पहाड़ के ऊपर की ओर से दृष्टि नीचे डालोगे तो विवशता से तार से जुदा हो जाओगे और फिर अथाह जल में गिरोगे जिसका आर-पार तुम्हें नजर नहीं आता। सोचो, समझो ! और संन्यास की तरफ पग उठाओ क्योंकि यही तुम्हारा इष्ट है।

: ६ :

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता अ० १८ श्लोक ५

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च ।

कतव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

—गीता अ० १८ श्लोक ६

शब्दार्थ—(यज्ञदानतपः)मनुष्य के लिये यज्ञ, दान और तप (कर्म)यह तीन कर्तव्य हैं।(न त्याज्यम्)यह कर्तव्य मनुष्य कभी न छोड़े, (कार्यमेवतत्) इन्हें अवश्य करता ही रहे, क्योंकि (यज्ञो दानं तपश्चैव) यज्ञ, दान और तप यह तीनों (मनीषिणाम् बुद्धिमान् मनुष्यों के (पावनानि) हृदयों को शुद्ध पवित्र करने वाले हैं। अतएव (पार्थ !) हे अर्जुन ! (एतान्यपि तु कर्माणि) यह सब कर्म (सङ्ग फलानि च त्यक्त्वा) आसक्ति तथा फल त्याग की भावना से (कर्तव्यानि) करने चाहियें, यह (उत्तमं मतं निश्चितम्) मेरा उत्तम तथा निश्चित मत है।

उपदेश—कर्मों के नाश से मुक्ति होती है। जब तक कर्म का बन्धन नहीं छूटता तब तक मनुष्य शरीर रूपी कारागार में

बन्द रहता है, इसलिये मुक्ति की इच्छा रखने वालों के लिये आवश्यक है कि वह कर्मों का अन्त कर दें। क्या इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करे ही नहीं, मैंने एक बार एक दृश्य देखा जो कभी भूलता नहीं। एक साधु महात्मा मेरे स्थान के समीप आकर ठहरे। उनका नाम ही जनता ने "निष्काम" रखा लिया था। वह नग्न रहते थे। मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी, दर्शनों के लिये उपस्थित हुआ। न बोलते थे, न कुछ करते थे। कुएँ पर चौकड़ी मारे बैठे थे। उनके स्थूल शरीर को चार आदमी मल कर घों रहे थे। उन्हीं में से एक भक्त ने ब्रदन अंगोष्ठ दिया, उठाया उठ खड़े हुये, हिलाया हिल पड़े। और गद्दी पर पहुँचते ही बैठ गये। मैं भी प्रणाम करके बैठ गया। गले में सुगन्धित फूलों की माला डाली गयी। साधु जी ने मौन साधन किया हुआ था और भक्त जन प्रशंसा के पुल बाँध रहे थे। इतने में एक देवी आई और उसने मुँह के पास कलामन्द (मिठाई) रखी। महात्मा जी ने मुँह खोल दिया। जब कलामन्द मुँह के अन्दर गया तो खाने लग गये। तब मुझसे न रहा गया और मैंने कहा "महात्मा जी ! अगर आप मुँह न खोलते और मिठाई को दाँतों से न चबाते, तब मैं इन मनुष्यों के कहने पर आपको 'निष्काम' समझता। महात्मा जी की आँखें सुरख लाल हो गईं और मौन व्रत टूट गया। मैं बाहर चला आया। लोगों ने आकर मुझसे कहा, यह साधु सदाचारी तो है ? मैंने जवाब दिया कि यदि सदाचारी है तो यह इसका कर्तव्य है। परन्तु जो मनुष्य क्रोध को वश में नहीं कर सकता, उससे हमें क्या लाभ हो सकता है ? जैसे कि कहा गया था, सम्भव है कि वह साधु सदाचारी हो। परन्तु फिर वह क्यों क्रोध में आया ? इसलिये कि उसने 'निष्काम' शब्द के अर्थ नहीं समझे। कम कौन मनुष्य छोड़ सकता है ? क्या आँख से देखना बन्द हो सकता है ? कान

को सुनने से रोका जा सकता है ? कोई भी इन्द्रिय अपने काम को नहीं छोड़ती । तब क्या करना चाहिये ?

कृष्ण भगवान् कहते हैं—यज्ञ, दान और तप इन कर्मों का कभी भी त्याग न करना चाहिये । छोड़ने योग्य बुरे काम हैं, न कि अच्छे । वैदिक कर्म को न छोड़े परन्तु इन कर्मों को नियम पूर्वक करना मनुष्य का परम धर्म है । यह क्यों ? इसलिये कि मनुष्य एक स्थान पर ठहर नहीं सकता । गति जंगल का नियम है । सिवाय परमात्मा के और किसी सांसारिक पदार्थ की स्थिति नहीं, फिर निर्बल मनुष्य कब एक स्थान पर ठहर सकता है ? मुक्ति बड़ी दूर है । आसिक् हिमालय की चोटी पर उसकी झलक सी दीखती है । मुक्ति के अभिलाषियों को ऊपर चलना है । मार्ग बड़ा विकट है, चढ़ाई सीधी है । अगर दृढ़ता के साथ श्वास को ठीककर, बदन को ठीक अवस्था में रखकर, ऊपर को नहीं चलते तो एक दम नीचे गिर पड़ोगे । नीचे की दूरी से सिर में चक्कर आ जाये और न जाने किस प्रकार नीचे आन गिरे । इसलिये कृष्णदेव कहते हैं कि आत्मा की शुद्धि और दृढ़ता के लिये, यज्ञ, दान और तप का अभ्यास नित्य करे । बिना तप के मनुष्य दान के योग्य नहीं होता । जिसके पास स्वयं धन नहीं, वह दूसरों को क्या देगा ? जिसके अपने पास विद्यारूपी रत्न नहीं, वह दूसरों को विद्या दान कैसे कर सकता है ? इसलिये तप का अभ्यास सबसे पहले करना चाहिये, उसके साथ दान का अभ्यास स्वयमेव होगा । जिसके पास ऐश्वर्य है, उसका चित्त देने की तरफ प्रवृत्त होगा । जिसके शरीर में बल नहीं, वह दीनों की रक्षा क्या करेगा ? जब, तप और दान दोनों इकट्ठे हो जाते हैं तब यज्ञ का प्रकाश होता है ।

क्या कभी इस तरह कर्मों का अन्त हो सकेगा ? यदि कर्मों का अन्त न होगा तो क्या कभी भी हम मुक्ति की चोटी पर पहुँच सकेंगे ? इसका उत्तर फिर ईश्वरीय विज्ञान (वेद) की सहायता से भगवान् कृष्ण देते हैं—कर्म बराबर करो, क्योंकि इन्द्रियाँ बिना कर्मों के रह नहीं सकतीं किन्तु उन कर्मों के फल भोग की इच्छा को छोड़ दो ! बस यही निष्काम कर्म कहलाते हैं । कर्म करते हुये ही पूरी आयु भोगने की इच्छा करो परन्तु उन कर्मों के फल से कुछ भी सम्बन्ध न रखो । इस तरह तुम उन कर्मों के बन्धन से छूट सकते हो । कर्म अपने आप में कुछ भी नहीं कर सकते, उनमें फंसावट ही सब कुछ करती है । मनुष्यों को यदि पापरूपी नरक में गिराती है तो कर्मों की फंसावट ! इसलिये ऐ ! मेरे प्यारे भाइयो ! संसार के गृहस्थरूपी युद्ध से मत भागो । जिसने इन्द्रियों को वश में किया है, उसका घर भी तपोवन है, किन्तु जो वनमें जाकर भी इन्द्रियों का दास ही रहा, वह घोर संसार में फंसा हुआ है ।

ब्राह्मण निष्काम कर्म करने से ही जगद्गुरु कहलाते थे अन्यथा उनके शरीर भी दूसरे मनुष्यों की तरह के ही थे । इस समय निष्काम भाव से काम करने की बड़ी भारी आवश्यकता है । मैं भूल गया । इस समय क्या, हर समय ही निष्काम भाव से काम करने की आवश्यकता है । तुम यश के भूखे हो ! निष्काम भाव से काम करो, यश तुम्हारे पीछे मारा फिरेगा ! तुम्हें आश्चर्य होगा कि यश का निष्काम भाव से क्या सम्बन्ध ? परन्तु आश्चर्य की कोई बात नहीं है । कवि ने सच कहा है “बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भोख” तुम अपना उद्देश्य उच्च बनाओ, उसके लिये तप, दान और यज्ञ के अभ्यास की आवश्यकता है । इन तीनों प्रकार के कर्मों से शरीर, मन और आत्मा को शुद्ध करो । फिर निडर होकर संसार में विचरो ।

जब फल भोग की कामना न रही तो बजाय इसके कि विषय इन्द्रियों को अपनी तरफ खींच सकें और बजाय इसके कि मन आत्मा को बहिर्मुख कर सके, आत्मा अपने अन्दर मन और इन्द्रियों को खींच कर उनका राजा बना हुआ परम धाम की तरफ चल सकेगा। उस परम धाम का मालिक परम आत्मा है। उसी का सारा ऐश्वर्य है। उसको पाकर फिर किसी वस्तु की इच्छा बाकी नहीं रहती। परमात्मा पूर्ण कृपा करें कि हम सब योगीराज कृष्ण के गम्भीर नाद को सुनें और उसके अनुकूल चलें।

: १० :

कार्यमित्येव यत्कर्म, नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संग त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

—१८ अ० ६ श्लोक ॥

शब्दार्थ—(अर्जुन) हे अर्जुन ! (संग फलं चैव त्यक्त्वा) आसक्ति और फलभोग की इच्छा को छोड़ कर (यत् नियतम्) जो निश्चित और उपयोगी (कार्यम् कर्म) कर्तव्य कर्म (क्रियते एव) स्थिर तौर पर किया जाता है (सः) वह कर्म (सात्त्विकः त्यागः) सतोगुण युक्त त्याग (मतः) समझा जाता है।

उपदेश—सारे संसार में त्याग की घूम मच रही है, किन्तु त्याग के यथार्थ अभिप्राय को कोई विरला ही समझता है। किस मनुष्य को किसी न किसी समय दुःख पीड़ित नहीं करता। ऐसे समय में ही त्याग का ध्यान प्रायः मनुष्यों को आता है। झूठे मोह में फँसकर पुत्र की देह को ही आत्मा समझता हुआ पिता कैसा प्रसन्न होता है? उसकी आँखों में उस समय यह संसार एक सदैव की खुशी से कम मूल्य नहीं रखता।

संसार से उसे बड़ा भारी प्रेम होजाता है । परन्तु शरीर अनित्य है । सदैव जन्म कायम नहीं रह सकता । एकदम बीमारी का जोर होता है और प्रिय पुत्र शरीर त्याग कर चल देता है । अब वही संसार उजाड़, बियाबान, सुनसान जङ्गल की भाँति भयानक दिखाई देता है । तब वैराग्य उत्पन्न होता है । न स्नान का ध्यान, न सन्ध्या की खबर, न शरीर की सुघ और न आत्मा का ख्याल । मन चाहता है कि कपड़े फाड़ कर निकल चलें । किसी कर्त्तव्य का भी ध्यान नहीं । यदि कोई दीन सहायता की इच्छा से आता है तो उसकी जान निकाल लेने की इच्छा होती है । अब मेरा पुत्र नहीं तो दया का मतलब क्या ? दान की इच्छा क्या ! ऐसे समय में मनुष्य, प्राण तक तज देने को तैयार हो जाता है । ऐसे त्याग को कृष्ण भगवान् तामसी त्याग कहते हैं ।

अविद्या में फँसा हुआ बुद्धि विहीन मनुष्य जब अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है, उस समय वह फँसावट को त्याग समझता है । सोह के बशीभूत हुआ अपने आपको त्यागी समझे क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ! फिर त्याग क्या है ? एक दूसरे दृश्य की तरफ दृष्टि जाती है । प्रातःकाल का समय है जानवर बोल रहे हैं । धार्मिक पुरुष शौच स्नानादि से निवृत्त होकर सन्ध्यावन्दन से निवृत्त हो चुके हैं । अग्निहोत्र भी कर चुके । एक आर्यपुरुष अपने उपासना गृह में उठकर बाहर सैर के लिये चला है । मार्ग में मित्र का मकान है । ख्याल आता है, सैर के लिये इसे भी साथ ले चलो । मकान के अन्दर जाता है, वह मित्र को देखकर हैरान हो जाता है । अभी तक चारपाई पर ही लेटा हुआ है । उसको हिलाकर सचेत करता है । क्यों अब तक सोते ही हो ? वही, जागा तो चार बजे ही था, परन्तु शरीर को कुछ कष्ट है, स्नान नहीं कर सकता । सन्ध्या तो कर

चुके होंगे ? सन्ध्या ! सन्ध्या कैसे करता, रोगी हूँ । क्या ! सन्ध्या का त्याग बीमारी के लिये ? सन्ध्या अपने सन्ध्वे पिता से मेल करने का नाम है । क्या शरीर के दुःख के कारण पिता के दर्शन त्याग दोगे ? शरीर को जल से नहीं घो सकते, न सही हाथ मुँह तो गरम पानी से घो सकते हो । अगर बैठ नहीं सकते, इस भाँति दुर्बल हो गये हो तो क्या लेटकर पिता का ध्यान नहीं कर सकते ? क्या निबल बच्चा लेटा हुआ माता से प्यार नहीं कर सकता ? शारीरिक परिश्रम के भय से अपना कर्त्तव्य जानते हुए भी पालन न करना राजस-त्याग कहलाता है ।

एक और दृश्य देखिये । एक दीन रात को पुकार रहा है । अत्याचारी उस पर अत्याचार कर रहा है । अगर तुम्हें परमेश्वर ने शरीर दिया है, अगर तुम्हें उसने बुद्धि दी है और मन दिया है तो क्या तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं कि दीन की उसी समय सहायता के लिये जाओ । परन्तु शारीरिक आलस्य उठने नहीं देता । क्या यह सच्चा त्याग है ? दिन रात हमारे कर्त्तव्य हमें बुला रहे हैं और हम गहरी नोंद में मस्त हैं । यह त्याग नहीं, यह तो पहले दर्जे की फँसावट है । फिर त्याग क्या है ? यदि सब कुछ छोड़ देना त्याग नहीं यदि शरीर के सारे घर्मों को भूल जाना त्याग नहीं, तो फिर त्याग किसे कहते हैं ? अपने दैनिक कर्मों से पूछो । सीधा उत्तर मिलेगा । तुम दीनों की रक्षा क्यों करते हो ? इसलिए कि तुम्हारा यश सारे संसार में फैले, इसलिये नहीं कि उसकी रक्षा तुम्हारा कर्त्तव्य है । तुम सन्ध्या इसलिये करते हो कि लोग तुम्हें महात्मा समझें, इसलिये नहीं कि पिता का सत्सङ्ग तुम्हारा कर्त्तव्य है । तुमने कर्मों के त्याग को त्याग समझ रखा है । परन्तु कर्मों का त्याग उलटा कर्मों की जड़ काटता है । जब तुम्हारी कोई सम्पत्ति ही नहीं तो उसका त्याग कैसा ? फिर सात्त्विक त्याग क्या है ? तुम

वैदिक कर्मों के रकने में तो दिन रात तत्पर रहो परन्तु उनके अन्दर फंसो नहीं। तुम उनकी रक्षा करो किन्तु अनाथों को अपना खिलौना मत बनाओ। तुम गुरुकुल कायम करके उसकी सेवा करो, परन्तु गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को अपने व्यसन पूरा करने की नुमाइश न बनाओ। तुम प्रकृति के सौन्दर्य को आँखों से देखो, लेकिन उन आँखों को उस प्राकृतिक सौन्दर्य का दास न बनाओ। कर्म करो, परन्तु उसमें फंसो नहीं। न केवल यह किन्तु उस क्रिये हुए कर्म की अभिलाषा मत करो। बस यही त्याग है। तुमने कर्म किये तुम्हारी सम्पत्ति बन गई। उन कर्मों के तुम अधिकारी बन गये, किन्तु तुमने फल का ध्यान भी न किया। यही सच्चा सात्विक त्याग है।

प्यारे भाइयो ! यह है आदर्श त्याग का। इस आदर्श से किस प्रकार हम गिरे हुए हैं ? वैदिक धर्म के प्यारो ! क्या त्याग को इस गिरी हुई दशा से उठाने का हम सबसे बढ़कर किसी ने बीड़ा उठाया था ? हमने वैदिक धर्म को ग्रहण करके भी पश्चिमीय विचारों का खोल चढ़ा लिया है। हमने इस आदर्श को यह कहकर टाला कि अगर कोई मनुष्य केवल यश के विचार से कोई अच्छा काम करता है तब भी उसे साहस देना चाहिए। परन्तु हम सब एक सचाई को भूल जाते हैं। जब तक सकाम भाव विद्यमान हैं तब तक गिरने का भय लगातार रहता है। इस भय से बचने के लिये निष्काम भाव से सच्चे त्याग के आदर्श की ओर चलना चाहिए। जिस मनुष्य ने यश के विचार को छोड़ कर कर्म से सर्वथा मुंह मोड़ लिया है वह भी पापी तो है। पर वह केवल अपने आत्मा को दुःख सागर में डुबोता है। जो यश को चाहने वाला आज नेक कामों में लग कर हम सबकी रुचियों को अपनी ओर खींच रहा है, सम्भव है वह हमारी भूल से प्राप्त किये हुए बल के कारण दूसरे सैकड़ों, हजारों आत्माओं

को भी पाप के गढ़े में धकेलने का हेतु हो। तब हमारा कर्त्तव्य क्या है? सात्विक त्याग का भाव अपने अन्दर लाना और अपने उदाहरण से दूसरों को भी इसी मार्ग से चलने के लिये प्रेरित करना। यह माना कि सकामभाव से काम करना पहले पहल बड़ा सुहावना मालूम होता है, परन्तु जब वैयक्तिक न्यूनता के कारण उस मार्ग में ठोकरें लगती हैं तो मनुष्य न उधर का रहता है न उधर का। इसलिए आज से ही यह अभ्यास आरम्भ करो कि न अविद्या के वश होकर, न लोभ से, न मोह से, न काम क्रोध और अहङ्कार के वश में होकर हम कभी भी अपने कर्त्तव्य कर्मों का त्याग करें। हम कर्मों को सदैव धर्मानुसार पालन करते हुए उनमें फँसने से बचें और उनके फल भोग की इच्छा को मन से त्याग दें।

: ११ :

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तु कर्माण्यशेषतः ।
 यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।
 अनिष्टमिष्ट मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
 भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

—गीता १८ अ० ११, १२

शब्दार्थ—(देहभृता) कोई भी शरीरधारी (अशेषतः कर्माणि) सम्पूर्ण कर्मों को (त्यक्तुम्) छोड़ने के लिये (नहि शक्यम्) समर्थ नहीं है। इसलिये (यस्तु) जो भी व्यक्ति (कर्म-फलत्यागी) कर्मों के फलों को त्याग करने वाला है यथार्थ में (सः) वह व्यक्ति ही (त्यागीत्यभिधीयते) त्यागी कहलाता है। (अत्यागिनाम्) त्याग-भाव से न काम करने वाले लोगों को

(प्रत्य) मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में (अनिष्टं इष्टं, मिश्रं च) बुरा, भला या मिलावा यह (कर्मणः) कर्मों का (त्रिविधं फलम्) तीन प्रकार का (भवति) भोगना पड़ता है। (संन्यासिनां तु) किन्तु संन्यासियों को (क्वचित्) किसी प्रकार का भी कर्मफल (न भवति) नहीं भोगना पड़ता।

उपदेश—कर्मों से कौन भाग सकता है ? किसी आश्रम में भी कर्म मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ते। क्या संन्यासी कर्म से पृथक् हो सकता है ? भला जब मानसिक व्यवहार ही सारा रूक जावे तो संन्यासी क्या ? उसके कर्तव्य क्या ? संन्यासी का परम धर्म निडर होकर पक्षपात से रहित धर्म का आन्दोलन करके उसका सांसारिक मनुष्यों के हित के लिये प्रचार करना है परन्तु जिसने वाणी के कर्म को रोक दिया वह सत्य का प्रचार कैसे कर सकेगा ? इसलिये कर्म का त्याग करना असम्भव ही है। त्याग किसे कहते हैं ? फलों का त्याग ही सच्चा त्याग है। यह सुनकर सांसारिक पुरुष प्रश्न करेंगे कि क्या दीर्घदर्शी अनुभवी, मनुष्य समय के प्रवाह को नहीं देख सकते ? क्या वे अपने देश की भलाई के कारण को जाने बिना ही और उसके परिणामों का पता लगाये बगैर ही अन्धाधुन्ध काम करेंगे ? यह प्रश्न बड़े आवश्यक हैं किन्तु साथ ही इनके पीछे अविद्या की लोला है। क्या तुमने कभी देखा है कि जो काम किसी परिणाम से सोचा जाय वही प्राप्त होता है ? कदाचित् नहीं। हाँ, जब दूसरे प्रकार का अच्छा परिणाम निकल आता है तो काम करने वाले की दूर-दशता की प्रशंसा की जाती है। मनुष्य निर्बल है, मनुष्य की सब शक्तियाँ अल्प हैं, तब कैसे वह जान सकता है कि उसके अमुक काम का क्या परिणाम होगा ? हाँ ! एक बात तो मूर्ख भी समझ सकता है। यदि उसको उसका कर्तव्य बतला दिया जाय तो परिणाम को बिना मोचे वह अपने कर्तव्य को पूरा कर

सकता है। इसलिये कृष्णभगवान् कहते हैं कि फल भोग की इच्छा इसलिये नहीं करनी चाहिये कि तुम निश्चय के साथ कह नहीं सकते कि जिस कार्य का तुमने एक विशेष परिणाम सोच रखा है, उसका वह निश्चित परिणाम होगा ही। तुम एक इष्ट कार्य को बड़ी रुचि से करते हो, इस विचार से कि उसका विशेष परिणाम तुम्हारी रुचि के अनुकूल होगा। तुम दूसरे कार्य को जिससे घृणा है बाधित होकर करते हो, परन्तु परिणाम तुम्हारी इच्छा के विपरीत निकलता है। एक काम को तुम दोनों भावों से करते हो, परिणाम एक तीसरी प्रकार का निकल आता है। तुम्हारी इच्छा चाहे कुछ ही क्यों न हो परन्तु तुम्हारे कर्मों का फल मिला और उसके पश्चात् कुछ भी स्थिर नहीं रहा। हां ! उन कर्मों के प्रबल संस्कार स्थिर रह जाते हैं, जो भयानक रूप बनाये हुए तुम्हें सदैव दुःख से पीड़ित रखते हैं। जिस संन्यासी ने फल को त्याग दिया है वह दिन रात कर्म करता हुआ भी उनके संस्कारों का दास नहीं बनता इसलिए कि वह उनके अन्दर फँसता ही नहीं है। झूठे त्याग ने भारतवर्ष देश को रसातल तक पहुँचा दिया है। ईश्वरीय नियम के विरुद्ध कर्म करते हुए मनुष्य समाज का कोई अङ्ग स्थिर नहीं रह सकता। राज्य का प्रबन्ध करता हुआ राजा जनक क्यों विदेह मुक्त प्रसिद्ध हुआ? इसलिये कि एक तरफ जहाँ आग से एक जांध के जलने का उसे शोक न था वहाँ दूसरी ओर उत्तम से उत्तम भोगों का सुख उसे विचलित न होने देता था।

इसलिए मेरे प्रिय पाठकगण ! इन कारणों से फल भोग की इच्छा को छोड़कर सब काम करो। मैं जानता हूँ यह कैसा कठिन मार्ग है ! इस मार्ग में चलते हुए मैंने अनेक ठोकरें खाई हैं। सम्भवतः आप लोगों ने मुझसे अधिक ठोकरें न खाई होंगी। मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि यह मार्ग कठिन है। इसके अतिरिक्त जिधर जाओगे भटकते

फिरोगे। आओ, इसलिये एक दूसरे को बल देते हुये हम सब इसी निष्काम मार्ग पर चलने का यत्न करें। हम सब निर्बल हैं, दीन हैं, परन्तु जिस परमात्मा ने अपनी अपार दया से अपने ज्ञान के भण्डार को हमारे लिये खोल दिया है, वह सर्व शक्तिमान् है। हमारा पिता सर्वज्ञ और सर्वोपरि विराजमान हैं। अगर हम उसका सहारा ढूँढ़ें, यदि शुद्ध मन से उसके दरबार में याचक बनकर जावें तो हम में भी बल आ सकता है। परमात्मा ने स्वयं हमें प्रार्थना की विधि बतलायी है। उन्होंने स्पष्ट आज्ञा दी है कि मुझ बल-भण्डार से बल माँगो। मन, वाणी और कर्म को शुद्ध करके तीनों के द्वारा प्रार्थना करो, तुम्हारी प्रार्थना निष्फल न होगी। हमारे अविश्वासी मन भटकते फिरते हैं! पिता हमारे रोम-रोम में रम रहे हैं। माता की गोद में बैठे हुये हम इस प्रकार अविश्वासी हों, हमसे बढ़कर अघर्मी कौन हो सकता है? आज से ही प्रण करो कि हम शुद्ध भाव से प्रातः और सायं पिता की शरण में शुद्ध हृदय लेकर उपस्थित हों। सारे अन्दर के भावों की भेंट उसके आगे चढ़ायें। हम और क्या भेंट-ले जा सकते हैं? कौन सी सांसारिक वस्तु है जिस पर हमारा अधिकार है। अगर सारा ऐश्वर्य परम ईश्वर का है तो हमारे पास अपने आत्मा के अतिरिक्त और क्या हैं? इसलिये सिवाय इसके कि उसके सर्वभावों को ईश्वर की भेंट करें और हम क्या कर सकते हैं?

हे शान्ति निकेतन ! हमारे अशान्त हृदय, ईर्ष्या और द्वेष से दग्ध हो रहे हैं। फल भोग की इच्छा ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा। आप कृपा करो, दया करो, इस अशान्त हृदय के अन्दर शान्तिके अमृत जल की वर्षा करो ताकि अपने हित-प्रहित को समझ कर हम सब आपकी शरण में आवें और अपने कर्त्तव्य को ज्ञानपूर्वक पालन करते हुये आपके अनन्त धाम के अधिकारी बन सकें। *

: १२ :

न द्वेष्ट्यं कुशलं कर्म कुशले नानुसज्जते ।

त्यागी सत्व समाविष्टो भेदावी छिन्नसंशयः ॥

—गीता १३ । १०

शब्दार्थ—(छिन्नसंशयः) ज्ञान द्वारा जिसके संशय मिट गये हैं, (सत्वसमाविष्टः) जिसका अन्तःकरण सतोगुण से परिपूर्ण हो चुका है, ऐसा (भेदावी) धारणावती बुद्धि से युक्त (त्यागी) त्याग वृत्ति वाला पुरुष (अकुशलं कर्म) प्रतिकूल कर्म से (न द्वेष्टि) घृणा नहीं करता और (कुशले) अनुकूल कार्य में (न अनुसज्जते) लिप्त भी नहीं होता। वह सब कामों में समबुद्धि रहता है।

उपदेश - सत्य से परे कोई धर्म नहीं। धर्म की नींव तो सत्य है, इसलिये धर्म के स्रोत परमात्मा को सत्यस्वरूप कहा। सच्चा त्यागी बनने के लिये पहले सर्व सत्य गुणों को ही धारण करना चाहिये। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये भोजन और जल की आवश्यकता होती है। इसलिए महात्मा उपदेश करते हैं कि सत्यलोक की इच्छा रखने वालों को सात्विक भोजन करना चाहिए। मांस आदि पदार्थों का इसलिये निषेध है कि वे तीमः और राजस भोजन हैं। पीने का जल भी सात्विक गुण युक्त चाहिए, इसीलिए संन्यासी को जल छान कर पीने की आज्ञा है। अन्न, फल और जल सब सात्विक, स्वच्छ, पवित्र होना चाहिए, तब बुद्धि भी शुद्ध होती है। शरीर का मनुष्य की सारी क्रियाओं के साथ विशेष सम्बन्ध है। इसलिये शारीरिक शुद्धि से बुद्धि के अन्दर भी सात्विक भाव होता है। और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। बुद्धि शरीर को शुद्ध करती है और शरीर बुद्धि को शुद्ध करता है। यह शुद्ध हुई बुद्धि सत्य और असत्य का निर्णय

करने के योग्य हो जाती है। सच्चे धर्म को धारण करनेकी शक्ति, ऐसी शुद्ध बुद्धि के अन्दर हो सकती है। तब मनुष्य के अन्दर के सन्देह छूट जाते हैं और संशयों से निवृत्त होकर ही मनुष्य सच्चा त्यागी बनता है।

त्याग का क्या चिह्न है? यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। हम लोग अग्ने आपको नित्य घोखा देते हैं कि हम त्यागी हैं, किन्तु कैसे सिद्ध हो कि हम त्यागी हैं। कृष्ण भगवान् ने कसौटी बतला दी, प्रतिकूल से जब द्वेष न रहे, अनुकूल से जब प्रेम न रहे, तब जानो त्याग का प्रवेश अपने अन्दर हुआ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का दृष्टान्त इस जगह ठीक घटता है। दिन को अयोध्या में घोषणा हो गई कि दूसरे दिन प्रातः रामचन्द्र को सूर्यवंशियों के राज्य का स्वामी बना दिया जावेगा। कौशल्या अपने भाग्य को अति उत्तम समझती हुई सोई। रामचन्द्र सारे अवघ निवासियां के सारे आशीर्वाद सुन चुके। क्या रामचन्द्र इस प्रसन्नता में भूल कर कुछ बदल गये। कवि कहता है कि वे उसी तरह समय पर सोये। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर नित्यकर्म में प्रवृत्त हुए। परन्तु जब प्रातः ही महाराजा दशरथ के पास गये और माता कैकेयी ने चौदह बरस वन के जाने को कहा तो क्या उन्हें दुःख हुआ? नहीं, न उन्हें राजगद्दी का आनन्द था न वनवास का शोक हुआ। जिस सहज अवस्था में वे पहले थे, उसी में अब भी रहे, उसी शान्त अवस्था से वन को चल दिये। कैकेयी ने समझाना चाहा, आपने उत्तर दिया कि पिता ने वन का राज्य दिया है। माता ! तुम्हारी उसमें सम्मति है। भला मुझसे बढ़कर भाग्यशाली कौन है, जिसे माता और पिता दोनों की आज्ञा के पालन का मौका मिले। रामचन्द्र का यह आचरण सम्पूर्ण आर्य (हिन्दू) जाति में उन्हें सर्वपूज्य बना रहा है। हर्ष शोक जीतना निस्सन्देह बड़ा कठिन काम है। इसके लिये बड़े दृढ़ साधनोंकी आवश्यकता

है। किन्तु यह पद भी तो बड़ा ऊँचा है। हिमालय की चोटी पर क्या मनुष्य बिना प्रयत्न पहुँच सकते हैं ? हम लोग तो साधनों (प्रयत्न और पुरुषार्थ) की दृष्टि से सोये हुए हैं।

भारत सन्तान ! इस समय तुझे कृष्ण भगवान् के उपदेश पर चलने की बड़ी आवश्यकता है। परोपकार का काम बड़ा कठिन है। सदियों की दासता से न केवल दूसरे मनुष्यों की ही दासता हम में है परन्तु अपनी इन्द्रियों की अत्यधिक दासता भी हमें खा रही है। इस दासता से स्वतन्त्र होना क्या कुछ आसान काम है ? यह कठिनता भी हमें अविद्या की फँसावट के ही कारण मालूम होती है—अन्यथा यदि एक बार सत्य का साधन आरम्भ कर दें तो इससे आसान कोई काम ही नहीं। सात्विक भोजन, वृक्षों और खेतों से बिना कठिनाई और बिना छल और दम्भ के मिल सकता है। क्या तुम देखते नहीं कि एक पशु को वध करने के लिये किस प्रकार घोखों से काम लेना पड़ता है ? इसलिये सबसे पहले सात्विक भोजन करने का अभ्यास करो। जिस भोजन से दिमाग को हानि पहुँचे और वीर्य को हानि पहुँचे, वह कैसा ही स्वादिष्ट क्यों न हो, उसे छोड़ दो, शुद्ध भोजन करो। साफ पानी से बढ़कर पीने के योग्य और कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा का बरसाया हुआ स्वच्छ जल पान करो। तब तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ होगी। फिर उस बुद्धि को खूब माँजो। काम, क्रोध, मोह, लाभ, अहंकार इन शत्रुओं से बुद्धि को सुरक्षित करो। यह बुद्धि के अत्यन्त शत्रु हैं। इस अभ्यास से तुम्हारी आँखें खुल जायेंगी। हर एक वस्तु का ठीक स्वरूप तुम्हें दिखाई देने लगेगा और तब तुम्हारे संशय दूर होंगे। निश्चय सच जानो कि जब तक तुम्हारे अन्दर सन्देह है, तब तक तुम अपने आपको जीवित नहीं समझ सकते।

कृष्ण भगवान् कहते हैं—'संशयात्मा विनेश्यति'। संशय-मुक्त सन्देह में डूबा हुआ मनुष्य आखिरकार आत्मा का नाश कर

लेता है !-परन्तु सर्व संशय से मुक्त होना, बिना बुद्धि की स्वच्छता के असम्भव है और बुद्धि की स्वच्छता बिना सात्त्विक कर्मों के हो नहीं सकती । इसलिये यह उपदेश हमारे लिये अन्य कोई मार्ग नहीं छोड़ता । योग से ही सच्चा त्याग हो सकता है । योग कहते हैं चित्त की वृत्तियों के निरोध को । और त्याग कहते हैं उच्च प्रकार के परोपकार के कार्य को । साधारण पुरुष इन शब्दों के अर्थ समझ नहीं सकते ।

हा ! आथ सन्तान संशयों ने तुम्हें रसातल को पहुँचा दिया, तुम विदेशियों की प्राकृतिक उन्नति को देखकर उसी को सच्ची उन्नति का साधन समझ बैठे । प्राकृतिक उन्नति भी एक गौण साधन, मनुष्य के परम उद्देश्य का है । जिसने आत्मिक उन्नति की, प्रकृति उसके सम्मुख हाथ बाँधे स्वयं खड़ी रहती है । आत्मिक उन्नति में शारीरिक और प्राकृतिक उन्नति दोनों सम्मिलित हैं । परन्तु प्राकृतिक उन्नति में आत्मिक उन्नति सम्मिलित नहीं । हे ऋषि सन्तान ! सांसारिक चमक दमक के अन्दर अपने वास्तविक उद्देश्य को न खो बैठ । भोग, विलास ऐश्वर्य सुख के देने वाले, नहीं हैं । सुख इनके त्याग में ही है । तुम भोग विलास में फंसे हो । समझते हो कि तुम संसार के नियमों से स्वतन्त्र होगये, किन्तु क्या तुमने यह भा कभी सोचा है कि यह स्वतन्त्रता नहीं है, परन्तु बेशरमी है । तुम इन्द्रियों के अत्यधिक दास बन रहे हो और इस दासता से छूट नहीं सकते । यदि तुम्हारे अन्दर सच्चे त्याग की अभिलाषा है तो ज्ञान नेत्रों को शुद्ध करके अपने और अपने भाइयों की दशा को देखो । ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन तक कोई उपदेश पहुँच सकता है । वे लोग बहुत अधिक हैं जिनको यह उपदेश स्पर्श भी नहीं कर सकते ! इसलिये तुम इस उपदेश के अनुसार आदर्श पुरुष बनने की चेष्टा करो ताकि वे जो निरक्षर हैं जिनका कागज, कलम, दवाला, पुस्तकों से कोई सम्बन्ध नहीं है वे तुम्हारे जीवन रूपी पुस्तकों का पाठ करके अपने जीवन को सफल कर सकें । *

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
 स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत्तृष्णु ॥
 यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
 स्वकर्मणा तमस्यर्च्यं सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

—गीता अ० १८। श्लोक ४५-४६

शब्दार्थ - हे अर्जुन ! (स्वे-स्वे कर्मणि) अपने कर्तव्य में (अभिरतः) दत्तचित्त होकर ही (नरः) कर्मशील मनुष्य (संसिद्धिं, लभते) इच्छानुसार निज उद्देश्य को प्राप्त करता है । (स्वकर्मनिरतः) अपने कर्तव्य में निरत मनुष्य (यथा) जिस प्रकार से (सिद्धिं विन्दति) सफलता को पाता है (तत् तृष्णु) वह उपाय सुनो ।

हे अर्जुन (यतः भूतानां प्रवृत्तः) जिससे सकल संसार पैदा हुआ है और (येन) जिसने (सर्वमिदम्) इस विश्व को (ततम्) अपने अपने सामर्थ्य से व्याप्त किया हुआ है (तम्) उसे परमेश्वर को (स्वकर्मणा) अपने कर्तव्य से (अभ्यर्च्यं) पूजा करके, प्रसन्न करके (मानवः) मनुष्य (सिद्धिं विन्दति) यथार्थ सफलता रूप उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है ।

उपदेश—प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्य तक पहुँचने की योग्यता रखता है । दासता के जुए में जिनकी गर्दन है वे कभी भी आशा नहीं कर सकते कि उनमें से कभी भी कोई राजा बनेगा । अमरीका का एक बूट साफ करने वाला लड़का भी आशा कर सकता है कि सम्भवतः वह किसी समय अपने देश का राष्ट्रपति बन जाय । संसार में कोई ऐसा जीव नहीं है जो

अपने उद्देश्य तक न पहुँच सके। मार्ग सबके लिये एक जैसा है। उसकी कठिनतायें और सुगमतायें राजा और प्रजा विद्वान् और मूर्ख सबके लिये एक जैसी हैं। हां ! भेद अपने २ कर्मों का है। गुसाईं तुलसीदास जी कहते हैं—

‘कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।

जी जस करीह सो तस फल चाखा’।

‘जैसी करनी वैसी भरनी’। यह नियम सबके लिये है। तब अपने कर्तव्य के पालन करने से ही अपने उद्देश्य की ओर कदम उठ सकता है। उस वास्तविक कर्तव्य की पूर्ति से मनुष्य को रोकने के लिये इस संसार में अनेक प्रलोभन हैं। एक-एक पग पर बीसों विषय जीवात्मा को अपनी ओर खींचते हैं और वह मोह में फँसकर पग-पग पर ठोकरें खाता है। जब इस प्रकार अनेक प्रलोभन रास्ते में हों तो मनुष्य अपने उद्देश्य की ओर कैसे चल सकता है? इसका आसान उपाय श्रीकृष्ण जी महाराज बताते हैं। अगर तुम अपने कर्तव्य के पूरा करने में दत्तचित्त होना चाहते हो तो सबसे पहले सम्पूर्ण आत्मज्ञान के तत्व को समझो। सारा जगत् कहीं से आया? क्या इसके अन्दर स्वयं बनने की शक्ति है? जड़ जगत् स्वयं कैसे बन सकता है? और फिर कैसे स्वयं बिगड़ भी सकता है? इसलिये इसके अन्दर कोई चेतन शक्ति अवश्य काम कर रही है। जब कि हम सारे जड़ जगत् में एक ही नियम का परिपालन होते देखते हैं तब हमें कोई सन्देह नहीं रहता कि यह चेतन शक्ति हर जगह व्यापक है। कोई सांसारिक अवस्था उसकी उपस्थिति से खाली नहीं है। गुलाब के फूल को यदि सुन्दरता मिली है तो उसने उस सुन्दरता की रक्षा के लिये उसके चारों ओर कांटों की बाढ़ लगाई है। प्रभु ने हर वस्तु के अन्दर अपनी चेतनता का प्रकाश किया है। इसलिये जो बुद्धिमान मनुष्य अपने कर्तव्य

को समझ लेता है उसके लक्ष्य को सांसारिक प्रलोभन बिगाड़ नहीं सकते। व्यापक परमात्मा की उपस्थिति को हर स्थान पर अनुभव करने वाला मनुष्य, प्रत्येक विषय की ठोकर से बचकर अपना कर्तव्य पूरा करता हुआ, सीधा अपने लक्ष्य की ओर चला जाता है। वह मार्ग में एक सुन्दर मनुष्य को देखता है, एक पल के लिये ठहर जाता है परन्तु फौरन उसके मन में विचार उठता है कि यह आकृति दस साल बाद बिलकुल बदल जायगी। यदि कोई रोग लग जाय तो सम्भवतः एक दिन में जमीन आसमान का अन्तर आ जाय। मननशील व्यक्ति अपने मन में सोचता है कि इसके अन्दर सुन्दरता कहाँ से आयी? क्योंकि यदि इसका यह स्वाभाविक गुण होता तो इसमें परिवर्तन न आता। फिर क्यों उस सौन्दर्य के स्रोत की ओर न चले, जिससे कि इस तुच्छ पञ्चभूतों के शरीर ने सुन्दरता प्राप्त की है?

इस विचार ने पूर्णरूप धारण किया और बुद्धिमान् मनुष्य आगे चञ्चल होता है, इस प्रकार उसने लक्ष्य को समझ कर अपने कर्तव्य का सहारा ले लिया है। जिसने अपना लक्ष्य परमात्मा को बनाया है और उसे सारे विश्व की माता अनुभव किया है, वह सांसारिक विषयों के अन्दर कैसे फँस सकता है? हर सौन्दर्य के अन्दर वह माता का सौन्दर्य देखता है और प्रत्येक आकर्षक पदार्थ में उसे माता का प्रेम नजर आता है। न केवल यही, बल्कि कष्ट और क्लेश में भी उसे पिता के न्याय का हाथ दिखाई देता है। फिर उसके समीप न मोह आता है, न शोक और वह आदर्श मनुष्य सीधा परमपद की ओर चल देता है।

प्रिय पठकगण ! अपने कर्तव्य की समझो। वही तुम्हारा धर्म है। परमात्मा की भक्ति और उसकी पूजा तुम्हें जीवन उद्देश्य की ओर ले चलेगी। हम उसकी पूजा कैसे करें? किस वस्तु में वह व्यापक नहीं है। और कौनसी वस्तु है जो उसकी

नहीं है ? उसके लिये हम बाहर से भेंट क्या लायेंगे ? इसलिये तो वेद ने कहा है कि मन, वचन और कर्म से किया हुआ, सब कुछ परमात्मा के अर्पण करो। यहाँ तक कि 'आत्मा यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्'। फिर परमधाम से तुम दूर न रहोगे, क्योंकि परमधाम के लिये समय या दूरी कुछ स्कावट नहीं है। परमधाम तुम्हारे अन्दर मौजूद है और तुम बाहर भटक रहे हो। परम पिता के अमृत पुत्रो ! अपने परम अधिकार को समझो और उस तक पहुँचने के अधिकारी बनो। *

: १४ :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

गीता अ० १८। श्लोक ४७।

शब्दार्थ— (सु अनुष्ठितात्) भली भाँति किये गये (परधर्मात्) दूसरे के धर्म से, कर्तव्य से (विगुणः) छोटा तथा स्वल्प (स्वधर्मः) निज का कर्तव्य (श्रेयान्) अधिक श्रेष्ठ है, उत्तम है। क्योंकि स्वभावनियतं) निज स्वभाव के अनुकूल (कर्म कुर्वन्) कर्तव्य का पालन करता हुआ मनुष्य (किल्बिषम्) दोष को, पाप को, अनर्थ को (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होता।

उपदेश—मनुष्य सृष्टि को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्णों में ईश्वरीय नियमों ने ही विभक्त कर दिया है। गुण, कर्म और स्वभाव तीनों के उचित विचार से मनुष्य को किसी भी वर्ण में प्रवेश करने का अधिकार है। जब इन कसौटियों ने वर्ण का निश्चय कर दिया तो बुद्धिमान् मनुष्य उन्हीं कर्तव्यों के पूरा करने में तत्पर रहता है जो कि गुण, कर्म स्वभावानुसार उसके लिये निश्चित किये गये हैं। जिस तरह कि अपने शरीर की सेवा

करता हुआ मनुष्य भी दास नहीं कहलाता उसी तरह अपने वर्ण के कर्तव्यों को पूरा करता हुआ, शूद्र भी घृणा के योग्य नहीं। वेद में परमात्मा ने वर्णों के विभाग को एक मनुष्य की बनावट से प्रकट किया है। जिस तरह मनुष्य की बनावट में मुख, बाहु जङ्घा और पैर हैं, और चारों भागों के समूह का नाम मनुष्य है। इसी तरह मुख की अपेक्षा में ब्राह्मण, बाहु की अपेक्षा में क्षत्रिय, जङ्घा की अपेक्षा में वैश्य, और पैरों की अपेक्षा में शूद्र इन चारों के समूह का नाम मनुष्य समाज है। तो पैर को अपने काम में लगा होने के कारण से घृणा की दृष्टि से देखने वालों को हम मनुष्य कैसे कह सकते हैं? क्या यह तप नहीं है, कि शूद्र अपने स्वामी की सेवा की लगन में अपनी बराबरी के दर्जे की मनुष्यता को भूल जाता है। किसी वर्ण के कर्तव्यों को भी घृणा की दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। कोई समय था कि इङ्गलैण्ड जैसे स्वतन्त्र देशों में भी व्यापारी लोगों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु आज उन देशों में व्यापारी, मनुष्यों के राजा समझे जाते हैं और अङ्गरेज दुकानदारों की कौम होने का अभिमान करते हैं।

यह वैदिक आचरण है, किन्तु कितने शोक की बात है कि जिस स्थान से वैदिक धर्म सारे संसार में फैला, जिस देश में उसने युवावस्था को प्राप्त किया, उस देश में आज 'बनिया' शब्द घृणा से बोला जाता है। और हर नीच मनुष्य तक दूसरे से लड़ता हुआ ताना देता है 'मुझे क्या बनिया समझा है?' आह! कितना परिवर्तन है। अपना धर्म पालन करते हुए कोई भी दूषित नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत दूसरे का धर्म भी मनुष्य को उभार नहीं सकता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य को उच्च बनने की चेष्टा न करनी चाहिये। परन्तु अपने अन्दर जिस कर्तव्य के पूरा करने की शक्ति न हो उसको पूरा

करने की चेष्टा न केवल दूसरों को हानि ही पहुँचाती है बल्कि अपने आपको भी पाप के गढ़ में गिरा देती है । क्या वर्तमान अवस्था में पैर से सोचने का काम लिया जा सकता है और क्या सिर से चलने का काम पूर्णतया हो सकता है ? माना कि प्रायः नट सिर के बल चलते हैं परन्तु ऐसे चलने वालों को कोई भी सभ्य नहीं समझता और न यह लोग संसार का कुछ भला कर सकते हैं । जिस तरह भुजा का काम उरु से नहीं हो सकता उसी तरह वैश्य में यह शक्ति नहीं है कि वह क्षत्रियों के कर्तव्य को पूरा कर सके । अगर एक वकील को चिकित्सालय में बैठकर हम उससे चिकित्सा कराना आरम्भ करें तो क्या वह सौ में से नब्बे बीमारों को मार न देगा ? जो जिस काम के लिये तैयार किया गया है उसी काम के करने में उसकी शोभा है । हाँ, ध्यान रहे इस वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म नहीं, गुण कर्म स्वभाव है ।

इसी प्रकार आश्रमों की व्यवस्था है । जिस मनुष्य ने मानसिक और आत्मिक शिक्षा भली प्रकार प्राप्त नहीं की है और उसका अनुभव करके परमात्मा की समीपता प्राप्त नहीं की है उसका संन्यास धारण करना जनता को खतरे में डालना है । भंगेड़ी, चरसी, लम्पट व्यक्तियों का ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना व्यर्थ है । जिस गृहस्थ आश्रम पर सारे आश्रमों के जीवन का निर्भर है उसके अन्दर कामी, लोभी, और दुराचारी मनुष्य का प्रवेश करना, हानिकारक है । इसका स्पष्ट उदाहरण इस समय हम अपने गिरे हुये देश में देख रहे हैं । कृष्ण भगवान् के उपदेश को आज सबसे बढ़कर कृष्ण भक्त भूले हुये हैं ।

प्रिय पाठकगण ! परमात्मा ने तुम में से प्रत्येक को विशेष विशेष शक्तियाँ दी हैं । अपने कर्मानुसार तुमने इन शक्तियों को निर्बल या बहुत प्रबल किया है, इसका प्रमाण तुम्हारा आचार है । उस आचार के अनुसार तुम अपने कर्तव्यों को पूरा करना

आरम्भ कर दो। जिसे ज्ञाहूँ मिला है वह क्यों न जगह साफ करे। जिसे सूक्ष्म बुद्धि मिली है वह क्यों मौन साधकर उससे संसार को वञ्चित करे? क्यों न वह उसके बल से भूले भ्रतकों को सीधे रास्ते पर लगाये? आज भारतवर्ष में सभी ब्राह्मण बनना चाहते हैं। हममें क्षत्रिय बनने का साहस ही नहीं है और सोचते हैं कि वैश्य बनने में प्रतिष्ठा कहाँ? शूद्र बनना तो अलग रहा, शूद्र कहलाना भी कोई पसन्द नहीं करता।

प्रिय पाठकगण ! शूद्रों की इस देश को ज्यादा आवश्यकता है। सेवकों के अभाव ने ही तो यह देश रसातल को पहुँचा दिया है। तुममें से कितने हैं जो शूद्र कहलाने से न घबराते हुये, मनुष्यमात्र की सेवा का प्रण धारण करेंगे और वैदिक धर्म के चमत्कार से अन्धकार को दूर करने का यत्न करेंगे। #

: १५ :

असक्तबुद्धिः सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः।

नष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।

—गीता १८।४६

शब्दार्थ—(सर्वत्र असक्त बुद्धिः) संसार के सब सुखभोगों में जिसकी बुद्धि नहीं फंसी है ऐसा (विगतस्पृहः) अभिमान से रहित (जितात्मा) जितेन्द्रिय पुरुष (संन्यासेन) सच्चे त्याग से (परमां) महती (नष्कर्म्यसिद्धिम्) निष्काम सिद्धि को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

उपदेश—धर्म के पालन में जो मनुष्य दृढ़ है, कर्तव्य के पूरा करने को ही जिन्होंने जीवन का उच्च आदर्श समझा हुआ है, सच्चे त्याग को सिद्ध करना, उन्हीं के लिये सम्भव है। क्या केवल यह जान लेने से कि सांसारिक विषयों में नहीं फंसना

चाहिये मनुष्य विषयों की दासता से स्वतन्त्र हो सकता है ? और क्या केवल त्याग के गौरव को समझ लेने से ही मनुष्य त्यागी हो जाता है ? नहीं, इन उच्च अवस्थाओं में पहुँचने के लिये बड़े साधनों की आवश्यकता है और इन साधनों में से सबसे प्रथम बुद्धि को स्वच्छ करने की आवश्यकता है। जब तक बुद्धि उस दपण के अनुसार स्वच्छ नहीं होती, जिसमें प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों दिखाई देता है तब तक जिज्ञासु के लिये सच्चा मार्ग दिखाने का काम नहीं दे सकती। तब हम बुद्धि को कैसे स्वच्छ करें ? बुद्धि वास्तव में तो स्वच्छ ही है। क्योंकि जिस जीवात्मा का वह एक पुर्जा है वह जीवात्मा स्वरूप से स्वयं स्वच्छ है। हाँ ! अविद्या का सङ्ग उसे मलिन कर देता है और तब उसे वस्तुओं का असली स्वरूप दिखाई नहीं देता।

साधारण मनुष्य सांसारिक सुखों को ही जीवन का लक्ष्य समझ लेते हैं और उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हुये अपने अमर आत्मा का नाश कर लेते हैं। जिस मनुष्य को अधिक मिठाई खाने के बाद भारी कष्ट मिल चुका हो, उसे भी हम बार २ उसी मिठाई के इर्द गिर्द भौरे की तरह मंडराता हुआ देखते हैं। क्या इस मनुष्य की उन पतङ्गों से कुछ अधिक उच्च अवस्था है जो कि अपने भाइयों को हजारों की संख्या में दीपक के आस-पास मरते हुये देखकर भी उसी पर न्योछावर होने के लिये जाते हैं। मनुष्य को बुद्धि तिरोभाव की अवस्था में नहीं दी गई है। जहाँ वनस्पति और पशु सृष्टि को बुद्धि से काम लेने का अधिकार नहीं है, वहाँ मनुष्य की बड़ाई ही यह समझी गयी है कि वह बुद्धि से काम ले सकता है। इसलिये मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि बुद्धि को मांजना शुरू करे। इस पर जो जङ्ग लग गया है उसको वह उतारने का परिश्रम करे। तब

उसको सांसारिक सुख व दुःख की वास्तविकता दिखाई देगी । उस समय मालूम होगा कि जिसे उसने सुख समझा था वह वस्तुतः सुख न था, जिसे वह दुःख समझता था वह भी यथार्थ में दुःख न था । फिर शारीरिक श्रम में दुःख न मालूम होगा और नरम गदेलों पर लेटना सुखदायी न नजर आयगा । तब पता लगेगा कि भोग के अन्दर सुख नहीं है और कवि के कथन के साथ वह सहमत हो सकेगा:—

‘भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः’ ।

भोगों को हम नहीं भोग रहे अपितु भोग हमको भोग रहे हैं । कामी पुरुष समझता है कि वह भोग करता है परन्तु सत्य यह है कि इन्द्रियों का काम उसे भोगता है । यज्ञि आँख से देखने का काम लेने की जगह हम रूप के अन्दर उसको फंसा देते हैं तो कहा जा सकता है कि हम रूप को भोग रहे हैं, लेकिन यथार्थ में रूप हमें भोग रहा होता है । न कान और न नाक, न जिह्वा और न त्वचा, कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को नहीं भोग रही परन्तु ये विषय न केवल हमारी इन्द्रियों को ही भोग रहे हैं बल्कि उनके द्वारा जीवात्मा को अपनी दास बना रहे हैं । इसलिये सबसे प्रथम बुद्धि को स्वच्छ बनाने के किसी साधन से काम लेना चाहिये ।

वर्णश्रम धर्म से बढ़कर बुद्धि के स्वच्छ बनाने का कोई साधन नहीं है । जो मनुष्य अपने आश्रम और अपने वर्ण के कर्तव्य को धर्म समझ कर पालन करता है उसकी बुद्धि उसी साधन से स्वच्छ हो जाती है । जो मनुष्य अपने कर्तव्य को समझने वाले हैं वे संसार की दृष्टि में गिरे से गिरे हुये काम को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते । ऐसे आचरण से उनकी बुद्धि स्वच्छ हो जाती है । उन्हें ज्ञात होता है कि महत्ता कार्य

करने में है न कि कार्य की उधेड़-बुन करने में। काम से, बिना संदेह, यहाँ अभिप्राय वैदिक नेक कामों से है न कि अशुभ कार्यों से। जिसने कर्म की महानता को समझा, उसने निःसंदेह बुद्धि की सफाई की कुँजी को पा लिया है। तब अभिमान का लेश भी उसके मन में नहीं रह सकता। जब कर्म ही प्रधान है और उसका फल कोई चीज नहीं है, जब झाड़ू लगाना, चौकी बिछाना और उस पर बैठकर न्याय करना सबके सब कर्म एक ही हैं, जब भेद है केवल कर्मों की बद नीति के दखल से तब इसमें अभिमान कहाँ रह सकता है? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र सब अपने २ कर्तव्य के पूरा करने में लगे हुये हैं। यदि संन्यासी सच्चे धर्म को समझकर उसका निघडक प्रचार कर रहा है तो क्या ब्रह्मचारी वेद विद्या की प्राप्ति के लिये उत्साह से काम करता हुआ संन्यासी से कम प्रतिष्ठा के योग्य है? और क्या गृहस्थ संसार की कठिनाई का मुकाबला करता हुआ, धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने में कष्ट उठाने वाला क्या कुछ कम माननीय है? नहीं। फिर अभिमान कहाँ? जब अभिमान नष्ट हो गया तो फिर 'फसावट' का मतलब ही क्या रहा? उस समय सच्चा त्याग मनुष्य के अन्दर धर करता है और वह निष्काम भाव से प्रत्येक कार्य को करता हुआ उन कर्मों के बन्धन से स्वयं स्वतन्त्र हो जाता है।

प्रिय पाठक गण ! इस निष्काम सिद्धि के लिये ही शास्त्रों ने सारे जप, तप, यम, नियम आदि नियत किये हैं। इसी लिये सारे संसार को मित्र की दृष्टि से देखने की वेद भगवान् ने आज्ञा दी है। आओ ! सच्चे दिल से परमात्मा से प्रार्थना करें कि वह हम सबको अविद्या रूपी अन्धकार से निकाल कर प्रकाश के सीधे मार्ग में ले चले।

१६ : १६ : १६

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन, दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

—मनु० २।८३

शब्दार्थ—(इन्द्रियाणां) इन्द्रियों के (प्रसङ्गेन) विषयों में फँसने से मनुष्य (असंशयम्) निश्चय से (दोषम् मृच्छति) दोष का भागी होता है। किन्तु (तानि एव तु) जेहीं इन्द्रियों को (सन्नियम्य) संयम करके (ततः सिद्धिं) बाद में सफलता को (नियच्छति) प्राप्त कर लेता है।

उपदेश—आत्मा स्वभाव से दर्पण की तरह स्वच्छ है। जिस दर्पण को जितना अधिक स्वच्छ किया जाय उसी प्रकार अधिक सफाई के साथ उसमें वस्तुओं की शकलें ठीक-ठीक दिखाई देगी या जिस प्रकार मैलापन उस पर आ जावे उसी प्रकार वस्तुओं के रूप दिखाने के वह अयोग्य हो जाता है, इसी तरह आत्मा की अवस्था है। यदि नियम आदि साधनों से आत्मा को साफ किया जावे तो उसकी बुद्धि ऐसी उग्र अर्थात् सूक्ष्म हो जाती है कि वह ब्रह्मघाम तक जाने के योग्य बन जाता है। किन्तु अगर उस पर विषयों का मेल आजावे तो उसमें वस्तुओंके यथार्थ रूप प्रकाश की शक्ति नहीं रहती। जीवात्मा का जीवन उद्देश्य क्या है? इसका विचार उसे हर समय चाहिये, तब वह विषयों की दासता से बड़ी सुगमता से स्वतन्त्र हो सकता है। विषयों में फँसने का परिणाम ही सब प्रकार के दोष हैं। यह इसलिये कि विषयों में इन्द्रियों के द्वारा खिंचा हुआ पुरुष विषयों को ही अपना आदर्श समझता है। यथार्थ में न केवल विषय, बल्कि इन्द्रियां भी जीवात्मा की ज्ञान पहुँचाने के लिये

साधन मात्र का काम देती हैं। कल्पना करो कि एक बड़े योग्य पदार्थवेत्ता को एक बड़े रसक्रिया भवन में नियत किया गया है। इसके आधीन न केवल इस भवन के सम्बन्ध में बहुत से सहायक दिये गये हैं बल्कि उसकी अपनी सेवा के लिये भी दस, बारह सेवकादि नियत हैं। क्या बिना बताये वह पदार्थ ज्ञानी यह नहीं समझ सकता कि उसको पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त करके दूसरों पर प्रकाश करने की इच्छा से उस रसक्रिया भवन में भेजा गया है? अगर फिर भी वह अपने वास्तविक लक्ष्य को भूलकर दिन भर सेवकों से आनन्द लेने में ही फँसा रहे तो उसे कौन बुद्धिमान समझेगा?

मनुष्य रचना में परमात्मा ने अपनी अपार दया से बुद्धि का एक विशेष पद रक्खा है। शरीर पच्चीस वर्ष की आयु तक बढ़ता है और चालीस तक अपनी उन्नति को स्थिर रख सकता है, उसके पश्चात् ह्रास आरम्भ हो जाता है। यह अवस्था उन पुरुषों की है जो साधारणतः अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे पुरुष अन्त में सौ बरस में चल बसते हैं। विशेष नेकी में पुरुषार्थ करने वाला पुरुष तीन सौ साल तक जीवित रह सकता है। इससे बढ़कर जीना मनुष्य की हिम्मत से बाहर है परन्तु जो असाधारण रूप में पाप का जीवन व्यतीत करते हैं उनका जीवन बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और उनके लिए युवावस्था और बुढ़ापे की आयु में कोई भेद नहीं रहता। चाहे कोई अवस्था हो, मनुष्य ने अवश्य नाश होना है। यह बनावट अनन्त समय तक स्थिर नहीं रह सकती। न शरीर, न इन्द्रियाँ, रहने वाली हैं। हाँ, इन सबके नियम जीवात्मा के अन्दर उपस्थित रहते हैं। ये इन्द्रियाँ किसी नियत सीमा तक उन्नति कर सकती हैं, उसके बाद उन्हें नीचे गिरना पड़ता है। किन्तु बुद्धि है, जिसकी उन्नति मरण पर्यन्त बन्द नहीं होती और फिर मरने के पश्चात्

दूसरे जन्म में भी स्थिर रह कर आगे चलती है। इसलिए बुद्धि को उन्नत करना ही मनुष्य का परम धर्म है। इन्द्रियाँ और विषय आदि इस परम उद्देश्य के अन्दर केवल साधन हैं। कंसा मूर्ख है वह जो इन साधनों का दास बन जाता है। आंसू हमें इसलिये दी गई हैं कि हम सारे संसार के रूप की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को समझ सकें और उनका ज्ञान प्राप्त करके उसको बुद्धि की उन्नति का साधन बनावें। परन्तु हम में से कितने मनुष्य हैं जो रूप के दास नहीं बन रहे। इसको छिपाने के लिए हजारों पाप कर्म किये जाते हैं। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय जीवात्मा की दास बनायी गई है। परन्तु वही दास जीवात्मा को अपने वश में करके नाशवान् विषयों के दास उसे बना रहे हैं। इसी कारण मनुष्य को संसार में क्लेश दिखाई देते हैं।

परमात्मा ने स्वभाव से इस संसार को स्वर्गधाम बनाया था। मनुष्य को कर्म-योनि देकर उस स्वर्ग धाम से पुरा लाभ लेने के योग्य बनाया था। हम मनुष्यों ने स्वयं इसे अपने कर्मों से नरक धाम बना रक्खा है। विषय सङ्ग से ही सारे दोष पैदा होते हैं। जिसके सेवक उसके वश में हैं वह सुखी है। जिसके सेवक उसके मालिक बने हुए हैं उससे बढ़कर कोई दुःखी नहीं है। अतः इन दोषों से छूटने के लिये मनुष्य को विषयों से स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिये। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध हो जाता है उसे मनुष्य छोड़ सकता है और इसलिये वह उसे फौरन छोड़ देवे। अगर यह सम्बन्ध टूट जावे तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही पैदा नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान के न होने से अनुमान इत्यादि की समाप्ति हो जाती है। तब जब प्रमाण ही स्थिर न रहे तो प्रमेय वस्तु कैसे जानी जा सकती है। इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध बराबर रहता है और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीवात्मा इस जीवन में

बुदा नहीं हो सकता । परन्तु हाँ, वह सम्बन्ध मालिक और सेवक का होना चाहिये । ऐसा न हो कि सेवक स्वामी बन जाये और स्वामी सेवक बन जाये ।

प्रिय पाठकगण ! हम सब अपने परम उद्देश्य को भूले हुए हैं । विषयों की वास्तविकता को न जानते हुए हम उनके भोग ही में सुख माने बैठे हैं । इसलिए हमारे पीछे बीसों दोष लगे हुये हैं और हमको मीड़ित कर रहे हैं । विषयों से छुटकारा प्राप्त करने का यत्न आज से ही आरम्भ कर दो जिससे जिस समय जीवात्मा शरीर से पृथक् होने लगे उस समय हमारी कोई भी वासना सांसारिक पदार्थों में बाकी न रहे । ताकि हम अपने परम उद्देश्य का ध्यान करते हुए ही प्राण त्याग करें और मुक्ति के भागी बन सकें ।

: १७ :

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते ॥

—मनु. २।६४

शब्दार्थ—(कामानामुपभोगेन) विषय वासना की पूर्ति से (कामः) इच्छा (जातु) कभी (न शाम्यति) शान्त नहीं होती अपितु वह इच्छा तो (हविषा) घी की आहुति से (कृष्णवर्त्मव इव) अग्नि की लपट की तरह (भूय एव) फिर फिर (अभिवर्धते) प्रबल हो जाती है ।

उपदेश—इन्द्रियाँ नये बछेरो की भाँति इधर उधर भागती हैं । उनको किसी वस्तु की इच्छा है । बछेरा पैदा होते ही इधर उधर पर मारने लगता है । घास और चारे को न

(२७१)
 पहिचानता हुआ भी उनके भोग की इच्छा अपने अन्दर रखता है, किसी को बतलाने की आवश्यकता उसे नहीं होती। कुछ देर बाद वह स्वयमेव घास खाने लग जाता है। जिस प्रकार दूसरे घोड़ों को करते देखता है वैसे ही स्वयं करने लग जाता है किन्तु क्या घास मिलने से और घेठ भर कर खा लेने से उसको शान्ति होती है। एक खेत से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, इसी उधेड़बुन में वह लगातार लगा रहता है! कारण क्या है? घास खाने या दूसरी खुराक पहुँचने से उसकी तृप्ति नहीं होती। परन्तु जहाँ भूख ही नहीं रहती, वहाँ इच्छा बहुत अधिक चमकती है और इसी प्रकार इधर उधर फिरता हुआ बछेरा केवल चन्द दिनों का महमान होता है। अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए पहाड़ और जङ्गल में वह कुछ भेद नहीं करती। कई बार ऐसा भी होता है कि वह बीहड़ रास्ते में ठोकरें खाकर मर जाता है। तब हम यहीं कहते कि उसने कोई भले का काम किया।

इसके विपरीत यदि यह बछेरा किसी बुद्धिमान मनुष्य के वश में आ जाता है तो उसका स्वामी, जहाँ समय पर उसके लिये केवल घास ही नहीं किन्तु दाने का भी प्रबन्ध कर देता है और उसके पीने के लिये स्वच्छ जल सामने रख देता है, वहाँ उसे काम योग्य बनाने का भी बड़ा प्रयत्न करता है और कुछ दिनों में उसे इस योग्य बना लेता है कि वह सवार को उसके इशारे पर हर जगह ले जा सके। यही अवस्था इन्द्रियों की है। विषयों को अनुभव करते हुए, इन्द्रियाँ बेवश उसके अन्दर दौड़ती हैं। आँख रूप की ओर जाकर यदि उसी को अपना उद्देश्य समझ लेवे (और अविद्या के कारण होता भी ऐसा ही है) तो फिर उसका वहाँ से लौटना असम्भव है। आग पर जिस प्रकार घी छोड़ो, उसी प्रकार वह प्रज्वलित होती है। विषय भोग भी घी आग में छोड़ने के तुल्य हैं। जितना मनुष्य

विषयों की अधिक भोगेगा उतना ही उनके भोगने की इच्छा बढ़ती जाती है। मनुष्य अल्प है, जीवात्मा शरीर रूपी कारागार में कैद होने के कारण अपनी शक्तियों को और अधिक सीमित कर बैठता है। इसलिये उसके अन्दर भोग की शक्ति भी अनन्त नहीं हो सकती, किन्तु भोग की इच्छा की कोई सीमा नहीं है। इस इच्छा का वश में रहना कठिन है। इच्छा को वश में करने के लिये उसे जड़ से काट देना ही आवश्यक है, किन्तु यह कार्य बड़ा कठिन है।

विषय भोग की यह इच्छा कैसे दूर हो ? भोग से तो इच्छा दूर होती नहीं फिर क्या मनुष्य भोग का सर्वथा त्याग कर दे ? जो मनुष्य भोग से शान्ति की अभिलाषा करते हैं उनकी गणना इस समय संसार में अधिक है। सांसारिक उन्नति को ही जीवन का उद्देश्य समझने वाले इस समय अधिक हैं। सम्यता का लक्षण ही यह किया जाता है कि जो आवश्यकताओं को बढ़ाकर उनके पूरा करने के लिये मनुष्यों में जद्दोजहद करावे। कहा जाता है कि इस संघर्ष का परिणाम ही इस समय की सम्यता है। वृक्ष अपने फल से पहिचाना जाता है। जिज्ञासु पूछता है कि क्या इस सम्यता ने मनुष्यों के हृदय शान्त कर दिये हैं ? क्या नरम से नरम मदलों ने मनुष्यों के शरीरों को हर प्रकार के कष्ट सहन योग्य बना दिया है ? क्या एक चुटकी से नगर के नगर नष्ट कर देने वाली भयानक पुड़िया और गुप्त से गुप्त समाचार पहुँचाने वाले बतार के तार ने संसार के राजाओं को सुख की नींद का दान दे दिया है ? अगर नहीं तो तुम्हारी सारी डींग व्यर्थ है।

सांसारिक उन्नति, जिस पहलू में अच्छी और आवश्यक है, उसी पहलू से इसे देखना चाहिए। विषय भोग के लिये कैसे ही आश्चर्य-जनक साधन क्यों न पंदा करो, इनसे इन्द्रियों का

तृप्ति नहीं हो सकती। दूध के मस्त्रन को चाहे किसी अंकन में बदल कर आम में डालो, वाय कदाचित् शान्त न होगी। क्या हलवे में मिलाकर, घी को आम में डालने से वाय शान्त हो जाती है? वाय को शान्त करने के लिये आवश्यक है कि घी का डालना बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। किन्तु क्या घी डालना बिल्कुल बन्द करने से आम शान्त हो जायगी? हाँ, कुछ समय के लिये अवश्य शान्ति की ओर चलेगी। किन्तु यदि उसके क्षेत्र में शुष्क लकड़ियाँ या जावेंगी तो वह फिर चमक उठेगी। इसी तरह भोगों से बिल्कुल पृथक् हो जाने से भी चाहे कुछ समय के लिये इन्द्रियाँ शान्त सी प्रतीत होती हैं परन्तु वह सदा के लिए शान्त नहीं होती। जरा से सम्बन्ध से वह इच्छा फिर जाग उठती है और बेबस इन्द्रियों को उसके विषय के अन्दर फँसा कर जीवात्मा को फिर से अज्ञान्त कर देती है। ऐसी अवस्था में यद्यपि इलाज अधूरा है तब भी मुकाबिल रोग के अधिक कष्ट और अधूरे इलाज का है। इसलिए मनु जी महाराज यहाँ केवल इतना ही निश्चय करते हैं कि विषय भोग के अन्दर फँसने की अपेक्षा उनसे बचना श्रेष्ठ है। क्योंकि भोग हमको दुःख के गढ़ में अधिक से अधिक नीचे की ओर ले जाता है।

दूसरी बात यह है कि केवल त्याग को भी भयानक समझ हमें शान्ति की खोज करनी है। तो भी यह सिद्ध होता है कि भोग की अपेक्षा त्याग अधिक सुरक्षित है और मनुष्य को सौधे मार्ग पर ले चलने वाला है। साधन-शून्य, साधारण मनुष्यों के लिए अच्छा है कि वे हर प्रकार के प्रचोभनों से पृथक् रह कर अनुभव शून्य कहाने का ताना बर्दाश्त कर, किन्तु बिना साधनों के इन्द्रियों के साथ जङ्गल करने में तत्पर न हों।

प्रिय पाठकगण ! जिन सरल हृदय बालकों और बालिकाओं ने अब तक इन्द्रियों की इच्छाओं के वेग की यथार्थता को

नहीं समझा है, जिनके हृदय अब तक साधनों की ओर केवल झुके ही हैं, उनको परीक्षा में मत डालो। उनके कोमल मनों को हर प्रकार के विषयों की लुभावनी मूर्ति के दर्शनों से जुदा रख कर ऋषियों के कथनानुसार उन्हें साधन-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करो ताकि वे इन्द्रियों को पूरे तौर पर काबू करके विषयों को अपना दास बनाने का बल प्राप्त करने के पश्चात् संसार में प्रवृत्त होकर न केवल आप ही ज्यादा बलिष्ठ बनें, बल्कि आजकल के गिरे हुए मित्रों को भी उठा सकें।

: १८ :

यश्चेतान् प्राप्नुयात् सर्वान्यश्चेतान् केवलास्त्यजेत् ।

प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ।

तथेतानि न शक्यन्ते, संनियन्तुमसेवया ।

विषयेषु प्रजुष्टानि, यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥

—मनु० २। ६५, ६६

शब्दार्थ—(यत् च) जो (एतान् सर्वान्) इन सब विषयों को (प्राप्नुयात्) प्राप्त करे, भोगे। (यत् च) और जो (एतान् केवलान्) केवल इन विषयों के त्यजेत्) त्याग में प्रवृत्त रहे। इन दोनों में से (सर्वकामानां प्रापणात्) सब इच्छाओं की पूर्ति से (परित्यागः) कामनाओं का परित्याग ही (विशिष्यते) अधिक श्रेष्ठ है।

(एतानि प्रजुष्टानि) विषयों में फँसी हुई इन इन्द्रियों को (असेवया) विषय भोग से पृथक् रह कर (संनियन्तुम्) संयम में रखना (तथा शक्यन्ते) इतना अधिक सम्भव नहीं है (यथा) जितना कि (नित्यशः ज्ञानेन) सतत ज्ञानपूर्वक संयम में रखने से।

उपदेश—अपने पहले कथन का परिष्कार बतला कर मनु भावान् आगे चलते हैं। विषयों में दिन रात फँसे रहने से, उसका सर्वथा त्याग श्रेष्ठ है। क्यों? इसलिये कि जहाँ विषयों में फँसा हुआ पुरुष, दिन रात नीचे की ओर चलता रहता है, वहाँ त्यागी कम से कम अपनी साधारण अवस्था पर तो स्थित रहता है। यह माना कि दोनों अवस्थायें भयानक हैं। त्यागी और भोगी दोनों के दोनों हर समय गिर सकते हैं किन्तु भोगी तो गिरा हुआ ही है, वह उससे अधिक क्या गिरेगा? एक गंद को एक बार भीचे की ओर धकेल दो, वह किसी न किसी समय सबसे नीचे तल पर पहुँच जायेगी। हाँ बीचमें अगर और धक्के मिलते आधे तो अधिक तेजी के साथ आ गिरेगी। लेकिन त्यागी की यह अवस्था अब तक नहीं है। सम्भव है उचित साधन आरम्भ हो जावे और वह भयानक अवस्था से बच जावे किन्तु ऐसी अवस्था में इन्द्रियों को ज्यादा देर तक रखना खतरनाक है। त्याग भी बिना नीचे के स्थिर नहीं रह सकता। जो इन्द्रियाँ एक बार भोगी में फँस चुकीं हैं (जैसे कि मिन्नानवे प्रतिशतक मनुष्यों की अवस्था है) उनके लिए सर्वथा त्याग असम्भव नहीं तो बड़ा कठिन है। इसलिए त्याग की अवस्था को दृढ़ करने के लिये आवश्यक है कि ज्ञान मनुष्य का सहारा है। ज्ञान द्वारा एक-एक इन्द्रिय की फँसावट की वास्तविकता को जानकर उसको अपने विशेष विषय की ओर झुकने के कारणों को मालूम करना चाहिए। जिस समय विषयों की असारता और तुच्छता प्रतीत होती है तो मनुष्य विषयों की ओर झुकता ही नहीं है।

संसार की प्रत्येक बुराई मनुष्य को अपनी ओर उसी समय तक खींचती है जब तक उसके धृणित रूप पर बनावटी सम्यता का खोल चढ़ा हुआ रहता है। बुद्धि से इस खोल को उतार कर हर एक विषय को उसके यथार्थ रूप में देखना ही

बुद्धि का वास्तविक ज्ञान है। इसलिए बुद्धि का सारा बल विषयों की वास्तविकता के ज्ञान से ज्ञानाना चाहिए। इसी काम के लिये हमें इन्द्रियों और उनके गोलक अर्थात् क्रिये गये हैं। किन्तु क्या बुद्धि द्वारा केवल विषयों की वास्तविकता की जान लेने से हम सब सुरक्षित हो सकते हैं? यही सचिव बड़ी नाजुक है। विषयों का असली स्वरूप जानकर भी मनुष्य उसकी पकड़ से नहीं निकल पाता। आवश्यक है कि दिन रात, हर पल हर घड़ी विषयों का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने रहे। इसलिए मनु मन्त्राज सावधान करते हैं कि इन्द्रियों को जीतने के लिए आवश्यक है कि विषयों के अर्थरूप का ज्ञान सदा बना रहे।

बहुत कम विद्या साधनों के असम्भव है। इस समय संसार का बहुत बड़ा योग साधन-हीन हो रहा है। इसलिए हम बड़े से बड़े ज्ञानियों की विषयों का शिकार हुआ देखते हैं। वही कारण है कि ज्ञानियों के गिरने की सर्वसाधारण चर्चा हमें प्रतिदिन मनुष्य समाज में सुनवाई देती है। वरना जो ज्ञानी हैं वे गिर कैसे सकते हैं? केवल ज्ञान से ही मनुष्य ज्ञानी नहीं हो सकता। बल्कि उस ज्ञानी बुद्धि-बलु को अपना लेने से मनुष्य ज्ञानी हो सकता है। ज्ञान लेने से केवल विद्वान् मनुष्य बुराईयों का शिकार हो सकता है। विद्या शब्द 'बिड़-ज्ञाने' धातु से निकला है, इसलिए केवल विद्वान् विषयों में लिप्त होकर बरबाद ही हो सकता है। किन्तु साधारणशील देव इस क्रमजोरी से मुक्त हो जाता है।

प्रिय पाठकगण ! जब तक एक एक विषय की घृणित शक्त को सम्यक्ता के खोल से निकाल कर आप देख नहीं सकते तब तक आपके मन में कदाचित् घृणा उससे हो नहीं सकती। स्वयं को ऊपर के यदें होने निकालने तो बाकी क्या रहता है? इसकी मसाले से पृथक् किये तो उसके अन्दर फोफाण्ड का सामान कीन्हीं रह जाता है। और फिर इन सब विषयों के भोग में

फँसने का अन्तिम परिणाम क्या होता है ? विषयों की यथार्थता को केवल एक बार जान लेना पर्याप्त नहीं है । उनकी वास्तविकता का ज्ञान हर समय बना रहना चाहिए । ऐसा न हो कि तुम्हें बेखबर पाकर विषय फिर अपना काम कर जावे और तुम्हारी बरसों की कमाई का एक मिनट में नाश कर दे । शरीर में वह शक्ति नहीं है कि इनको वश में कर सके । यह शक्ति आत्मा के अन्दर ही है जिसका साधन बुद्धि है उसको दिन रात माँजने का यत्न करो । 'बुद्धिर्ज्ञानिन शुद्ध्यति ।' बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है और फिर वह शुद्ध की हुई बुद्धि स्वयं ज्ञान को शुद्ध अवस्था में जीवात्मा तक पहुँचाती है । धन्य हैं वे पुरुष, जो यम, नियमादि साधनों से बुद्धि को माँज कर सत्य ज्ञान के अधिकारी बनते हैं और उसकी रक्षा में चलकर, सांसारिक विषयों को जोत कर अर्थ और परमार्थ के भागी बनते हैं । उनके लिये संसार फिर कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती । संसार उन्हें अपना दिखाई देता है और इसलिये वे तर्क वितर्क और मोह के सागर से पार हो जाते हैं ।

: १६ :

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च, भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति न्नायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

—मनु० २।६८।

शब्दार्थ—(श्रुत्वा) सज्जीत सुन कर, (स्पृष्ट्वा च) सुन्दर पदार्थों को छूकर (दृष्ट्वा च) सुन्दर रूप को देख कर (भुक्त्वा) स्वादिष्ट पदार्थों को खाकर (घ्रात्वा च) और सुगन्ध पाकर (यो नरः) जो न हि स्पृष्ट्वा व्यक्त (न हृष्यति) न तो प्रसन्न

होता है और (न ग्लायति) न विकृत पदार्थ पाकर दुःख मानता है (सः) वह (जितेन्द्रियः) मनुष्य जितेन्द्रिय (विज्ञेयः) समझा जाना चाहिए ।

उपदेश—जब विषयों में फँसना ही दुःख का कारण है और जीवात्मा को विषयों में फँसाने के साधन इन्द्रियाँ ही हैं, तब निःसन्देह दुःख दूर नहीं हो सकता, जब तक कि इन्द्रियों को वश में न किया जाय । तब इन्द्रियों पर विजय कैसे प्राप्त हो ? यह प्रश्न विचारने के योग्य है । इससे पहिले कि इन्द्रियों को जीतने के साधन मान्य हो सकें, यह जानना अत्यन्त ही आवश्यक है कि इन्द्रियों को जीतने से अभिप्राय क्या है ? क्या इन्द्रियों को मार डालने वाला मनुष्य इन्द्रियजित् हो सकता है ? क्या जो मनुष्य अपने कानों से बहरा हो जावे, आँखों से अन्धा हो, जिसकी जिह्वा में स्वाद लेने की शक्ति न रहे, जिसकी नाक के लिये सुगन्ध और दुर्गन्ध में भेद करना असम्भव हो जाय और जिसके शरीर में छुरी चुभाने से भी कुछ अनुभव करने की शक्ति न रहे, क्या ऐसा पुरुष जिसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में काम करने की शक्ति का तिरोभाव हो जाय, जितेन्द्रिय कहलाने का अधिकारी हो सकता है ? ज्ञानेन्द्रियाँ तो दूर रहीं, (क्योंकि प्रत्येक गति का आश्रय सीधा मन के साथ है) कर्मेन्द्रियों तक की शक्तियों को नष्ट करने की कोशिश से कभी वे इन्द्रियाँ वश में नहीं आतीं । कारण स्पष्ट है । बिना मन के साथ सम्बन्ध हुये, कोई भी इन्द्रिय काम नहीं करती । जब मन हलकत करने वाला मीजुद है तो इन्द्रिय के गोलक को टुकड़े-टुकड़े कर डालने से भी उस इन्द्रिय का काम बन्द नहीं होता । मैंने एक साधु को देखा है जो काम से वशीभूत होकर एक बार अपने मन को न रोक सका । उसे अपनी इस गिरी हुई अवस्था से ऐसी घृणा हुई कि उसने अपनी गिरावट के कारण इन्द्रिय के गोलक को काट कर

अलग कर दिया। उसकी उस अवस्था को देख सहस्रों के मन जल गये। डाक्टर ने चिकित्सा की और वह साधु रसो हो गया। कुछ समय के बाद मैंने फिर देखा कि उसके आचरण बहुत ही गिर गये थे। इसका कारण क्या था? इन्द्रियों को बुरे मार्ग पर ले जाने का कारण मन है। साथ ही उन्हें सीधे मार्ग पर चला कर उन्हें संसार के उपकार का साधन बनाने का जरिया भी वही मन है। फिर क्या जितेन्द्रिय होने के लिये पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के गोलक काट कर फेंक देने की आवश्यकता है? कदाचित् नहीं। ऐसी चेष्टा से इन्द्रियों का वश में आना कठिन है। क्योंकि गोलक दूर होने से भी मन के द्वारा इन्द्रियों का काम होता ही रहता है, इसलिये जितेन्द्रिय होने के लिये इन्द्रियों से पृथक् होने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इन्द्रियों को उनके उचित कामों में लगा कर ही मन वश में आ सकता है।

जितेन्द्रिय पुरुष के काम बन्द नहीं हो जाते, न उनमें गरम श्लाका डालने की आवश्यकता है। उसकी बुद्धि ऐसी हो जाती है कि मीठे स्वर से न उसको सुख होता है और न कड़वा शब्द उसे दुःखदायी प्रतीत होता है। उसकी त्वचा में स्पर्श की शक्ति बराबर स्थिर रहती है। किन्तु न उसे नरम गदेलों से आनन्द आता है और न ही सख्त लकड़ी व पत्थर पर सोने में उसे कुछ दुःख प्रतीत होता है। उसकी दृष्टि बदसूरत और सुन्दर वस्तुओं पर एक जैसी पड़ती है। उसकी जिह्वामुक्ति को स्वादु चीज की आवश्यकता नहीं होती और न उसे सुगन्धि से खुशी और न दुर्गन्धि में रंज होता है। इन सब इन्द्रियों को केवल साधन मात्र समझता हुआ ऐसा इन्द्रियजित् पुरुष व्यसनों से दूर रह कर अपने कर्तव्य कर्म को ठीक तौर पर पालन कर सकता है।

इन्द्रियों का विषय बन जाना हमारा कोई उद्देश्य नहीं है। मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति में जैसे अलग अलग

गिनत साधन हैं, उनमें से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच प्रकार के साधन मात्र हैं। इस सचाई को न जानते हुए सांसारिक विषयों में लिप्त गृहस्थी पुरुष अपनी आयु को खराब कर बैठते हैं।

मुझ से एक बड़े माननीय वकील की बातचीत हुई। पहले वह मुझसे घर्म विषय पर वार्तालाप करने को तय्यार न थे। फिर यह कहा कि आपके मन्तव्य शायद मेरे साथ न मिलें और साथ ही यह भी कहा कि वह बहस नहीं करना चाहते। तब मैंने निवेदन किया कि बहस न करते हुए वह केवल मेरे मन्तव्य सुन लें। इससे उन्हें क्या इनकार हो सकता था? मैंने अपने मन्तव्यों की व्याख्या करके जब सुनाई तो वे स्वयं बोल उठे कि उनके भी वही मन्तव्य हैं। तब मैंने उनसे कहा कि मेरे साथ मिलकर इन मन्तव्यों के फैलाने में सम्मिलित हों। इसका जो उत्तर मेरे माननीय मित्र ने दिया वह मुझे कभी नहीं भूलेगा। 'यह बातें चौथे पन की हैं। इन पर अमल संसार के काम समाप्त करके किया जा सकता है' ओह ! कैसे खतरनाक शब्द हैं। मेरे मित्र युवावस्था में ही हजारों रुपये कमाने और सांसारिक प्रतिष्ठा के पीछे भागते हुए ही चल बसे और वह समय न आया जबकि वह संसार के कामों को समाप्त कर परमार्थ में लगते।

कवि ने कैसा ठीक कहा है 'कारे दुनियां कसे तमाम ना करद' 'किमी ने दुनियां के काम समाप्त नहीं किये। दुनियां के काम संसार में फँसे रहने से कब समाप्त हो सकते हैं? आज करोड़ों मनुष्य अविद्या में बहे चले जा रहे हैं। वे नहीं समझते कि भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने के यत्न की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ कभी तृप्त नहीं हो सकतीं, विषय रूपी घृत की आहुति इन्द्रियों की इच्छा रूपी अग्नि को अधिक से अधिक तेज करती है। इसलिये गृहस्थ ही में इन्द्रियाँ वश में आ सकती हैं। गृहस्थ आश्रम में ही मनुष्य मन को जीत सकता है।

यदि जङ्गल में जाने से इन्द्रियां वश में आ सकतीं तो जङ्गलियों की वह दशा न होती जो दिखलाई देती है ।

इसलिये पाठकगण ! गृहस्थ आश्रम के अन्दर ही इन्द्रियों के भोग में सुख और दुःख की भावना को छोड़ कर अपने मन को वश में करो । तब तुम्हारे जितेन्द्रिय होने में सन्देह न होगा और तब तुम मनुष्य जन्म के कर्त्तव्य कर्मों को पालन करते हुये सच्चे संन्यास के अधिकारी बन सकोगे । परमात्मा अपनी अपार दया से हमें अपनी ओर खींचने के लिये साधन दर्शाती हैं । क्या हम सब ज्ञान-चक्षु रखते हुए भी अन्धे ही बने रहेंगे ? भीतर से आवाज आती है 'नहीं, हमारे ज्ञान-नेत्र अवश्य खुलेंगे ।

: २० :

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा इत्येतेः पात्रादिवोदकम् ॥

—मनु० २ । ६६॥

शब्दार्थ—(यदि) अगर (सर्वेषां) मनुष्य की सब (इन्द्रियाणां तु) इन्द्रियों में से तो (एकं इन्द्रियम्) एक भी ज्ञानेन्द्रिय (क्षरति) विषय भोग में पड़ कर पथभ्रष्ट हो जाती है, (तेन) तो उसके प्रभाव से (अस्य) इस मनुष्य की (प्रज्ञा क्षरति) बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है (इत्येतेः पात्रात् इव) जैसे कि फटी हुई मशक से (उदकम्) पानी बह जाता है ।

उपदेश—किसान अपने खेत को सींचने के लिये चरस मोल लेता है, चारों तरफ से देखभाल कर उसका सौदा करता है । अगर एक भी छेद चमड़े में हो तो उसे परे फेंक देता है, फिर अच्छा चरस लगाकर किस आनन्द से कुआँ चलाता है और अपने खेत को पानी देता है । परन्तु ज्यों ही उस चरस में

एक छेद हो जाता है त्यों ही किसान निराश हो जाता है। एक छोटा सा सुराख यदि असावधानी से छोड़ दिया जाय तो कुछ समय के पश्चान् सारे चरसे में छेद ही छेद हो जाते हैं। और अधिक समय नहीं व्यतीत होता कि दूसरे नये चरस की आवश्यकता होती है। लगभग यही अवस्था इन्द्रियों की है। एक इन्द्रिय के भी अन्दर यदि छेद हो जाय और उसका झुकाव अपने विषय की ओर हो तो दूसरी इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर जानें से रुक नहीं सकतीं। इसका परिणाम शनैः शनैः यह होता है कि मनुष्य की सारी बुद्धि तट्ट हो जाती है। जड़ चरस और मानवीय बुद्धि के अन्दर अन्य सब बातें तो मिल जाती हैं किन्तु एक अन्तर रहता है जड़ चरस यदि खराब हो जाय तो दूसरा नया बाजार से मिल सकता है, परन्तु इन्द्रिय एक बार खराब हो जायें तो फेंकी नहीं जा सकतीं और न उनकी जगह नयी इन्द्रियाँ मिल सकती हैं। विषयों में फँसी हुई इन्द्रियाँ चाहे जबरदस्ती वापिस लाई जा सकें और उनके छिद्र चाहे बन्द भी कर दिये जावें, फिर भी उनकी तुलना पवित्र, शुद्ध इन्द्रियों की असली अवस्था के साथ नहीं हो सकती तत्र सब इन्द्रियों को वश में रखना कैसा आवश्यक है, यह जतलाने की आवश्यकता नहीं है।

संसार में होता क्या है ? इस अटल सचाई की उपस्थिति में और इसको अनुभव करते हुए भी मनुष्य इस पर आचरण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। मैं एक जुडिशियल ऑफिसर को जानता था जो पंजाब भर में सच्चा और निघड़क प्रसिद्ध था। एक बार एक खास मुकदमा उसके न्यायालय में पेश था। एक पक्ष की ओर से उसके पिता महाशय ने सिफारिश की। जुडिशियल ऑफिसर ने पिता की सिफारिश की कुछ परवाह न करते हुए मुकदमे का निर्णय अपनी बुद्धि के अनुसार न्याय पूर्वक

किया। यह जुडिशियल ऑफिसर बहुत शराब पीने वाला भी था और साथ ही विलासी जीवन व्यतीत करने का आदी था। इन सब निर्बलताओं तथा दुगुणों के होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा मेरे दिल में उसके सन्यप्रिय होने के कारण से थी। अन्त में वह प्रतिष्ठा मुझे अपने दिल से दूर करनी पड़ी। एक बार उसका एक शराबी मित्र एक सज़्जीन मुकदमे में पकड़ा गया। वही न्यायप्रिय जुडिशियल अफसर जिसने अपने पिता की सिफारिश की कुछ परवाह न की थी, अपने हमप्याला दोस्त के बचाने के लिये झूठी गवाही पैदा करते हुए मैंने देखा। और उस कोशिश से उसने अपने मित्र को बचा भी लिया। परन्तु क्या उसके पश्चात् वह सचाई पर स्थिर भी रह सका ? उसका जीवन जवाब देता है कि कदाचित् नहीं।

मैंने ऐसे जुडिशियल अफसर भी देखे हैं जो मुकदमों में अपने लिये तो रिस्वत नहीं लेते परन्तु जिन अच्छी संस्थाओं के साथ सहानुभूति हो, उनके लिये धन देने वालों के साथ खास रियायतें करते हैं। क्या एक मनुष्य जो कामी है कभी भी सत्यवादी हो सकता है ? और क्या एक पुरुष जिसे जिह्वा का व्यसन है कभी भी स्पर्श दोष से मुक्त हो सकता है ? एक इन्द्रिय की गिरावट शेष सब इन्द्रियों को ले डूबती है। कल्पना करो कि तुम्हारे दस नौकर हैं, अगर उनमें से एक भी आज्ञाकारी न रहे तो क्या दूसरों पर तुम्हारा दबाव रह सकता है ? किन्तु यदि इनमें से एक भी तुम्हारे वश में आजावे तो उसका दृष्टान्त दूसरों को काबू में रखने में तुम्हें मदद देता है। एक इन्द्रिय के भी बेवश होने को साधारण बात न समझो, क्योंकि एक के बिचलने से सब बिचल जाते हैं।

बाज मनुष्यों की दिमागी तरक्की को देखकर हम सब मोहित हो जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि आला दिमाग

मनुष्यों की बदइखलाकियां (अनैतिकतायें) ध्यान में लाने के योग्य नहीं हैं और इसलिये उनके अनुकरण में स्वयं आला दिमाग बनने का यत्न करते हैं। इस हिरस ने संसार को नष्ट कर दिया है। अगर कोई पापी मनुष्य उच्च मानसिक शक्ति रखने वाला है तो यह मत समझो कि पाप मनुष्य को गिराता नहीं है बल्कि यह समझो कि अगर वह मनुष्य पापी न होता तो उसका दिमाग और भी उच्च और शुद्ध होता। उच्च से उच्च दिमाग संसार के नाश का कारण है, यदि उसके साथ पवित्रता नहीं है।

प्रिय पाठकगण ! आज से तुम सब इन्द्रियों को एक साथ वंश में करने का साधन करो तब तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ रहेगी। वह स्वच्छ बुद्धि तुम्हें रास्ते के हरेक गढ़े से और प्रत्येक ठोकर से सावधान करेगी, ताकि तुम असावधान होकर कहीं विषयों के गुलाम बन कर इधर उधर मारे-मारे न फिरो। तब संसार अपने असली स्वरूप में तुम्हारे सामने आयेगा और प्रलोभनों की यथार्थता दिखला सकेगा, जिनमें फँसकर आज तक बहुत से अमृतपुत्र नष्ट हो चुके हैं। परमात्मन् ! हम मलिन हृदय अल्पज्ञ हैं। हमारी शक्ति अल्प और हमारा ज्ञान भी अल्प है। आप ज्ञान के भण्डार हो, हम सबके अन्दर ऐसी प्रेरणा करो कि हम पाप कर्मों से सच्ची घृणा का भाव अपने अन्दर पैदा करके धर्म, अर्थ और मोक्ष भागी बनने के लिये सच्चा प्रयत्न करते रहा करें।

: २१ :

पूर्वा सन्ध्यां जपस्तिष्ठन्, नैशमेनो व्यथोहति ।

पश्चिमां तु समासीनो मत्तं हन्ति दिवाकृतम् ॥

मनु० २।१०२॥

शब्दार्थ—(पूर्वा सन्ध्यां) प्रातःकाल की सन्ध्या का (जपन्) जाप करता हुआ (तिष्ठन्) समाधिस्थ व्यक्ति (नैशम्) सारी रात्रि

के (एनः) पाप को (व्यपोहति) नष्ट कर देता है। (तु) और (पञ्चिमां समासीनः) सायंकाल की सन्ध्या में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति (दिवाकृतम्) दिनभर में की गयी (मलम्) मलिनता को (हन्ति) मार भगाता है।

उपदेश—मनुष्य का परम उद्देश्य तीनों तापों की परम निवृत्ति बताया गया है। मनुष्य का उद्देश्य यही है कि संसार के अन्दर जिन तीन प्रकार की वृत्तियों से दुःख मिलता है, उससे छुटकारा प्राप्त करे। इसी को मोक्ष कहते हैं। दुःख मनुष्य को क्यों सताते हैं? इसलिये कि उसके अन्दर अशुद्धता आजाती है। इसलिये अशुद्धता से पृथक् होना ही अपने असल स्वरूप की स्वच्छता को प्राप्त करना है। मनुष्य पवित्र कैसे हो, अपवित्रता को अपने से कैसे दूर फेंक देवे? यह कठिन प्रश्न है, जिसके उचित हल पर जीवन के असली उद्देश्य का हासिल करना निर्भर है।

जब जीवात्मा स्वभाव से स्वच्छ है तो उसके साथ मलिनता का कैसे सम्बन्ध हुआ? यदि दण्ड को अन्धेरे के अन्दर रख दें और साथ ही उसकी सुध न लें, तो न केवल उसका स्वरूप ही आँखों से ओझल हो जावेगा, बल्कि उसके साफ चेहरे पर जङ्ग और मिट्टी के धब्बे लग जावेंगे और तब यदि उसे प्रकाश के सामने किया जाय तो हमें वह वस्तुओं को ठीक २ नहीं दिखला सकेगा। इसी तरह पर स्वच्छ जीवात्मा जब कार्य जगत् के बन्धनों के अन्दर फँस जाता है और उसके चारों ओर सांसारिक अन्धेरा ही उसे घेरे रहता है, उस समय उस पर राग, द्वेष, और अस्मिता आदि धब्बे लग जाते हैं। इसके कारण उसे अपना स्वरूप भी यथार्थ अवस्था में दिखाई नहीं देता। इस अपवित्रता से मनुष्य को बचाने के लिये, वेद की आज्ञा के

अनुसार भगवान् मनु ने प्रातः और सायं सन्ध्या का कर्तव्य रूप बन्धन नियत किया है ।

इन प्रातः और सायं शब्द से अभिप्राय क्या है ? उप-निषत्कार ऋषि बतलाते हैं कि परमात्मा की उपासना जागृति के अन्त और स्वप्न के अन्त में करनी चाहिये । इसलिये सायं से अभिप्राय जागृत अवस्था का अन्त है और प्रातः से अभिप्राय स्वप्न अवस्था का अन्त है । प्रातः से सांसारिक झगड़ों के अन्दर लगा हुआ मनुष्य, इस योग्य नहीं होता कि आत्मा के सम्बन्ध रखने वाली शक्तियों की मलीनता को दूर करने का साहस कर सके । कर्मेन्द्रियाँ बड़ी तेजी से अपने कार्यों में लग रही हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों के अन्दर फंसी हुई हैं । अगर उस समय निर्बल मनुष्य उनको इस प्रवाह से रोकना चाहे तो उसके लिये कदाचित् यह सम्भव नहीं होगा ।

जिस प्रकार बलवान् शरीर के बछेरे प्रारम्भ में बस में नहीं आ सकते परन्तु जब उन्हें चाबुक सवार कुछ समय तक, गोल दायरे का चक्कर लगवाता है तो हँस कर बस में आजाते हैं और तब उन्हें चलने की शिक्षा दी जाती है । इसी तरह पर जब दिन भर विषयों में घूमते २ इन्द्रियाँ थक जाती हैं और थक कर मन को छोड़ देती हैं और मन भी जीवात्मा को थक कर छोड़ देता है, उस समय पापी से पापी जीवात्मा भी अन्तर्मुख हो, परमात्मा के प्रकाश से सहारा लेकर अपनी नीच अवस्था को अनुभव कर सकता है । इसलिये उस समय का सत्संग परमात्मा से किया हुआ उसे रात भर सुख की नींद सोने के साधन पैदा कर देता है । फिर जब वह प्रातः इन्द्रियों और मन की थकावट को दूर करके उठता है तो वह ठीक समय है जब कि इन्द्रियों और मन के लिये नया बल धारण कर नये सिरे से

संसार रूपी युद्ध क्षेत्र में काम-क्रोध आदि शत्रुओं के मुकाबिले के लिये तैयार हो सकता है। यही कारण है कि ऋषियों ने वेदों की आज्ञा पर चलते हुए दोनों काल की सन्ध्या का बन्धन हर एक द्विजन्मा अर्थात् आत्मिक साधन के जिज्ञासु पुरुष के लिये नियत किया है।

सन्ध्या से अभिप्राय, केवल विशेष मन्त्रों का बिना अर्थ जाप या केवल उनके अर्थ का मानसिक विचार नहीं है, पर सन्ध्या का अभिप्राय इससे बहुत उच्च है। जीवात्मा की मलीनता को दूर करना इसका वास्तविक उद्देश्य है और इसलिये जो साधन आत्मा की मलीनता को दूर करने में सहायक हो सकें उनका सेवन सन्ध्या का मूल अङ्ग है। यही कारण है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठने की हर एक धर्म जिज्ञासु के लिये आज्ञा है, क्योंकि उस समय कोलाहल के शान्त होने से मनुष्य का मन एक ओर लग सकता है। तब पता लगता है कि उसके अन्दर अपवित्रता ने कहाँ तक घर कर रक्खा है। जब अपवित्रता का ज्ञान हुआ तो स्वयमेव उस अपवित्रता को दूर करने का विचार मन में आता है।

प्राचीन आर्य विद्वानों ने अच्छी प्रकार समझ लिया था कि शरीर, मन और आत्मा का मनुष्य जीवन में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक भी अपवित्र रहे तो दूसरे में अपवित्रता पैदा किये बिना नहीं रहता। यही कारण है कि जिज्ञासु के लिये नित्य स्नान, धर्म का एक अंग बताया गया है। मनु जी भी कहते हैं, कि सबेरे सबसे पहले शरीर को स्वच्छ करो। शरीर को स्वच्छ करने का आवश्यक परिणाम यह होता है कि इन्द्रियाँ शुद्धता की ओर प्रवृत्त होती हैं। आँखों में कुरूपता और सुन्दरता में भेद करने का बल पैदा होता है। तब दिखावे की सुन्दरता से उसे घृणा होती है। कानों की शक्ति अधिकाधिक सूक्ष्म होती है और इसी तरह दूसरी इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म की ओर

प्रवृत्त होती हैं। तब यह इन्द्रियाँ मन को भी अपवित्र स्थानों में जाने से किसी कदर रोकने का कारण बनती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मन भी जीवात्मा को बाहरी फंसावट से छोड़- देने के लिये बाधित हो जाता है।

प्रिय पाठकगण ! मानसिक पवित्रता के लिये प्रातः और सायं सन्ध्या को कभी भी न छोड़ो। मन्त्रों के पाठ का नाम सन्ध्या नहीं है। उसके अर्थों के पाठ का नाम भी सन्ध्या नहीं है ? क्योंकि सन्ध्या मन की मलीनता को दूर करती है। क्या तुम्हारे मन्त्र पाठ से दिल से अशुभ विचार दूर हो गये ? अगर नहीं तो समझो तुमने सन्ध्योपासना नहीं की। उपासना के अर्थ समीप होने के हैं। परमात्मा के समीप होना सन्ध्योपासना का अभिप्राय है। किन्तु परमात्मा शुद्ध स्वरूप है। क्या शुद्ध स्वरूप के समीप अशुद्ध आत्मा की पहुँच कभी हो सकती है ? कदाचित् नहीं। इसलिये सन्ध्या का अभिप्राय ही केवल यह है कि मन, वचन और कर्म द्वारा शुद्धि के लिये यत्न करना। इसलिये शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् सत्य से मन को शुद्ध करो और विद्या और तप से आत्मा को शुद्ध करके ज्ञान द्वारा बुद्धि को दिन रात माँजते रहो।

बन्धु गण ! शुद्ध स्वरूप परमात्मा अपने अन्दर प्रकाश कर रहे हैं और हम लोग दीवानों की तरह बाहर जीवन उद्देश्य को ढूँढते फिरते हैं। बाहर अन्धेरा ही अन्धेरा है। प्रकाश अन्दर है। इसलिये बाहर की सब अपवित्रताओं से दूर होने का यत्न करो ताकि अन्दर घुसकर हम सब उस जीवनदाता ज्योति के दर्शन कर सकें, जिससे प्रकाश पाकर फिर मनुष्य अन्धेरे के अन्दर ठहर नहीं सकता। प्रातः और सायं आत्मा की मलीनता को दूर करने के लिये हृद आसन पर बैठने का स्वभाव डालो ताकि शनैः, २ शरीर, मन, और आत्मा की शुद्धि होकर हम सब भाई एक दूसरे की सहायता से मुक्ति धाम के अधिकारी बनसकें*

: २२ :

नैतिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ।

ब्रह्माहुतिहुतं

पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥

—मनु २ । १०६॥

शब्दार्थ—(नैतिके) दैनिक कर्तव्य की पूर्ति में (अनध्यायः) छुट्टी, मुआफ़ी (नास्ति) नहीं है (हि) क्योंकि (तत्) उसे (ब्रह्मसत्रम्) ब्रह्म यज्ञ, प्रथम यज्ञ (स्मृतम्) कहा है । (अनध्यायवषट्कृतम्) अनध्याय में भी स्वाहा किया हुआ और (ब्रह्माहुतिहुतम्) वेद मन्त्रों से उच्चारित आहुतियों से आहुत यह ब्रह्मयज्ञ (पुण्यम्) पुण्यप्रद होता है ।

उपदेश— मनुष्य के प्राकृतिक भाग को भूख लगती है, उसकी निवृत्ति के लिये तरह २ के अच्छे से अच्छे फल और अन्न परमात्मा की ओर से दिये गये हैं । प्यास भी प्रकृति का एक भाग है, उसकी निवृत्ति के लिये चारों ओर शीतल जल बह रहे हैं । क्या मनुष्य को कहने की आवश्यकता है कि भूख और प्यास के बुझाने में नागा मत करो । और जब कभी आलस्य या प्रमाद से इन दैनिक कर्तव्यों को पूरा करने में मनुष्य ढील करता है तब ही मनुष्य के शरीर को हानि पहुँचती है । बड़े से बड़ा बलवान् शरीर और अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य रखने वाला मनुष्य भी इन दैनिक कर्तव्यों के पूरा करने में अनियमितता करके उसके दंड से नहीं बच सकता । यह अवस्था मन और आत्मा की है । दैनिक अग्निहोत्र की आज्ञा जहाँ अपवित्र वायु को स्वच्छ करने के लिये है वहाँ उसकी जड़ में यह विचार भी काम करता है कि मनुष्य वायु को जिस प्रकार अस्वच्छ करते रहते हैं उसी प्रकार प्रयत्न से उस वायु की अपवित्रता को दूर करना भी उचित है ।

किन्तु साथ ही इसके यह दैनिक कर्तव्य उन रोजाना पापों को निवृत्ति के लिये भी हैं जो कि न जानने की अवस्था में प्रत्येक मनुष्य से प्रतिदिन हो जाते हैं। इस कर्म से बुद्धि निर्मल होकर मन की अवस्था पवित्र हो जाती है।

वैदिक आदर्श के अनुसार सबसे बढ़कर मनुष्य का दैनिक कर्तव्य ब्रह्म-यज्ञ है। दूसरे महायज्ञ केवल इसके सहायक हैं। मुख्य दैनिक कर्तव्य यही है कि जिस तरह मनुष्य के भौतिक शरीर को भूख लगती है, इसी प्रकार आत्मिक शरीर को आत्मिक भूख लगती है। अगर उस दैनिक भूख को प्रतिदिन निवृत्त न किया जाय तो मनुष्य की आत्मिक अवस्था भी वैसे ही गिर जाती है, जैसे कि भूख लगने पर भौतिक शरीर की अवस्था होती है।

इस ब्रह्म यज्ञ अर्थात् वेद रूपी ज्ञान की खुराक से आत्मा की तृप्ति नित्य करनी चाहिए। प्रत्येक काम में अनध्याय सम्भव है, किन्तु क्या शरीर के दूसरे दैनिक कर्तव्यों में भी कभी नागा हो सकता है? रोग की अवस्था में सम्भव है कि बनावटी जीवन व्यतीत करने वाले हम मनुष्यों को खुराक बदलने की आवश्यकता हो परन्तु कोई भी योग्य वैद्य खुराक को बन्द नहीं कर सकता। योग्य वैद्य वही समझा जाता है जो कि रोगी के शारीरिक बल को स्थिर रखने के भाव से किसी तरह उसमें खुराक पहुँचाता रहे। इसी तरह से आत्मिक रोग हो जाने पर ब्रह्म यज्ञ के कर्तव्य से मनुष्य किसी तरह मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है कि नित्य प्रति प्रातः और सायं परमात्मा की उपासना के लिये ब्रह्म के ज्ञान की आहुतियों से आत्मिक यज्ञ किया करे।

जब शारीरिक रोग होने पर शरीर को खुराक पहुँचाने से कोई भी मनुष्य नहीं रुकता तो आत्मिक रोग की अवस्था में आत्मिक खुराक से दूर भागना क्या आश्चर्यजनक नहीं है? किन्तु

यह अवस्था इसलिये होती है कि हम सब अपनी वास्तविक अवस्था को त्यागकर बनावटी जीवन बिता रहे हैं। एक बच्चा जब बीमार होता है तो इधर उधर भागने के स्थान पर माता की गोद की ओर हाथ पसारता है और जब माता उसे गोद में ले लेती है तो वह विश्वास के साथ अपने रोग को भूल जाता है। जगत् माता से बढ़ कर हमारे साथ किस साँसारिक माता का प्रेम हो सकता है? जगत् माता की गोद हमारे लिये हर समय खुली है। फिर शोक! हम शारीरिक रोग का बहाना करके उस प्रेम भरी गोद में जाने से संकोच करते हैं और अपने लिये हजारों तरह के क्लेश मोल लेते हैं।

जब शरीर रोग ग्रस्त होता है तो योग्य वैद्य खुराक बन्द नहीं करता बल्कि बोझिल भोजन को बन्द करके हल्की खुराक रोगी के लिये निश्चित करता है। किन्तु हम लोग कैसे मूर्ख हैं कि उस समय जब कि हल्की से हल्की खुराक की आवश्यकता होती है, भोजन को बिलकुल जवाब दे बैठते हैं। जो रोगी नित्य-प्रति शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य है उसका यह बहाना कि बीमारी के कारण से परमात्मा की उपासना नहीं कर सकता, कैसा व्यर्थ है। मैंने हरि भक्तों के अन्तिम क्षण देखे और उनके विश्वास को देखकर अजब असर पैदा हुआ। ब्रह्मज्ञानी ऋषि कहते हैं कि—

‘न शक्यते वर्णयितुं गिरां तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।’

उसको जिह्वासे वर्णन नहीं कर सकते। वह केवल अन्तःकरण से ग्रहण करने के योग्य है तब उस आनन्द के लिये निर्बल से निर्बल शारीरिक अवस्था बाधक नहीं हो सकती।

क्या हम नित्यप्रति नहीं देखते कि बरसों का कमाया हुआ शरीर दो दिन उचित खुराक न मिलने से गिर जाता है। तब क्या सन्देह है कि बरसों की आत्मिक कमाई एक दिन की असा-

वधानी से नष्ट हो सकती है। यही कारण है कि दोनों समय आत्मिक सत्सङ्ग के लिये आज्ञा की गई है और उसमें अनध्याय को कदाचिन् स्थान नहीं दिया गया है। जो मनुष्य परमात्मा की नित्य प्रति उपासना से (ज्यादा काम या रोग के बहाने पर बचने का यत्न करते हैं। वह अपने लिये विशेषतः बीमारी की सामग्री मोल लेते हैं।

प्रिय पाठकगण ! संसार चक्र दिन रात चल रहा है, इसके अन्दर ठहरने की गुञ्जाइश नहीं है। हर पल हमें नीचे या ऊपर ले जाने के लिये वह तैयार खड़ा है। अगर हम ऊपर की ओर न चलेंगे तो निश्चय से नीचे गिरना होगा। नीचे चलने के लिये किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। नीचे ले जाने के लिये हमारे चारों ओर सामग्री दिखाई देती है। परन्तु ऊपर चलने के लिये विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पर्वत के नीचे जाने के लिये सिवाय एक बार पैर नीचे की ओर डाल देने के क्या किसी और गति की आवश्यकता होती है ? परन्तु पहाड़ पर चढ़ने के लिये बड़ी भारी हिम्मत की आवश्यकता है। हाँ, जब किसी हद तक ऊपर चढ़ जावें और अभ्यास हो जावे तो फिर आपसे आप पैर ऊपर की ओर उठता है। ज्यों-ज्यों अभ्यास से बल और उत्साह बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों ऊपर के सुन्दर दृश्य मनुष्य को अपनी ओर खींचते हैं। परन्तु क्या ऊपर चलते हुए मनुष्य एक घण्टे के लिये भी रुक सकता है ? एक बार ऊपर की ओर पग उठाओ, जब तक पहाड़ की चोटी पर न पहुँच जाओ तब तक निश्चिन्त नहीं बैठ सकते। इसी तरह आत्मिक पर्वत की यात्रा में भी बीच में रुकने का नाम मृत्यु है। जिस प्रकार पर्वत के मार्ग में रुकते ही और नीचे नजर करते ही चक्कर आता है और घबराया हुआ मनुष्य हजारों फुट नीचे गिर कर चकनाचूर हो जाता है, इसी प्रकार आत्मिक उन्नति के शिखर पर चलते

हुए जिज्ञासु की अवस्था होती है। प्यारे मित्रो ! इस विकट तथापि आवश्यक मार्ग पर चलते हुए ठहरने के विचार को भुला दो, जिससे कि बिना रोक टोक शिखर पर पहुँच कर तुम अमर जीवन को पा सको।

: २३ :

नापृष्ठः कस्यचिद् ब्रूयात्, नचान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेघावी, जडवत्लोक आचरेत् ॥

—मनु २।११ ॥

शब्दार्थ— (अपृष्ठः) मनुष्य बिना पूछे (कस्यचित् न ब्रूयात्) किसी से वार्तालाप न करे (न च) और नहीं (अन्यायेन पृच्छतः) अन्याय से पूछने वाले के साथ बात करे। अपितु (मेघावी) बुद्धिमान् मनुष्य (जानन्नपि) जानकार होकर भी इन लोगों के साथ (जडवत् आचरेत्) मूर्ख की तरह आचरण करे।

उपदेश— इस समय प्रायः संसार को बहुत बोलने वालों ने वश में कर रखा है। पश्चिमीय अनुकरण में प्रत्येक शिक्षित भारतवासी सारे संसार को शिक्षा देना अपना कर्तव्य समझता है। और जो गरीब चुप रहने का स्वभाव रखते हैं उनको भी इस प्रकार तज्ञ किया है कि वे बोलने के लिये बाधित होजाते हैं। इस समय भारतवर्ष में विशेषतः उपदेशक ही उपदेशक दिखाई देते हैं। हर प्रकार के सुधार के लिये धाराप्रवाह वक्तृतायें होती हैं। परन्तु शोक है कि इतने अधिक उपदेशकों के होते हुए भी किसी प्रकार की भी दशा सुधरती दिखाई नहीं देती। इसका कारण क्या है? वही मनु का निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कि बिना पूछे नहीं बोलना चाहिए। जब तक कि किसी को यह अनुभव न हो कि परमात्मा की ओर से उसे किसी कार्य के लिये

विशेष नियुक्त किया है और जब तक उसने वदिक साधनों से यह निश्चय न कर लिया हो कि उसका ऐसा विचार धोखे के आधार पर नहीं है बल्कि उसके पूर्व कर्मों का ही परिणाम है, तब तक उसे मनुष्यों के सुधार के लिये क्षेत्र में कदाचित् नहीं उतरना चाहिए। ऐसा मनुष्य जब कार्य आरम्भ करेगा तब अपने बल को सोच समझ कर प्रयोग करेगा।

आर्यावर्त के प्राचीन ऋषियों के इतिहास पढ़ जाइये। आपको ज्ञात होगा कि वे आश्रम में बैठे हुए ही उपदेश किया करते थे और वहाँ भी उपदेश देने से पहले जिज्ञासु की योग्यता की पड़ताल करके ही पात्र के अतिरिक्त किसी को भी सम्बोधन नहीं करते थे। ईसा ने भी अपने उपदेशों में यही कहा था कि 'सूअर के आगे मोती नहीं बखेरने चाहिये।' परन्तु इसके अनुयायी स्टेज पर खड़े होकर हर अच्छे बुरे को अपने जत्थे के अन्दर बुलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन ईसाइयों के अनुकरण में आर्य सन्तान ने भी अपने काम करने का ढङ्ग बना छोड़ा है। आर्यसमाज के सभासदों को न्यून से न्यून मनु जी के ऊपर कहे हुए वाक्य का बड़ा मान करना चाहिए। ऋषि दयानन्द का अधिकार था कि वह प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रबल आकर्षण शक्ति से खींचने की कोशिश करते। परन्तु यहाँ प्रत्येक बुरा भला इसी अधिकार के साथ खड़ा होता है जो कि एक सच्चे संन्यासी की शोभा है।

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तम उपदेशकों के अभाव से ही संसार के अन्दर अन्धकार फैलता है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जब तक सच्ची श्रद्धा से सुनने वाले श्रोता नहीं होते तब तक सच्चे उपदेशक का यत्न भी बहुत कम फल लाता है। बुद्धिमान् किसान भूमि में बीज बोने से पहले खाद आदि डाल और हल चला कर भूमि को इस योग्य बना लेता है, जिससे बीज बोने से

पूरा लाभ हो सके। इसीलिये प्रत्येक उपदेशक के लिये आवश्यक है कि इसके पहले कि वह मनुष्यों को उपदेश देने के लिये उद्यत हो, अपना क्रियात्मक जीवन ऐसा बना ले कि वह सुगमता से उसके उपदेश को ग्रहण कर सकें। परन्तु जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपने आपको उपदेश देने के योग्य समझता हो और उपदेश सुनने के लिये कोई भी तैयार न हो वहाँ यदि बहुत ही दुर्दशा हो तो आश्चर्य नहीं समझना चाहिए।

भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य क्यों अपने आपको उपदेशक समझता है ? इसलिए कि उनके अन्दर स्वयं क्रियात्मक जीवन बहुत कम देखा जाता है और जिनके अन्दर क्रियात्मक जीवन न होवे सिवाय जिह्वा के और किस इन्द्रिय का प्रयोग कर सकते हैं ? हरेक मनुष्य को आचरण द्वारा उसे सीधे मार्ग पर लाने वाले संसार में बहुत कम मनुष्य हैं। यही कारण है कि पूर्ण वैरागी के लिये संन्यास आश्रम में प्रवेश होने की आज्ञा थी और उपदेश का अधिकार भी उसी को था। और वह इसलिये कि संन्यासी हर प्रकार के दिखावे से मुक्त हुआ करता है। न उसे आत्म-सम्मान का विचार है और न किसी के पक्षपात का विचार। वह हर समय सत्य के प्रचार में आरूढ़ रहता है।

उपदेशक बड़ा हठ हृदय होना चाहिये इसलिए मनु जी की आज्ञा है कि जहाँ अन्याय से कुछ पूछा जाय वहाँ भी सत्य उत्तर दे या मौन रहे। भारतवर्ष के प्रतिष्ठित महानुभावों में श्री बहरामजी मालाबारी पारसी की भी गणना है। यह पहले सज्जन हैं जिन्होंने गवर्नमेंट के खिताब मिलने पर विशेष आत्मिक सिद्धान्तों के अनुसार उनके ग्रहण करने से इन्कार कर दिया था। उनके विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि एक अंग्रेज साथी यात्री ने बड़े अभिमान और घृणा के ढङ्ग पर उनका

नाम पूछा तो उन्होंने उत्तर में मौन से काम लिया। अर्थात् जैसे को तैसा जवाब देना एक बुद्धिमान का ढङ्ग नहीं होना चाहिये और नहीं दब कर बोलना एक धार्मिक मनुष्य का। यदि अन्याय से जबर्दस्ती पूछा जाय तो जहाँ क्रोध को समीप न आने दे वहाँ नेक पुरुष के लिये यह भी आज्ञा है कि ऐसी अवस्था में बिल्कुल बोले ही नहीं जिससे कि उसके वचनों पर किसी प्रकार का भी बाह्य प्रभाव न आ सके। केवल दिखावा और व्यर्थ प्रलाप के जीवन में तो मनुष्य भला पशु पक्षियों का क्या मुकाबिला कर सकेगा ? स्वाभाविक ताज जो विशेष चरिन्दों को मिला है क्या उसके मुकाबिले में दुनियाँ के बड़े से बड़े ताज का कोई साम्य है ? क्या मोर की मस्तानी चाल का आज तक किसी मनुष्य ने मुकाबिला किया है ? क्या कोयल की हृदय-स्पर्शी सुरीली आवाज का उत्तर कुछ भी मानवीय जगत् में उपस्थित है ?

प्रिय पाठकगण ! थोड़ी देर के लिये विचार करो कि हम सब किस गढ़े में गिरे चले जाते हैं।

वेद भगवान् ने बतलाया है कि सारे संसार का प्राण वाणी है। परमात्मा के दिये हुये ज्ञान के भण्डार वेद के प्रकाश करने का साधन वही वाणी (इमाम् वाचम्) है। इसलिये उसकी रक्षा के लिये हर समय दृढ़ता से सचेत रहना चाहिये। बहुमूल्य वस्तु को आवश्यकता के बिना बुद्धिमान् मनुष्य खर्च नहीं करता। जिस पर संसार की भलाई और बुराई अधिक निर्भर हो उसके प्रयोग में जितना सावधान रहे थोड़ा है।

मनुष्य को एक-एक पल परमात्मा के समीप पहुँचने के लिये दिया गया है। यह कर्मयोनि इसलिये दी गई है कि मनुष्य अपने आदर्श की ओर चल सके। मार्ग विकट और दूर है। मानवीय आयु इस मार्ग की कठिनाइयों का अनुमान लगा कर निश्चित की गई है। ऐसे उत्तम समय को भी अगर हम व्यर्थ

दिखावे और व्यर्थ प्रलाप में गँवावें तो हमसे अधिक मूल्य कौन है?

वाणी को जितना अधिक बखेरा जावे उतना ही उसका बल कम हो जाता है। जितनी उसकी रक्षा की जाय और जितना उसका बेमौका प्रयोग बन्द किया जाय उतना ही उसका बल बढ़ता है। इसलिये भारतवर्ष के हरेक समाज संशोधक का कर्त्तव्य है कि वह अपनी वाणी का आवश्यकतानुसार ही प्रयोग करे और वह तब हो सकता है जबकि अभिमान, प्रतिष्ठा और दिखावे के विचारों को दिल से निकाल दिया जाय। दयासागर! हम सब भारत-निवासी गुमराह हैं, अपने कर्त्तव्य को भूले हुये हैं। जल, वायु, अग्नि और पृथिवी का अनन्त दान देने वाले आप ही समर्थ हैं कि हमारे मन्द कर्मों को दृष्टि में रखते हुये हम सबको ब्रह्मचर्य का सर्वोत्तम दान दें, जिससे हम सब अपनी वाणी को वश में करते हुये आपकी आज्ञा पालन करने के योग्य होकर अपने और अपने भाइयों (सब प्राणधारियों) के कल्याण का साधन बन सकें।

: २४ :

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म, विद्या भवति पंचमी।

एतानि मान्यस्थानानि, गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

—मनु० २। १३६ ॥

शब्दार्थ—(वित्तम्) सचाई से कमाया हुआ धन (बन्धुः) सम्बन्धी (वयः) आयु (कर्म) उत्तम आचरण और (विद्या भवति पंचमी) और पाँचवीं विद्या, ज्ञान (एतानिमान्यस्थानानि) यह पाँच वस्तुएँ सम्मान के साधन हैं (यद् यद् उत्तरम्) इनमें से एक से उसके बाद का (गरीयः) बड़ा है अधिक महत्त्व रखता है और विद्या, सर्वाधिक महत्त्व रखती है।

उपदेश—आजकल धन सारी दुनियाँ पर राज्य कर रहा है। अमेरिका के घनाढ्य हर प्रकार की ताकत को खरीदने के दावेदार हैं। फ्रांस के 'जैकोलियस लबाडी' (Jacolius Labadi) ने धन के द्वारा अफ्रीका के मरुस्थल का एक हिस्सा मोल लिया और अपने आपको उस टुकड़े का राजा घोषित कर दिया। आखिर इस समय राज्य भी तो धन पर ही निर्भर है। अध्यात्मिक तौर पर दौलत को तुच्छ साबित करते हुए भी आज रुपये का सारी दुनियाँ में राज्य नजर आता है। आजकल के जङ्गों और मुहिमों का निर्भर भी रुपये पर ही है। जो जाति पर्याप्त धन नहीं रखती वह प्रचुर शस्त्र खरीद नहीं सकती। इसलिए लड़ाई के समय अपनी फौज को निश्चिन्तता के साथ आगे नहीं बढ़ा सकती। जिधर देखो उधर रुपये का ही राज्य आज दिखाई देता है। यद्यपि पाप से कमाया हुआ धन देने और लेने वाले को नष्ट कर देता है। पर ईमानदारी से कमाया हुआ धन भी तो संसार में मौजूद है और उसकी पूरी ताकत मान लेने में कोई भी कठिनता नहीं है। इसलिए यदि ध्यान से देखा जाय तो मनु महाराज का कथन सत्य है कि सबसे प्रथम मान के योग्य बल धन है।

जैकोलियस लबाडी ने धन के कारण अपने आप शहनशाह का पद लिया। परन्तु संसार के पुश्तैनी मुकुटधारियों के मुकाबिले में उसकी क्या हस्ती है। जिसके सम्बन्धी बहुत हैं और वह भी परस्पर इत्तफाक रखने वाले हैं, उस मनुष्य के मुकाबिले में धनवान् की कुछ हैसियत नहीं है। धन कमाया जा सकता है परन्तु सम्बन्धी एकत्र नहीं हो सकते। धन को नष्ट होते देर नहीं लगती पर सम्बन्धियों के खात्मे के लिये समय चाहिये। इस समय भी देखा जाता है कि धनवान् की अपेक्षा सान्दानी मनुष्यों का अधिक मान किया जाता है। योरुप के

सभ्य राष्ट्रों में अब तक खान्दानी मनुष्यों को धनवानों से मुख्यता दी जाती है। इस मुख्यता के मूल्य की अगर पड़ताल की जावे तो उसकी तह में सम्बन्धियों की बुजुर्गी ही काम करती दिखाई देती है। इज्जलिस्तान के पुराने खान्दानी धनवानों की प्रतिष्ठा का कारण उनके जबर्दस्त रिश्तेदार ही थे। इसलिए धन बल से बन्धु बल को मुख्यता देने में मनु जी ने बड़े अधिक अनुभव से काम लिया है।

वैदिक कर्म धन और रिश्तेदारी दोनों के घमण्ड को तोड़ने वाले हैं। पवित्र कर्म मनुष्य को हर समाज में बड़ा बना देते हैं। मैंने ऐसे ईमानदार मनुष्य देखे हैं जिनका मान धनाढ्यों और खान्दानी मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ज्यादा किया जाता है। नेक मनुष्यों के सामने बड़े से बड़े धनाढ्यों को स्वयमेव झुकना पड़ता है। भारतवर्ष के अन्दर प्राचीन समय में भिक्षुमंके ब्राह्मणों का निडर छत्रपति महाराजों को उनके कर्मों के लिये डाँट बता कर कम्पायमान करना इसी नियम का परिणाम था। आज भी बुरे स्वभाव के अमीर और खान्दानी मनुष्य नेक काम करने वाले पुरुषों के आगे लज्जित हो जाते हैं। धन और बन्धुबल का केवल घमण्ड ही घमण्ड है परन्तु अपने कर्मों पर प्रत्येक पुरुष पूरा भरोसा कर सकता है। कवि ने क्या अच्छा कहा है ? 'कोई नहीं जावे साथ, धर्म जावे साथ' इस लोक में तो प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कर्म प्रधान है। गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—

कर्म प्रधान विद्व रचि राखा ।

जो जस करीह सो तस फल चाखा ॥

परन्तु परलोक में भी कर्म सहायक होते हैं। अच्छे कर्म करने वाले मनुष्यों में भी अनुभव का बड़ा पद है। पहले तीनों गुणों से बढ़कर आयु का मान होना चाहिए और आयु का हिसाब वर्षों की अपेक्षा न होकर अनुभव की अपेक्षा होना

चाहिए। इसलिये मनु भगवान् ने कहा है कि बुजुर्ग वह है जो बुद्धिमान् है। वह नहीं जिसके कि बाल सफेद हो गये हों। परन्तु सबसे बढ़कर मान के योग्य विद्या है। कवि ने क्या अच्छा कहा है—

‘स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्रपूज्यते ।’

अर्थात् राजा का मान केवल अपने राज्य तक ही सीमित रहता है, परन्तु आचरणशील विद्वान् का मान हर जगह होता है।

प्रिय पाठकगण ! धन को ईमानदारी के साथ पैदा करने का अवश्य यत्न करो क्योंकि वह मामूली सांसारिक मनुष्यों की आवश्यकताओं के पूरा करने का साधन है। अपने बन्धुओं और इष्ट मित्रों को भी प्रसन्न रखकर उनकी सहायता पर भरोसा रखो, क्योंकि कष्ट के समय ये तुम्हारे सहायक हो सकते हैं। अपने कर्मों को भी नेक बनाओ और सदैव पुरुषार्थी रह कर हर तरह से कामों को पूर्ण करो। क्योंकि बन्धुओं की अपेक्षा अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल पर मनुष्य अधिक विश्वास कर सकता है। बड़ी आयु के अनुभवी मनुष्यों से न केवल आयु बढ़ाने के गुरु सीखने का यत्न करो, इन सबसे बढ़ कर दिन रात तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में यत्न करते रहो, क्योंकि ऊपर कहे हुए प्रत्येक गुण की नींव उसी पर रखी गई है। बिना विद्या के, दौलत, खान्दान, नेक कर्म और अनुभव, बजाय तुम्हारे सहायक होने के उलटा तुम्हें दुःखसागर में डुबो देने वाले हो सकते हैं। यही कारण है कि महात्मा लोग सदैव अविद्या के नाश और विद्या के प्रकाश का उपदेश देते रहे हैं।

विद्या की खोज कहाँ करें ? संसार में बड़े से बड़े विद्वानों को गिरते हुए हम प्रत्यक्ष देखते हैं। फिर कैसे विद्या पर भरोसा करें ? यह अविश्वास का नारा है। विद्या को जड़ जगत् के अन्दर खोजते हुए तुम कैसे प्राप्त कर सकते हो ? विद्या की

तलाश में सर्व विद्याओं के भण्डार, ज्ञान के स्रोत, परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता है। चेतन के लिये जड़ की शरण लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। ज्ञान स्वरूप परमात्मा की शरण लेकर उसी से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए जब तुम तत्त्वज्ञानी बनोगे तब तुम्हारे लिये धन, खान्दान, आचरण और आयु सब सुखदायी होंगे और तुम अपने चेतन-स्वरूप को समझ कर जड़ प्रकृति के अन्वकार से पृथक् होने का यत्न करोगे। उस यत्न के आरम्भ में तुम्हें ज्ञानस्वरूप के प्रकाश के दर्शन होंगे और इसी प्रकार तुम जन्म मरण के दुःख से छुटकारा पा सकोगे। *

: २५ :

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥

यस्य वाङ्मनसो शुद्धे, सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।

स वै सर्वमवाप्नोति, वेदान्तोपगतं फलम् ॥

मनु० २ । १५६-१६०॥

शब्दार्थ—‘धर्ममिच्छता’ धर्म के अभिलाषी पुरुष को (भूतानां) जीवों का, प्राणियों का (श्रेयः अनुशासनम्) कल्याणकारी शिक्षण (अहिंसयैव) अहिंसा के द्वारा ही, दया भाव से (कार्यम्) करना चाहिये। (चैव) और इसके लिये (मधुरा) मीठी और (श्लक्ष्णा) शुद्ध सुन्दर (वाक् प्रयोज्या) वाणी का प्रयोग करना चाहिये।

(यस्य) जिस धार्मिक पुरुष के (वाङ्मनसे) मन और वाणी (शुद्धे) शुद्ध पवित्र विचार वाले हैं (सर्वदा च सम्यग्गुप्ते) और हमेशा संयम में रहने वाले हैं (स वै) वह मनुष्य निश्चय से (सर्वं वेदान्तोपगतं फलम्) वेदान्त के सारे यथार्थ फल को, मोक्ष को (अवाप्नोति) प्राप्त करता है।

उपदेश—जिन मनुष्यों के वाणी और मन, पवित्र और उनके वश में भी हैं उन्हीं को वेदान्त का असल फल मिलता है। यथार्थ ज्ञान के लिये क्यों ऋषि और महात्मा हर समय और हर देश में व्याकुल हो भटकते फिरते रहे हैं? इसलिये कि संसार में चारों ओर दुःख और हाहाकार फैला हुआ है। उसको दूर करने का नुस्खा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति से मिलता है। ऋषि कहते हैं कि ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, परन्तु उस ज्ञान तक पहुँचने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उन पर आचरण किये बिना मुक्ति की ओर एक पग उठाना भी असम्भव है। वे साधन क्या हैं? उनका असल सिद्धान्त मनु जी ने ऊपर श्लोक में वर्णन कर दिया है। प्रत्येक वासना का उत्पत्ति स्थान मन है। जब तक मन के अन्दर कोई वासना उत्पन्न नहीं होती तब तक उसके बाहर जाने का कोई गुमान भी नहीं होता। मन ही सारी इन्द्रियों को चलाता है इसलिये इन्द्रियाँ उसी रङ्ग में रंगी जाती हैं जिनसे कि मन प्रभावित होता है। इसलिये सबसे प्रथम आवश्यक है कि मन को वश में किया जाय।

इसी विषय पर आचरण करते हुये जिसने संसार के अन्दर कोई बड़ा शारीरिक, सामाजिक या आत्मिक कार्य पूर्ण किया है उसकी सफलता की तह में दम ही काम करता हुआ दिखाई देता है। परन्तु केवल मन को वश में करने से मनुष्य अपने असली उद्देश्य की ओर नहीं चल सकता। मन के वश में होने का निश्चित कारण दुःख की निवृत्ति नहीं है और जब तक दुःख दूर न हो परमानन्द की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जिस तरह प्राकृतिक जगत् में देखने में आता है कि जब तक अशुद्ध वायु को अग्नि के द्वारा बिलकुल निकाला नहीं जाता, तब तक उसके स्थान में शुद्ध वायु प्रवेश नहीं करती, इसी तरह

जब तक कि मन में से दुर्वासनाओं को निकालने में सफलता नहीं होती तब तक उनका स्थान शुद्ध संकल्प नहीं ले सकते ।

संसार का इतिहास दृष्टान्तों से भरा हुआ है जिनके पढ़ने से पता लगता है कि मन पर काबू पाने वालों ने किसी समय विशेष मनुष्यों के समुदाय का नाश कर दिया है । जिन मनुष्यों ने अपने मन के विचारों को अपने समीप के अजीबों तक प्रगट नहीं होने दिया उनकी बाह्य सफलता ने जगत् को अचम्भे में डाल दिया है किन्तु उनको अपने अन्दर किस प्रकार असफलता हुई और अन्त में न केवल दूसरे मनुष्यों के लिये ही बल्कि स्वयं अपने लिये भी उनके कर्म किस प्रकार दुःखदायी सिद्ध हुए इसके बतलाने की पढ़े लिखों को आवश्यकता नहीं है । तब आवश्यक है कि मन को वश में करने के पश्चात् एक मंजिल आगे चला जाये और उस वशीभूत मन को शुद्ध करने का भी यत्न किया जाय । मन की शुद्धि से ही सारी आन्तरिक शुद्धि होती है । जिन बुरी वासनाओं को पहले नीतिमान् पुरुष अपनी नीति के बल से दबाकर अन्दर २ जज्ब कर लेते थे ताकि उनका प्रकाश कहीं उन्हें निन्दित न कर दे, वे बुरी वासनाएँ अब उसके मन के अन्दर पैदा ही नहीं होतीं । जब शुद्ध मन के अन्दर अशुद्ध वासनाओं के लिये स्थान नहीं रहता तब मनुष्य अपने अन्दर शान्ति का राज्य फैलाने में सफल होता है । किन्तु बाहर अशान्ति बनी ही रहे तो फिर शान्त आत्मा की शान्ति में विघ्न पड़ने का डर है । इसलिये जिस प्रकार मन को वश में किया था उसी प्रकार वाणी को वश में करना चाहिये । मन के वश में आजाने पर भी जिस प्रकार उसको शुद्ध किये बिना आन्तरिक शान्ति नहीं होती, उसी प्रकार वाणी के वश होने पर भी जब तक उसे शुद्ध न किया जाय तब तक बाह्य संसार के अन्दर शान्ति नहीं फैल सकती ।

वाणी के वश में आजाने से सम्भव है कि मनुष्य दूसरों को धोखा देकर कुछ समय के लिये उनको वश में करले परन्तु जब बेबसी की अवस्था में वाणी काम करेगी उस समय चारों ओर अपवित्र प्रभाव फैलाकर संसार को घोर अशान्ति में डालने का कारण बनेगी। इसलिये वाणी को वश में करने के साथ ही उसकी शुद्धि का प्रयत्न भी करना चाहिये। जिससे, जब मनुष्य बोले, निडर होकर अपने विचारों का प्रकाश कर सके। प्रश्न फिर भी यही बना रहता है कि मन को किस प्रकार वश में करें और उसे किस प्रकार शुद्ध करें? दिन रात संसार के कल्याण की इच्छा मन में उठाना मन की शुद्धि का साधन है और इसी से अन्त में मन वश में आ जाता है। शुद्ध मन बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव वश में आ जाता है और यह शुद्धि अहिंसा व्रत पालने से प्राप्त होती है। फिर वाणी को कैसे वश में करें? मनु जी बतलाते हैं कि शब्द का उच्चारण 'स्पष्ट' करो।

प्रिय पाठकगण ! तुम किसी भी भाषा के जानने वाले क्यों न हो उसका स्पष्ट उच्चारण करना सीखो। तुम्हारे शब्द सन्देहजनक और भ्रम में डालने वाले न हों। तब स्वयमेव तुम्हारी वाणी में शुद्धि प्रवेश करेगी, परन्तु यह असम्भव है जब तक कि मन शुद्ध न हो। मन को शुद्ध करने वाले बड़े २ नीतिमानो ! तुम्हारा मन काबू करना व्यर्थ है जब तक कि तुम उसे, सत्य से सांज कर शुद्ध नहीं करते। 'मनः सत्येन शुध्यति' कैसा अभिप्राय पूर्ण वाक्य है ! जब तक तुम्हारे विचार सत्य से मंजे हुये नहीं होते तब तक मन की शुद्धि कठिन है और मन की शुद्धि के बिना वाणी कैसे शुद्ध हो सकती है और बगैर शुद्धि के वाणी वश में कैसे आ सकती है ? इसलिये आओ, हम सब मिलकर वाणी की पवित्रता की नींव डालें और एक दूसरे के मन को शुद्ध होने के योग्य बनाते हुये शुद्ध आचार की नींव डालें ताकि चेतन जगत् के अन्दर शान्ति का राज्य आजाये जिससे जड़ जगत् स्वयमेव शान्त होकर मुक्ति के मार्ग में रुकावट सिद्ध न हो। ❀

धर्मोपदेश

[दूसरा भाग]

लेशक स्वामी श्रद्धानंद

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे,
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च,
स आचार्यं तपसा पिपति । १ ।

— अथर्व०, काण्ड ११, अ० ३ सूक्त ५, १ ।

शब्दार्थ— (ब्रह्मचारी) परमेश्वर और उसकी बड़ी विद्या वेद को प्राप्त करने में कर्तव्य निरत है जो, वह ब्रह्मचारी, रोदसी उभे) द्यावा पृथिवी रूपी दोनों लोकों को (इष्णन् चरति, हिलाता हुआ चलता है, (तस्मिन् देवाः सम्मनसः भवन्ति) उसमें ही सब देव समान मन वाले होते हैं। (सः दाधार । पृथिवीम् दिवम् च) वह पृथिवी और द्यौ (जमीन और आसमान)को दृढ़ता से धारण करता है—(सः आचार्यम् तपसा पिपति) वह आचार्य को तप से पालता अर्थात् सन्तुष्ट करता है।

मन्त्र सार— 'ब्रह्म' परमेश्वर को कहते हैं। उस अनाद्य-नन्त की आदि विद्या 'वेद' भी ब्रह्म ही है क्योंकि दोनों ही सर्वोपरि, बड़े हैं। 'चर' धातु 'गति' और 'भक्षण' दो अर्थों में गयुक्त होती है। पहले चर को 'गति' अर्थ में लेंगे। वह 'गति' शब्द भी तीन अर्थों में लगता है—अर्थात् ज्ञान, गमन और प्राप्ति। तब ब्रह्मचारी वह है जो परमेश्वर और उसकी पतित पावनी विद्या का पहले ज्ञान प्राप्त करे। वह निश्चयात्मक ज्ञान किस मुख्य साधन से प्राप्त होता है? जिस अनिवचनीय को आँख देख नहीं सकतीं, कान सुन नहीं सकते और इन्द्रियाँ भी जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं दे सकतीं, उस व्यापक पुरुष को कहाँ देखें? निस्सन्देह उसका ज्ञान वहाँ ही प्राप्त हो सकता है, जहाँ वह विद्यमान है।

ब्रह्माण्ड के प्रकाशमान् और अप्रकाश्य प्राण और रवि, द्यौ और पृथिवी किस लोक में वह मौजूद नहीं है ? 'हर जगह मौजूद है पर वह नजर आता नहीं।' तब उसका ज्ञान द्यौ और पृथिवी इत्यादि द्वन्द्वों में तत्व ज्ञान की दृष्टि डालने से ही मिलेगा, और इस दृष्टि के लिए आवश्यक है कि दृष्टा में आत्मिक बल हो। जमीन और आसमान के अन्दर जो छिपा हुआ राज (रहस्य) है उसको खोलना ब्रह्मचारी का उद्देश्य है, इसलिये वह जमीन और आसमान को हिलाता हुआ विचरता है। वह प्रकृति को मजबूर करता है कि अपने अन्दर के रहस्यों को उस के लिए खोल कर रख दे।

जब ब्रह्मचारी को ब्रह्म का ज्ञान हुआ तो वह उसमें गमन करना आरम्भ करता है। संसार के सब प्रकाशमान् पदार्थ (जो उस प्रकाश स्वरूप की ज्योति के द्योतक होने से देव हैं) उस ब्रह्मचारी के सहायक होते हैं। जहाँ पहले भिन्नता दिखाई देती थी वहाँ समानता दिखाई देती है। सब में वह उसी प्रकाशस्वरूप की ज्योति को देखता है और अन्ततः वह उसी में स्थिरता को प्राप्त होता है। दर्शन तो, किसी न किसी समय, प्रत्येक व्यक्ति को होते हैं परन्तु ब्रह्मचारी को यह बल प्राप्त होता है कि जब एक बार उस परम ज्योतिः के दर्शन हो जायें तो वह उससे अलग नहीं होता। तभी तो वेद भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी द्यौ और पृथिवी को धारण कर लेता है अर्थात्, उनके तत्व को समझ कर फिर उसका हृदय डीवाडोल नहीं होता।

बड़े का ज्ञान करने, उसमें गमन करने और फिर उसकी प्राप्ति से स्थिर होकर दृढ़व्रती होने का साधन क्या है ? वही साधन ब्रह्मचारी को आचार्य बतलाता है। बड़े की प्राप्ति के लिये साधन भी बड़ा ही होना चाहिए। हाथीनशीनों से दोस्ती गाँठने वालों को ऊँचे दर्वाजे रखने पड़ते हैं। सर्वोपरि परमात्मा और उसके वेद की प्राप्ति के लिए साधन भी ऊँचा चाहिए। वह बड़ा

क्या है जिसके साधने से सबसे बड़े ब्रह्म का योग सध जाय ?
 तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली में भृगु ने वरुण से ब्रह्म का पता पूछा है । वरुण ने उत्तर में कहा 'अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो वाचमिति' 'अन्न' ब्रह्म है । तब ब्रह्मचारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये 'चर' धातु के दूसरे अर्थ पर विचार करना चाहिये । 'चर' भक्षण अर्थ में भी आता है । जो अन्न को भक्षण करने की शक्ति रखता है, वह ब्रह्मचारी है । भक्षण किसे कहते हैं, क्या खाद्य पदार्थ को पेट में रख लेना ही भक्षण है? वाचस्पत्य शब्दकोष के पृ० ४६२० पर लिखा है—'भक्ष-भावे ल्युट् । कठिन ब्रव्यस्य गलाघःकरणव्यापारे । भक्षणप्रकारः सुश्रुतोक्तः ।'

मानवी शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मायुक्त बनावट ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन हैं । उनमें से शरीर में रहकर ही इन्द्रिय, मन और आत्मा का व्यापार चल रहा है, इसलिए शरीर के स्वास्थ्य पर ही अन्य सबका स्वास्थ्य निर्भर है, परन्तु शरीर के परमाणु क्षण २ में क्षीण होते रहते हैं । उनकी स्थान पूर्ति के लिए केवल खाने पीने की ही आवश्यकता नहीं अपितु उस खाए को पचाने की भी आवश्यकता है । स्वादिष्ट और चटपटे भोजन के प्रलोभन में न फंसना और चबाते हुए उसे पीस डालकर अन्दर ले जाना यह तपस्वी का ही काम है । इसी तप की शिक्षा आचार्य ब्रह्मचारी को देता है और जब शिष्य आचार्य की शिक्षा के अनुकूल आचरण करता हुआ तपस्वी बनता है तभी आचार्य की आत्मा सन्तुष्ट होती है । इसी को लक्ष्य में रख कर उपनिषद् में अन्तेवासी के लिए उपदेश है कि आचार्य के प्रिय घन की भेंट उसके आगे रखे । घन्य हैं वे शिष्य वर्ग जो आचार्य की शिक्षा को शिरोधार्य समझकर तप का जीवन व्यतीत करते हैं, क्योंकि उस अवस्था को प्राप्ति का, जिसमें आनन्द का ही राज्य है—वही एक साधन है ।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः,
 पृथग् देवाः अनुसंयन्ति सर्वे ।
 गंधर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः,
 षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तरसा पिपति ॥२॥

—अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २।

शब्दार्थ—(सर्वे पितरः देवजनाः) सब पालक देव समूह और (पृथक् देवाः) जुदे जुदे देव (ब्रह्मचारिणम् अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी के पीछे पीछे चलते हैं। (गंधर्वाः एनम् अनु आयन्) गन्धर्व भी इसके साथ (अनुकूल) चल रहे हैं (त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः, सर्वान् देवान् सः तपसा पिपति) सब—
 ३३ × ३३३ × ६३३३—देवों को वह (ब्रह्मचारी) तप से पूर्ण करता है।

मन्त्र सार—देव कौन हैं ? “देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, च्छु स्थानो भवतीति वा” दान देने से, प्रकाश करने से, उपदेश देने से (दूसरे के अन्दर चाँदना करने से) और सब प्रकाशों की स्थिति का स्थान होने से देव कहाता है। पहले दान देने वाले देव, दूसरे प्रकाश करने वाले सूर्यादि देव, तीसरे उपदेश से अन्दर चाँदना देने वाले माता-पिता और आचार्य देव और चौथे प्रकाशकों की भी स्थिति का स्थान परमात्मा परमदेव है।

अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु कहलाते हैं, क्योंकि सब पदार्थ इन्हीं में निवास करते हैं। दस प्राण और ११ वाँ जीवात्मा इसलिए रुद्र कहलाते हैं क्योंकि जब ये शरीर से निकलते हैं तो मृत के सम्बन्धियों को रुलाते हैं। संवत्सर के बारह महीने आदित्य

कहलाते हैं क्योंकि ये आयु को क्षीण करते चले जाते हैं। ३१ ये और व्यापक विद्युत् तथा यज्ञ सब मिलाकर तेतीस देव समूह हैं। इन्हीं का विस्तार ३३३ और ६३३३ तक पहुँचता है। ये सब देव समूह और जुदे-जुदे देव सब ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं— अर्थात् ये शक्तियाँ ब्रह्मचारी के स्वभावतः अनुकूल हो जाती हैं। उसके मार्ग में ये शक्तियाँ बाधक नहीं होतीं। और गन्धर्व भी उसके साथ चलते हैं, उसका रास्ता साफ करते हैं। ये गन्धर्व कौन हैं? “गाम् धारन्तीति ये ते गन्धर्वाः” इन अर्थों में जो अनगिनत सूर्य लोक ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर रहे हैं, वे गन्धर्व हैं। फिर शतपथ में लिखा है—“अहोरात्राणि वै गन्धर्वाः” दिन रात भी गन्धर्व हैं। यह दिन रात का चक्र सबको घुमाता है और बुद्धि को डाँवाडोल कर देता है। परन्तु ब्रह्मचारी को वह भी हिला नहीं सकता।

क्यों सब देव ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे चलते हैं? इसका उत्तर साधारण व्यक्तियों के जीवन में ढूँढ़िये। जिसका वीर्य सुरक्षित नहीं वह माथे की तेजमय अग्नि को मन्द कर देता है। जिसका शरीर तप से शुद्ध नहीं वह मल-मूत्र के अनुचित त्याग से पृथिवी को गन्दा कर देता है। जिसका मन वश में नहीं वह आयु और अन्तरिक्ष को निर्बल करने की चेष्टा करता है और जो अविद्या का दास है उससे उठे हुए बादल सब प्रकाशमान पदार्थों को मन्द कर देते हैं।

अब्रह्मचारी से रुद्र पीड़ित और आदित्य दुःखी रहते हैं। विद्युत् और यज्ञ उसकी जान को रोते हैं। परन्तु ब्रह्मचारी अपने तप से इन सबको उत्तमजित करता है। ब्रह्मचारी का क्रियात्मक उपदेश इन सब देवों को शान्त करके भरपूर कर देता है। दिन रात उलटे चलने के स्थान में सीधे चलने लगते हैं। ब्रह्मचारी का जीवन जगत् की काया पलट देता है। ज्ञान-

गोष्ठी तो और भो महापुरुष करते थे परन्तु बुद्धदेव ने क्यों वाममार्ग के घोर बादलों को छिन्न-भिन्न करके चिस्स्थायी प्रभाव संसार पर छोड़ा ? ईसा ने क्यों मसीह की पदवी पाई और उसके उपदेश ने क्यों सदियों तक करोड़ों को शान्ति का पाठ पढ़ाया ? इन सबसे बढ़कर प्राचीन काल में रामचन्द्र तथा सीता के जीवन ने क्यों ऐसा उच्च पद प्राप्त किया कि उनके जीवन की कथा के पाठमात्र से अब तक स्त्री-पुरुष पवित्र जीवन लाभ करते हैं ? और इस समय ऋषि दयानन्द के जीवन का पाठ करके क्यों लाखों आत्मा सन्मार्ग में चलकर शान्ति लाभ कर रहे हैं ? उत्तर एक ही है कि ये सब महापुरुष ब्रह्मचारी थे ।

— — —
: ३ :

आचार्य उपनयमानो,
ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति,
तं जातं द्रष्टुमनुसंयन्ति देवाः ॥

—अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, ३ ।

शब्दार्थ—(आचार्यः) आचार्य (उपनयमानः) यज्ञोपवीत देते हुए (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने वाले ब्रह्मचारी को (अन्तः गर्भं कृणुते) [विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं करोति] विद्यारूपी माता के शरीर के अन्दर गर्भ रूप से धारण करता है । (तं तिस्रः रात्रीः उदरे बिभर्ति) उस (गर्भस्थब्रह्मचारी) को तीन रातों तक उसी (गुरुकुल रूपी) गर्भ में रखता है । (जातम्) तब उसके उत्पन्न होने पर (तं द्रष्टुं) उसको देखने के लिये (देवाः अनुसंयन्ति) विद्वान् आते हैं ।

मन्त्र सार—यहाँ 'रात्रीः तिस्रः' के भावार्थ को ही स्पष्ट करना है। रात अन्धकार का समय है। यद्यपि तारागण तथा अर्धमास तक चन्द्रमा भी प्रकाश देते हैं परन्तु वह प्रकाश सारे अन्धेरे को दूर नहीं कर देता। सारा अन्धकार तब दूर होता है जब आदित्य भगवान् अपने यौवन समेत दर्शन देते हैं। यहाँ तीन रातों से साधारण तीन रात्रि से तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत् ब्रह्मचर्य के तीन दर्जों से मतलब मालूम होता है। प्रथम २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य व्रत वह है जिसे पूरा करके ब्रह्मचारी 'वसु' (अर्थात् उत्तम गुणों को अपने अन्दर वास कराने वाला) बनता है। परन्तु यह निकृष्ट ब्रह्मचर्य है। जब वसु ब्रह्मचारी को घर जाने की आज्ञा आचार्य देता है तो श्रद्धादेवी उसे प्रेरित करके उससे कहलाती है—'भगवन् ! अभी तो मैं उत्तम गुणों का वास कराने वाला ही बना हूँ। अभी प्रलोभन मुझे गिरा सकते हैं। मुझे विशेष साधन का समय दीजिए।' शिष्य की योग्यता को देखकर आचार्य फिर आज्ञा देते हैं। तब ४४ वर्ष की आयु तक तपपूर्वक विद्याभ्यास करता हुआ ब्रह्मचारी 'रुद्र' संज्ञा का अधिकारी बनता है। उसकी वह प्रार्थना स्वीकार होती है जो उसने आश्रम में प्रविष्ट होते ही आचार्य से की थी—'मा तनु अस्मा भवतु' 'मेरी बनावट [शरीर और मन] चट्टान की तरह दृढ़ हो जाये।' तब वह ऐसा बलिष्ठ हो जाता है कि विषय और पाप उसकी बनावट से टकरा-टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाते और रोते हैं। उन्हें रुलाने का हेतु होने से ब्रह्मचारी 'रुद्र' बन जाता है।

फिर भी उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ। जब विषय और पाप समीप आते रहें, जब अन्धेरा आस-पास घूम सके, तब भी गिरने का भय बना ही रहता है। इसीलिए ऐसे सुबोध ब्रह्मचारी को जब गुरु सभावर्तन की आज्ञा देते हैं, तब वह फिर

हाथ जोड़कर विनय करता है—‘भगवन् ! अभी अन्धकार ने मुझे घेरना नहीं छोड़ा । आत्मा निश्चिन्त नहीं हुआ, इस पवित्र आश्रम द्वारा सावित्री माता के गर्भ में सुरक्षित होकर कुछ काल और निवास करने की आज्ञा मुझे प्रदान कीजिए ।

गुरु की आज्ञा से शिष्य तीसरी रात (अन्धकार से घिरी हुई अवस्था) भी गर्भ में बिताता है । तब उसके दृढ़ तप से अन्धेरा दूर हो जाता है और वह सावित्री के गर्भ से बाहर आकर आचार्य को प्रणाम करता है । तब आचार्य उस ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को सूर्य की भाँति देदीप्यमान देखकर आशीर्वाद देता है—“तू अब आदित्य है । तेरा प्रकाश स्थिर होगा । अन्धकार का हौसला ही न पड़ेगा कि तेरे समीप पहुँच सके” बस तीसरी रात भी व्यतीत हो गई और ब्रह्मचारी का दिव्य तेज फल गया और तब वह द्विज बन कर देव पुरुषों से सम्मानित होकर उनमें शामिल हो जाता है । इसी वेद मन्त्र की व्याख्या में मनु भगवान् ने कहा है—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धनं ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां, द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य, मौञ्जिबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री, पिता स्वाचार्य्य उच्यते ॥

श्रुति की आज्ञा से द्विज का प्रथम जन्म, माता से दूसरा उपनयन वा व्रतबन्ध और तीसरा यज्ञ की दीक्षा में ये तीन जन्म होते हैं । इन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में, वेद ग्रहणार्थ, उपनयन संस्कार रूप जो जन्म है, उस जन्म से उस (ब्रह्मचारी) की माता सावित्री और पिता आचार्य कहते हैं ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—‘सह विद्यातस्तं गनयति । यच्छ्रेष्ठं जन्म । शरीरमेव मातापितरौ जनयतः’ इसी

भाव को लक्ष्य में रखकर वर्तमान मनुस्मृति के कर्ता ने लिखा है—

कासान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो भिद्यः ।

संभूतिं तस्य तां विद्याद्यायोनावभिजायते ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं त्रिधिवद्देवपारगः ।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥

माता-पिता तो, जीवन विद्या के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण काम बश होकर भी सन्तान उत्पन्न करते हैं, परन्तु वह जन्म अजर और अमर है जो ब्रह्मचारी को विद्या के गर्भ में रख कर आचार्य देता है । धन्य है वह देश और धन्य है वह जाति जिसमें आदित्य आचार्य ब्रह्मचारियों को अमर जीवन का दान देते हैं ।

आचार्य कौन हो सकता है ? जो शिष्य को अमर जीवन प्रदान करने की शक्ति रखता हो । जिसने स्वयम् अमर जीवन प्राप्त नहीं किया, जो स्वयम् इन्द्रियों का दास और कमजोरियों का शिकार है, उसे पवित्र आचार्य पद ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होना चाहिए । एक बड़े विदेशी अनुभवी विद्वान् की उक्ति प्रसिद्ध है कि कवि की तरह अध्यापक भी घड़े नहीं जा सकते, वे जन्म से ही शक्ति लेकर आते हैं । अनेक जन्मों के साधनों से बुरे संस्कार धुलते हैं, यह ऋषियों के आदेश का सार है । आत्माओं के कुसंस्कारों को धोकर उनमें उत्तम संस्कारों के प्रवेश कराने के लिये उग्र तप की जरूरत है । तब कैसी गिरी हुई दशा उस देश और उस काल की समझी जाय जिसमें आचार्य का काम एक पेशा बना लिया जाता है । वेद का उपदेश यह है कि जो शरीर, आत्मा और मन को शक्ति से शिष्य को सुरक्षित करके उसे देव सभा का सभासद् बना सके वही आचार्य पद का अधिकारी है । *

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो-
तान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया,
श्रमेण लोकांस्तपसा विपति ॥

अथर्व०, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५।

शब्दार्थ—(इयम्-पृथिवी-सम् इत्) पृथिवी लोक पहिली समिधा है (द्यौः द्वितीया) दूसरी प्रकाशमान दुलोक और तीसरी (अन्तरिक्षं समिधा) अन्तरिक्ष समिधा है। इन तीनों से ब्रह्मचारी यज्ञ को पूर्ण करता है (ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण तपसा लोकान् विपति) ब्रह्मचारी (१) समिधा से (२) मेखला से (३) श्रम से (४) और तप से लोकों [विषयों] की तृप्ति करता है।

मन्त्र सार—ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु को गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर जाना चाहिए। खाली हाथ जाना मना है। याचक को अभिमान दूर रख देना चाहिए। वेद में कहा है कि श्रद्धा की समिधा लेकर प्रभु पूजा में प्रवृत्त होना चाहिए। ब्रह्मचारी की सम्पत्ति समिधा ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य तप रूपी यज्ञ ही है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य वेद विद्या द्वारा ईश्वर प्राप्ति है, वह प्राप्ति ही इस ब्रह्मयज्ञ का फल है।

ब्रह्मचारी तीन स्थूल समिधाओं को तो नित्य प्रदीप्त अग्नि में डालता ही है परन्तु ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए भी उसे तीन समिधाओं की ही आवश्यकता है। वह तीन समिधा कौनसी हैं? प्रथम पृथिवी, द्वितीय द्यौः और तीसरी अन्तरिक्ष। इन्हीं के ज्ञान में सारा ज्ञान आ जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय में पहले गुरु शिष्य को, वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, उच्चारण और सन्धि का ज्ञान देकर उस शब्द शिक्षा के पश्चात् अर्थशिक्षा प्रारम्भ करता है। अर्थ-शिक्षा में पांच अधिकरण बतला कर उनमें पहला अधिलोक प्रकरण है। इस दृश्य कार्य जगत् का नाम ही अधिलोक है। उसमें 'पृथिवी पूर्वरूपं। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायु सन्धानम्। इत्यधिलोकम्॥' भूमि ही इस आत्मिक यज्ञ की कार्य सिद्धि में आधार स्वरूपा होने से मुख्य साधन है। उस सर्व इन्द्रियों से ग्राह्य पृथिवी और उसकी रचना से उठकर सूर्यादि प्रकाशक लोको का ज्ञान सम्भव है। वहाँ बाह्य इन्द्रियों में से केवल एक चक्षु इन्द्रिय की ही गम्यता है। यद्यपि वह प्रकाश गौण साधन है तथापि उस दूर स्थित प्रकाश के बिना निकटस्थ पृथिवी के प्रत्यक्ष दर्शन कठिन ही क्या असम्भव हैं। द्यौः इस लिए उत्तर रूप है। परन्तु पृथिवी और द्यौः—इन दोनों का मेल कहाँ होता है ? यदि अन्तरिक्ष न हो तो सूर्य का प्रकाश ब्रह्मचारी तक कौन पहुँचावे ? इसलिए अन्तरिक्ष ही उन दोनों के मेल का स्थान है। पृथिवी और द्युलोक की विद्या की प्राप्ति असम्भव है जब तक कि अन्तरिक्ष उन्हें परस्पर मिलाने वाला हो। तब अन्तरिक्ष की विद्या से ही पहिली दोनों विद्याओं का निश्चय होता है। ये तीनों इस शिक्षारूपी आत्म यज्ञ की तीन समिधा हैं। इन्हीं तीनों का ज्ञान नित्य प्राप्त करने से आत्म-यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त रहती है। ये तीन समिधा हैं परन्तु इनको यज्ञ-कुण्ड में डालने का हाथ रूपी मुख्य साधन वायु है—यह उपनिषद् ने स्पष्टीकरण के लिए विशेष व्याख्या की है। प्रकाश भले ही अन्तरिक्ष में रहे परन्तु उसकी किरणें वायु के बल से ही पृथिवी तक पहुँचती हैं।

संसार के प्रलोभन ब्रह्मचारी को चारों ओर से घेरते हैं। विषयों की प्रबल शक्तियाँ उस पर सारे बल से प्रहार करती हैं। उनका मुकाबला अल्प जीव कैसे करे ? उनका मुकाबला नहीं हो सकता, उन शक्तियों को तृप्त करने से ही वे ब्रह्मचारी का पीछा छोड़ती हैं ? क्या भोग से उनकी तृप्ति होती है ? मनुष्य अज्ञानवश समझता है कि वह विषयों को भोग रहा है, उलटा विषय उसका भुगतान कर देते हैं। उनके चंगुल से कैसे छूटे ? इस बात का जिक्र करते हुए कि जो मनुष्य काम भोग नहीं करता और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता है उसमें वीर्य स्वलित होने का सर्वथा अभाव असम्भव है; अमेरिका के डाक्टर विलियम् जे० राबिन्सन एम० डी० लिखते हैं—

“There is only one exception to this statement, men engrossed in an all absorbing mental task may, even while living continent life, go for months and years without an omission.”

अर्थात् इस कथन में केवल एक ही अपवाद हो सकता है वह यह कि जो लोग लगन से किसी मानसिक काम में लगे हुए हैं वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए भी महीनों और वर्षों तक भी बिना वीर्य स्वलन के रह सकते हैं। डाक्टर राबिन्सन से बहुत पहिले ऋषि दयानन्द ने इस विषय पर लिखा था—‘जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य रक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता, उसका वीर्य विचारान्नि में ई धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है।’

ब्रह्मचारी सांसारिक, विरोधी शक्तियों को कैसे तृप्त करता है ? पृथिवी, प्रकाश और अन्तरिक्ष से जो आक्रमण उस पर होते हैं उनको वह कैसे निवारण करता है ? वह इन्हीं तीनों को समिधा बनाता है और उन्हें ज्ञानाग्नि में आहुति

देकर भस्म कर देता है। भस्म का तात्पर्य यह नहीं कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है प्रत्युत् मतलब इतना ही है कि रूपान्तर में जाकर वे उस ब्रह्मचारी को अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते।

हाँ, इन तीन समिधाओं से आत्मयज्ञ प्रदीप्त कैसे किया जाय ? उसके लिये श्रम रूपी बल की प्राप्ति के लिए मेखला ही एक मात्र साधन है। जननेन्द्रिय को स्वाद के प्रलोभन से बचाने के लिए ब्रह्मचारी मेखला धारण करता है। बिना समिधाघान के मेखला धारण करने के योग्य (अर्थात् लंगोट का सच्चा, यति) नहीं हो सकता और बिना मेखला (तड़ागी) धारण किये अर्थात् लंगोट-बन्द हुए श्रमी नहीं हो सकता और उस श्रम से ही अन्तमें तप की प्राप्ति होती है। तब सब लोकों को तृप्त करने का साधन तप ही सिद्ध होता है।

उपनिषत् की भाषा में इसलिए कह सकते हैं कि 'समिधा पूर्वरूपम्, मेखला उत्तररूपम्। श्रमः सन्धिः। तपः सन्धानम्।' यदि ब्रह्मचारी तप द्वारा श्रमी बनकर वीर्य रक्षा द्वारा उस बल को दृढ़ करले और फिर अपनी सारी शक्तियों को पृथिवी लोक, द्युलोक और अन्तरिक्ष की विद्या के प्राप्त करने में एक चित्त होकर लगा दे तो फिर वह तप में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है और तपस्वी बन कर सर्व बाह्य शक्तियों को ऐसा तृप्त कर देता है कि वे उसको गिराने का साहस करने के स्थान में उसकी सहायक होती हैं।



: ५ :

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी
धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥

—अथर्व० काण्ड ११, अ० ३ सूक्त ५, ५॥

शब्दार्थ— (ब्रह्मणः) वेद ज्ञान (की प्राप्ति) से (पूर्वः जातः ब्रह्मचारी) पहला प्रसिद्ध हुआ ब्रह्मचारी (धर्म वसानः) दीप्त (प्रकाशमय) रूप को प्राप्त होकर (तपसा + उत् अतिष्ठत्) तप से ऊंचा उठता है। (तस्मात्) उस (पहिले ब्रह्मचारी) से (ज्येष्ठम् + ब्रह्म + ब्राह्मणम्) सबसे बड़े वेद द्वारा ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं (च सर्वे देवाः + अमृतेन साकम्) और सब विद्वान् अमृतत्व सहित (उत्पन्न होते हैं)।

मन्त्र सार— सृष्टि प्रवाह से अनादि है—यही सिद्धान्त सृष्टि उत्पत्ति की समस्या को हल करता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी कल्पना करो—शून्य से सृष्टि हुई, सदा से कार्य जगत् एसा ही है, इत्यादि—तो वास्तव में सृष्टि की समस्या हल नहीं होती। तब सृष्टि प्रवाह से अनादि है—सूक्ष्म से सूक्ष्म व स्थूल रूप धारण करती है और फिर अपने उपादान कारण में लीन हो जाती है। यही प्रवाह चल रहा है।

सृष्टि के आदि में जहाँ परमात्मा ने भौतिक आँखों को लाभदायक बनाने के लिये भौतिक सूर्य का प्रकाश किया वहाँ मनुष्य की बुद्धि रूपी अन्तरीय आँखों को सुखदायक बनाने के लिये वेद ज्ञान का भी प्रकाश किया। जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का उदय हुआ उसी तप के बल (तेभ्यः तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त) से तीनों (ज्ञान, कर्म, उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्म विद्या का जिस द्वारा प्रकाश हुआ,

वही ब्रह्म-वेद का जानने वाला और उसमें गति रखने वाला ब्रह्म-चारी 'ब्रह्मा' कहलाया। ब्रह्म वेद की ओर चर(गति-ज्ञान, गमन, प्राप्ति) गतिमान होकर जिसने पहले उसको प्राप्त किया इसलिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । तुम तेज स्वरूप हो, मुझ में भी तेज धारण कराओ ! इस प्रार्थना को ब्रह्मा ने ही सार्थक बनाया। तप द्वारा उस उग्र तेज को धारण करके वह सबसे ऊँचा उठकर मनुष्य सृष्टि का आदि गुरु बना । जब-जब सृष्टि होती है, उसका उत्तर क्रम चलाने वाला आदि पुरुष भी उत्पन्न होता है। इसी भाव को लेकर श्वेताश्वतरोपनिषत् में कहा है 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।' इसी भाव को प्रगट करते हुए उपरोक्त वेद मन्त्र का भाष्य ही मुण्डकोपनिषत् में किया है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
 स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
 कल्प, के आरम्भ से (वर्णाश्रम) धर्म का प्रचारक और (उस विद्या के प्रचार द्वारा) सब प्राणियों का रक्षक, वेदवेत्ताओं में पहिला (अर्थात् समग्र वेद को जानने वाला) पुरुष अमैथुनी सृष्टि में ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। सब विविध विद्याओं में निष्णात ब्रह्माजी ने उस ब्रह्म विद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश किया ।

अथर्वा ने अङ्गिरा को और उसने अपने शिष्यों को—इसी प्रकार शिष्य, प्रशिष्य परम्परा से ब्रह्मविद्या का प्रचार चला आता है। वेद के तीनों काण्डों का शङ्का समाधान होकर अथर्ववेद में उनका पूर्ण ज्ञान होता है। इसीलिये अथर्ववेद को ही वेद का अन्त कहना ठीक है। इसीलिए जिस समय शिष्य को ब्रह्मा ने वेद ज्ञान दिया उसका नाम अथर्वा हुआ और उसी से वेदान्त के प्रचार की परम्परा चली ।

ब्रह्मा पहिला ब्रह्मचारी हुआ, उसीसे ब्रह्म वेद के जानने वाले ब्राह्मण उत्पन्न हुये । ब्राह्मण कौन है ? जन्म से तो सब शूद्र हैं—ब्रह्म को चीन्हने से ही ब्राह्मण बनता है ।

जन्मना जायते शूद्रस्संस्काराद्विज उच्यते ।

वेदाभ्यासाद् भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥

आदि सबसे ऊँचे स्थित ब्रह्मचारी ब्रह्मा ने ही संस्कार द्वारा दूसरा जन्म देकर अथर्वा को ब्राह्मण बनाया और फिर वही परम्परा चलती रही । सब विद्वान् ब्रह्मा की प्रथम शिक्षा को शिरोधार्य समझ कर ही मोक्ष रूपी अमृत का पान करते हैं और अब भी यदि सच्चा आचार्य मिल जावे और वह ब्रह्मचारी को विद्या माता के गर्भ में स्थित कराके तीन रात्रि (४८ वर्षों की आयु) तक रखकर उसकी पूर्ण रक्षा के पश्चात् दूसरा आत्मिक जन्म दे तो निस्सन्देह वह आदित्य ब्रह्मचारी अमर जीवन को साथ लेकर ही उत्पन्न हो । इसी भाव को कैसी उत्कृष्ट भाषा में मनु भगवान् ने प्रकट किया है :—

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥

पृथिवी में ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि धर्म के खजाने का रक्षक है । ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है, क्योंकि वह इन्द्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य पालन करता हुआ भी इन्द्रियों का गुलाम नहीं बनता । वह इतना ऊँचा उठता है कि उसे भोग नीचे नहीं खींच सकता । वह सारे जगत् के पदार्थों को अपना ही समझता है इसलिये उसके वास्ते कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रहती—

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येवं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।

श्रेष्ठ्येनामिजनेनेव सर्वं वं ब्राह्मणोऽर्हति ॥

जो कुछ भी जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं,

ब्रह्मोत्पत्ति रूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सम्पूर्ण को ग्रहण करने योग्य है। तब तो मनु महाराज का कहना ठीक ही है कि—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनुशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरेजनाः ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहिनता और अपना ही दान देता है। इसमें सन्देह नहीं कि और लोग ब्राह्मण का दिया हुआ भोगते हैं। संसार के भोगों में आप न फँसकर जो ब्राह्मण अन्य सारी प्रजा का यथार्थ भोग के लिये कमाई करने का सीधा मार्ग सिखाता है—वही धन्य है।

अब भी यज्ञ में ब्रह्मा का उच्चासन रहता है। यजमान और अन्य सब यज्ञ-पुरुषों को व्यवस्था में चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है। गिरते हुआँ को वही टोक कर गिरने से बचाता है। मनु भगवान् ने धर्माधर्म का निर्णय करने के लिये दस विद्वानों की सभा और न्यून से न्यून तीन वेदों के जुदा-जुदा जानने वाले तीन की धर्म सभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था एक चारों वेदों का ज्ञाता और तदनुकूल आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी दे, उसकी बड़े से बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

संसार में जब तक ऐसी गुरु-शिष्य परम्परा स्थिर रहती है तब तक उसके अन्दर धर्म और शान्ति का राज रहता है और जब उस परम्परा में बाधा पड़ती है तब ही अधर्म और अशान्ति का दौरा चलने लगता है। जब-जब भी पहले ब्रह्मचारी का अदर्श सर्वसाधारण की आँखों से ओझल होता है तब-तब ही प्रजा का सम्मिलित आत्मा उसके लिये व्याकुल होकर पुकारता है। जब प्रजा के इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध भाव प्रवेश करता है तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

हे संसार की व्याकुल प्रजा ! क्या लाखों के रक्त और करोड़ों की आत्म-हत्या ने तेरे हृदय को अब तक शुद्ध नहीं किया जिससे कि अब तक भी तेरे अन्दर ब्रह्मचारी ब्रह्मा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। तब प्रभु से प्रार्थना करो कि वह सच्ची शुद्धि प्रदान करे जिससे संसार का शीघ्र कल्याण हो।

— ६ : —

ब्रह्मचार्य्यंति समिधा समिद्धः
 काष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
 स सद्यएति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
 लोकान्तसंगृभ्य मुहराचरिक्त ॥

—अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, ६।

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी समिधा समिद्धः) जो ब्रह्मचारी समिधा (पृथिवी लोक सूर्य लोक तथा अन्तरिक्ष लोक के विद्यारूपी यज्ञ) से प्रकाशित (काष्णं वसानः) काले मृग का चर्म धारण किये (दीर्घश्मश्रुः दीक्षितः एति) बढी हुई दाढी मोंछ चाला दीक्षित होकर चलता है। (सः सद्यः पूर्वस्मान् उत्तरम् समुद्रम् एति) वह शीघ्र ही इस (ब्रह्मचर्य्य रूपी) पहिले से ऊपर के (गृहस्थ रूपीः समुद्र को प्राप्त होता है और (लोकान् संगृभ्य मुहुः आचरिक्त) लोक संग्रह करके बारम्बार अभिमुख (अर्थात् वश में) करता है।

मन्त्र सार—ब्रह्मचारी को तीनों लोकों की विद्या प्राप्त करने में ऐसी लगन से जुट जाना चाहिए और उन लोकों की घटनाओं को इस प्रकार हस्तामलक कर लेना चाहिए कि वे उसके अन्तःकरण के लिये समिधावत् हो जायें। उनको वह ब्रह्मचारी ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त यज्ञ-कुण्ड में डालकर यज्ञ-मण्डप

की शोभा को चौगुना बढ़ा दे। उस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि से उसका अपना हृदय रूपी मुख अत्यन्त प्रकाशित होगा। वह तेज जो ब्रह्मचारी के पवित्र मुख को प्रकाशित कर रहा है क्षणिक न रहेगा यह तेज स्थिर होगा।

यह सारा तैयारी का जमाना है—यह साधन काल है जिसमें मनुष्य साधन सम्पन्न बनता है। कर्म के बन्धन में फँसे हुए साधारण मनुष्य के लिये विषयों में प्रवृत्ति साधारण अवस्था क्या, एक प्रकार से स्वाभाविक बन जाती है। उस अवस्था को बदलना ही ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर ही विषयों की दासता को त्याग कर मनुष्य उसका स्वामी बनता है। परन्तु यह निवृत्ति मार्ग जहाँ जीवात्मा को अपनी बनावट तथा तन्निदिष्ट ब्रह्माण्ड की गुनामी से बाजाद कर देता है, वहाँ है यह बड़ा बीहड़ रास्ता। इस दुर्गम पथ पर चलना तलवार की धार पर नृत्य करने के बराबर है। तब क्या यह मार्ग असाध्य कर्म है ? साधन-शून्य पुरुषों के लिये जहाँ यह असाध्य है वहाँ साधन-सम्पन्न (पुरुषार्थी) ब्रह्मचारी के आगे इसकी सब मंजिलें अपने आप साफ हो जाती हैं और यह बेखटके इनमें से गुजर जाता है। ब्रह्मचारी को न शारीरिक बनावट चुनाव की सुख है और न उसके सिंगार की बुध। वह तत्व के उच्चासन की ओर दृष्टि लगाये सांसारिक फँसावटों से बेलगम जा रहा है।

ब्रह्मचारी जब अपने व्रत को पूर्ण करके विद्या-व्रत स्नातक होकर समावर्तन के लिये तैयारी करता है तो उसका वेश क्या होता है ? काले मृग का चर्म तो उसका ओढ़ना है और दाढ़ी मूँछें उसकी बहुत बढ़ी हुई हैं। अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते-करते जहाँ मनुष्यों को परमात्मा के दिये हुए श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ पचाने के लिये गमं मंसालों और खटाई आदि

की जरूरत होती है, वहाँ शौच के नियमों को भुलाकर मनुष्यों ने और भी अनावश्यक अवस्थायें उत्पन्न कर ली हैं। ब्रह्मचारी के लिए नापित की आवश्यकता नहीं और न सेंफटीरेजर और मशीन या कैंची की। उसके शरीर के बाल, स्वतन्त्रता से बढ़ कर जहाँ उसके अन्दर की विद्युत् को उत्तेजित करके उसकी रक्षा करते हैं वहाँ काले मृग का चर्म उसके शरीर को सर्दी-गर्मी के बाह्य आक्रमणों से बचा कर उसको निस्पृह जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाता है। ब्रह्मचारी को एक घुन लगी है और वह घुन है—तत्वान्वेषण। इसके लिये वह संसार के सुखों को न्यौछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। और वह भोगों में फँसे भी कैसे? जब वह प्रत्येक अवस्था में आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है, तब अपने त्याग के आगे इन्द्रियों को और विषयों को शिर झुकाये देखता है—जब देखता है कि सचमुच इनका स्वामी वह बन रहा है तब वह भोगों का भोग्य पदार्थ कैसे बन सकता है?

काले मृग की चर्म धारण किये, बड़ी हुई दाढ़ी-मूँछ ब्रह्मचारी ही भोगों से भोगे जाने के स्थान में उन्हें अपना आज्ञा-पालक सेवक बनाता है। मनु भगवान् ने यज्ञ प्रधान देश में ही बसने की आज्ञा देके यज्ञ प्रधान देश के जो विशेषण बतलाये हैं उनमें एक विशेषण यह है कि उस प्रदेश में काले मृग स्वतन्त्रता से विचरते हों। इसलिये काले मृग का चर्म प्राप्त करने के लिये उनके घात करने को मनुस्मृति ने भी लक्ष्य में नहीं रक्खा। जहाँ काले मृग स्वतन्त्रता से विचरते हैं वहाँ उनका चर्म उनकी स्वाभाविक मृत्यु पर प्राप्त करना बहुत सुगम है।

जिस आश्रम निवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य के संरक्षण में रहते हुए सर्दी-गर्मी की ताड़ना से ऊँचे उठकर ब्रह्मतेज को धारण कर लिया है वही दीक्षा का अधिकारी होता है—“व्रतेन

दीक्षामान्नोति ।” चाहे विद्या की पाठविधि समाप्त भी कर चुका परन्तु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकारी उसी समय होता है जब कि वह 'व्रतस्नातक' बनने की योग्यता प्राप्त करने, तब पहिले समुद्र को नियमपूर्वक लांघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है । ब्रह्मचर्य पहिला समुद्र है । जिसने इस पहिले समुद्र में गोते खाये हों, जिसने ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोग कर खोखला कर दिया हो वह गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों करता है ? इसलिये कि अविद्या ने उसको अन्धा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची । गृहस्थ रूपी उत्तर समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार रूपी बड़े-बड़े मगरमच्छ मुँह खोले विचर रहे हैं, भयङ्कर भोग की लहरें उठ रही हैं—वहाँ इन्द्रिय-दमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है । ब्रह्मचर्य-साधन का फल क्या है ? वेद का उत्तर है 'लोक-संग्रह ।'

समुद्र अथाह है, आँधी के थपेड़े लहरों को बल्लियों ऊपर ले जा रहे हैं और उसके अन्दर मनुष्यों से भरी हुई किशती फँस गई है । आमने-सामने की लहरों ने किशती को भँवर में फँसा दिया है । उस किशती को कौन निकाले ? किनारे पर हाहाकार मच रहा है, परन्तु किसी का साहस नहीं पड़ता कि हिल सके । किशती के यात्री लहरों की हलचल के मद से उन्मत्त अपनी शोचनीय अवस्था को अनुभव नहीं करते । सिर में चक्कर आ रहा है और ऐसा अँधेरा छा गया है कि उन्हें अपनी हीन दशा का परिज्ञान ही नहीं । ऐसी दशा में एक तेजस्वी महात्मा जङ्गल में चले आ रहे हैं । एक क्षण में उन्होंने सारी अवस्था को जांच लिया और एक दम से समुद्र में कूद पड़े । देखते-देखते यह गये ! वह गये ! किशती को जा पकड़ा और उछल कर ऊपर चढ़

गए। पतवार को भय के नशे में चूर भोगी से छीनकर अपने हाथ में लिया, और किशती संभल गई। वह लहरों की भंवर से निकली और किनारे पर लग गई।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी किसलिए तैयारी करता है? क्या विषयों का दास बनने के लिए? यदि यही उद्देश्य होता तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब? ब्रह्मचारी सारी तैयारी इसलिए करता है कि स्वार्थ को भूलकर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःखहरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्ग दर्शक बने। ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त के गुरुकुलों को था। क्या वह समय फिर लाया जा सकता है? यदि नहीं, तो संसार के पुन-रुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिए। #

: ७ :

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं,
प्रजापति परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य, योना-
विन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, ७।

शब्दार्थ—(ब्रह्म) वेद विद्या (प्राणः) प्राण विद्या (लोकम्) दृश्यमान् जगत् और (परमेष्ठिनम्, विराजम्, प्रजापतिम्) सबसे ऊँचे स्थित, सबके प्रकाशक, प्रजा पालक (परमात्मा) को (जनयन्) प्रत्यक्ष करते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ने (अमृतस्य योनौ गर्भः भूत्वा) मोक्ष प्रदायिनी ब्रह्मविद्या (सावित्री) रूपी योनि में गर्भ रूप होकर और (ह इन्द्रः-भूत्वा) और निस्सन्देह इन्द्र होकर (अमुरान् ततर्ह) असुरों को नष्ट किया है।

मन्त्र सार—ब्रह्मचर्य की आधारशिला वेदारम्भ संस्कार है। ब्रह्मचारी सबसे पहिले आचार्य से वेदमन्त्र (गायत्री)की दीक्षा लेता है। उससे ही उसे प्राणविद्या का ज्ञान मिला है जो बिना अभ्यास के कुछ भी फल नहीं लाता। प्राणविद्या का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उससे प्राणों को वश में लाया जा सके इसलिये वेदाभ्यास के साथ ही उसे तीन प्राणायाम नित्य करने की शिक्षा मिलती है। तप ब्रह्मचर्य का मूल है और मनु भगवान् कहते हैं कि (प्राणायामः परंतपः) प्राणायाम ही बड़ा तप है। प्राणों को वश में करने से ही मन वश में आता है और तब इन्द्रियाँ डाँवाँडोल नहीं होतीं, मन की एकाग्रता से ही संसार का यथार्थ दर्शन होता है। डाँवाँडोल मन संसार की वास्तविकता को नहीं समझ सकता। संसार का वास्तविक स्वरूप देखने के लिये निश्चल मन की आवश्यकता है। जब लोक-संग्रह ब्रह्मचारी का परम अधिकार है तो उससे पहिले उसे लोक का यथार्थ स्वरूप मालूम होना चाहिए। वेद विद्या की प्राप्ति का फल प्राणविद्या में प्रवेश और प्राण विद्या द्वारा प्राणों को वश में करने का फल जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना है।

लोक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान किसलिए चाहिए ? इसलिए कि उस लोक के ठीक (लोक—दर्शने) दर्शन हो सकें। रूप से विमोहित होकर मनुष्य व्याकुल पागलों की भाँति उसी की ओर टिकटिकी लगा देते हैं। परन्तु प्राणों को वश में कर के ब्रह्मचारी विचार करता है—वया अस्थि, मज्जा और चर्मादि की यह चमक है जो सुन्दर मानवी चेहरे को दमका रही है ? क्या जड़ प्राकृतिक जिह्वा के अन्दर वह लालित्य है जो सहस्रों को मूर्च्छित कर देता है ? क्या पत्थर, पानी और पोल के अन्दर वह घटा छिपी हुई है जो हिमशिला की ओर स्वभावतः मनुष्यों की बाहरी आँखों को आकर्षित कर रही है ? प्राण

के विजेता ब्रह्मचारी की अन्दर की आँखें खुल जाती हैं और वह देखता है कि जड़ में सौन्दर्य नहीं है। जिस प्रकार चन्द्रादि लोक सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके ही प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार सारी प्रकृति सौन्दर्य को किसी अन्य उच्च शक्ति से धारण करती है। सारा सौन्दर्य उस प्रभु का है जो सबसे ऊँचा स्थित, सबमें व्यापक होकर सबको प्रकाश दे रहा है, — जो सूर्य लोकों का भी द्योतक तथा देव और ऋषि महात्माओं के हृदयों का भी प्रकाशक है।

ऐसी निर्मल बुद्धि को लेकर ब्रह्मचारी दीक्षा से व्रत का अधिकारी बनता है, तब उसे बाहर के प्रलोभन अपनी ओर नहीं खींच सकते। मोक्ष स्वरूप परमात्मा के अन्दर जब आत्मा स्थित हो गया तब अडोल हो जाता है। यही उसका अपूर्व गर्भ है। जब इस गर्भ में स्थित हुआ तो बाहर की 'सुघ-बुध' भूल जाता है। हर मुलक और हर समय में आदर्श विद्यार्थी उसी को माना जाता रहा है जिसका विद्या की धुन में बाहिरी दुनियाँ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिसने बालों की दासता, वस्त्रों की दासता, चटोरी जुबान की दासता, और गोष्ठी (गप्पों) की दासता में समय और शारीरिक बल को नष्ट किया है वह सावित्री माता के गर्भ में कभी गया ही नहीं।

जिस प्रकार हाथ-पैरादि अवयव बन जाने पर प्राकृतिक माता के गर्भ में बालक हाथ-पैर मारने लगता है और बुद्धिमती माता उसे धार्मिक पिता की सहायता से शान्त कर देती है इसी प्रकार जब सावित्री माता के गर्भ में ब्रह्मचारी जल्द-बाजी से कुछ व्याकुल होने लगता है तो आचार्य की सहायता से विद्यामाता उसे सावधान कर देती है। यह गर्भ का समय बड़ा नाजुक है, विशेषतः आरम्भ का समय। जब आरम्भ के पाँच मास व्यतीत हो जायें तो फिर माता सन्तान की ओर से

निश्चिन्त हो जाती है। इसी प्रकार जब ब्रह्मचारी गुरुकुल निवास के पहले दश वर्षों के अन्दर से सही सलामत गुजर जाय तो जहाँ वेद विद्या पर उसका विश्वास हो जाता है वहाँ आचार्य भी उसकी रक्षा से अपेक्षाकृत निश्चिन्त हो जाता है। जब इस प्रकार सुरक्षित ब्रह्मचारी जन्म लेकर द्विजन्मा बनता है तब निस्सन्देह वह 'इन्द्र' पद का अधिकारी होता है।

'इन्द्र' कौन है ? मानवी बनावट के अन्दर ही देव और असुर दोनों हैं। ज्ञानेन्द्रिय देव हैं, क्योंकि जीवात्मा जितना भी ज्ञान उपार्जन करता है वह इन्हीं के द्वारा अन्दर पहुँचता है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि असुर हैं और वे भी कहीं बाहर से नहीं आते। देवभाव के उलट जाने से अन्दर ही इनकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रियरूपी देवों को जब जीवात्मा वश में कर लेता है तब उसकी 'इन्द्र' संज्ञा होती है और अविद्या रूपी विरोचन (विगत प्रकाश) काम, क्रोधादि को उत्पन्न करके विषयों में जीवात्मा को इन्द्रियों का दास बना लेता है तभी उसकी मनुष्य से भी नीचे राक्षस संज्ञा हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का अन्तिम उद्देश्य यह है कि ब्रह्म (वेद और परमेश्वर) का तेज धारण करके संसार का कल्याण किया जाय और यह नहीं हो सकता जब तक कि काम-क्रोधादि के दलों को केवल भगा ही न दिया जाय प्रत्युत् उनको 'दग्धबीजवत्' नष्ट भी न कर दिया जाय।

ब्रह्मचर्य का आदर्श इस समय लोप हो रहा है, संसार इसलिये भोग और स्वार्थ के जाल में फँस रहा है। इस फाँस को काट कर जनता को मुक्त कराना इस समय का सबसे बड़ा काम है। क्या माता के गर्भ में कोई ऐसा बालक रक्षा पा रहा है ? उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। *

आचार्यस्ततश्च नभसो उभे इमे
 उर्वो गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
 ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी
 तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

अथर्व० काण्ड ११ अ० ३। सूक्त ५, ८।

सन्वार्थ—ब्रह्मचारी के लिए (उभे इमे नभसी) इन दोनों परस्पर बंधे हुए (उर्वी गम्भीरे पृथिवीम् दिवम् च) विस्तृत तथा गहरे इन पृथिवी और सूर्य को (आचार्यः ततश्च) आचार्य ही आकृति देता है। (ब्रह्मचारी तपसा ते रक्षति) उन दोनों की ब्रह्मचारी तप से रक्षा करता है। (तस्मिन् देवाः संमनसः भवन्ति) उस ब्रह्मचारी में सब देवता एक मन होते हैं।

मन्त्र सार—स्वयं प्रकाशमान् तथा प्रकाशमानों से प्रकाशित—दो ही प्रकार के लोकों से जड़ित यह अन्तरिक्ष रूपी अथाह समुद्र है। ये दोनों प्रकार के लोक एक ही नियम में परस्पर ग्रथित हैं। जहाँ एक सौर नक्षत्र के सब अङ्ग एक-दूसरे को अपनी ओर खींचने और एक सूर्य के गिर्द एक ही नियम से चक्कर लगाने पर अपनी २ स्थिति रख सकते हैं, वहाँ असंख्यात सौर नक्षत्र एक बड़े नक्षत्र के गिर्द चक्कर लगाते हुए ही शायद आकाश की शोभा बढ़ाते रहते हैं। इनमें से हमारी पृथिवी अप्रकाशमान लोकों की प्रतिनिधि रूप से तथा हमारा सूर्य प्रकाशमान लोकों के प्रतिनिधि रूप से ही सारी भौतिक विद्या के स्रोत हैं। इन दोनों की विद्या को ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही प्रकाशित करता है। विस्तृत फैली हुई पृथिवी और

मानवी आँखों के लिए गम्भीर सूर्यलोक विद्यार्थी की दृष्टि में एक अचम्भा सा दिखाई देते हैं जब तक कि आचार्य का उपदेश उसके लिए उनके रहस्यों को खोल कर नहीं सुलझा देता। आचार्य (अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्वक ब्रह्मचारी की इच्छा करने वाला) ही सचमुच पृथिवी और सूर्य को ब्रह्मचारी के लिए आकृति देने वाला है।

आचार्य ने 'द्यावापृथिवी' का यथार्थ ज्ञान ब्रह्मचारी को दे दिया, परन्तु फिर भी क्या उस ज्ञान से ब्रह्मचारी स्थिर लाभ उठा सकता है। बिजली चमक जाती है, कुछ काल के पीछे फिर चमक जाती है। परन्तु क्या इससे मनुष्य मात्र को कुछ भी लाभ मिला। अमेरिका में 'बेन्जमिन् फ्रैंक्लिन' से पहिले कितनी बार पहाड़ों पर और जङ्गलों में बिजली चमकी, परन्तु सिवाय इसके कि वहाँ की बालबुद्धि प्रजा आश्चर्यित होकर मुँह बाय दे, उसका कुछ भी परिणाम न हुआ। परन्तु 'फ्रैंक्लिन' ने उसी आकाशव्यापिनी विद्युत् को पृथिवी पर जंजीरों में पकड़ लिया और आज बलवती विद्युत् दिमाग रखने वाले निबल से निबल मनुष्य की भी दासी बनी हुई है। आकाश से उतार कर पृथिवीतल पर बली विद्युत् को बन्दी गृह में फ्रैंक्लिन ने, किस शक्ति के आधार पर डाला। निस्सन्देह वह तप की ही उत्कृष्ट शक्ति थी। उस तप की शक्ति से आज तक प्रकृति के प्रबल चमत्कारों को क्रियावान् विद्वान् काबू करते रहे हैं। तप की शक्ति बड़ी है। आचार्य से मिली हुई शिक्षा को दृढ़ता से धारण करने के लिए तप की ही आवश्यकता है।

एक ही प्रकार का बीज विविध भूमियों में बोया जाता है। सब स्थानों में एक सी ही उपज नहीं होती। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि उन भूमियों में शक्तिभेद है।

एक ही आचार्य के पास बहुत से विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। परिणाम में वहाँ भी बहुत बड़ा भेद पड़ जाता है। जहाँ एक विद्यार्थी मूर्ख का मूर्ख रह जाता है, वहाँ दूसरा मौलिक सिद्धान्तों का आविष्कार करने वाला सिद्ध होता है। यह भेद क्यों ? यहाँ तप का अभाव वा भाव ही मुख्य कारण है। विद्यारूपी बीज सबके लिए एक सा डला है और एक ही प्रकार शिक्षा का हल चला कर उसे बुद्धिरूपी खेतों में बोया जा रहा है। परन्तु जहाँ तप नहीं वहाँ पहले तो बीज उगता ही नहीं और यदि उगता भी है तो ठीक उपज नहीं होती। आचार्य का परिश्रम तभी फलीभूत होता है जब कि ब्रह्मचारी के अन्दर तप का साधन जागृतावस्था में हो।

एक ही गुरुकुल में, एक ही आचार्य की संरक्षता में, एक ही प्रकार के उपाध्यायों से शिक्षा पाते हुए क्या कारण है कि कोई उत्तम ब्राह्मण बनता है, कोई वीर प्रजापालक क्षत्रिय बनता है, कोई वैश्य बनता है, और कोई शूद्र भी नहीं बन सकता। यहाँ भी तप ही असमानता का कारण है।

आचार्य जो ज्ञान देता है ब्रह्मचारी तप से उसकी रक्षा करता है। जिस वैदिक ज्ञान के संसार में प्रसरण का कारण भी तप ही है, उसके विस्तार की रक्षा का मूल साधन भी तप ही हो सकता है। ब्रह्मर्च्य का भीषण व्रत भी तप के चट्टान पर ही स्थिर रह सकता है। तब आचार्य के लिए उत्तम गुरुदक्षिणा यही है कि जो ज्ञान उसने शुद्ध हृदय से ब्रह्मचारी को दिया है उसकी रक्षा ब्रह्मचारी तप द्वारा करे। उसका फल क्या होगा ? उस ब्रह्मचारी में सब देवता एक-मन होंगे अर्थात् उसके जीवन में विघ्नकारी न होंगे प्रत्युन् सहायक होंगे। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति उसके वश में होंगे। आग और पानी, हवा और सूर्य, प्राण और मन, विद्युत् और

यज्ञ—सभी उसके वश में होंगे। उसके लिये लोक-लोकान्तरों के पर्दे उठ जायेंगे और वह प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु के निज स्वरूप को देखता हुआ आत्मिक जगत् में भी राज्य करने के योग्य बन जावेगा।

तप की कैसी महिमा है ? जो तप आह्लाद से भी ऊपर उठाकर परमानन्द शान्त अवस्था तक पहुँचा सकता है, जो तप दुःखों के गन्ध को भी समीप आने से रोक देता है, जो तप अपने स्वरूप को पहिचानने के योग्य बनाता है—उस तप से मुक्त होने को ही जो नराधम स्वर्ग का साधन समझते हैं, वे ब्रह्मचर्य तथा विद्यार्थी-जीवन के गौरव को समझ ही नहीं सकते। 'सुखाथिनः कुतो विद्या, विद्याथिनः कुतो सुखम्।' विद्या तपस्वी के लिए है, स्वार्थी के लिए नहीं। स्वर्ग की कामना से जो यह करते हैं वे अनुभव के बाद स्वयं तपस्वी हो जाते हैं। परमपिता संसार भर के विद्यार्थियों को तप के लिये प्रेरित करें, यह संन्यासी की हार्दिक प्रार्थना है।

: ६ :

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी,
भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते,
तयोरापिता भुवनानि विश्वा ॥

—अथर्व० काण्ड ११। सूक्त ५, मन्त्र ६।

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी प्रथमः) ब्रह्मचारी पहिले (इमां पृथिवीं भूमिं भिक्षाम् आजभार) इस विस्तृत भूमि को शिक्षा में आहरण करता है, (दिवं च) फिर द्युलोक को। और (समिधौ कृत्वा उपास्ते) उन दोनों को समिधा बना कर उपासना करता

है। (तयोः विश्वा भुवनानि अर्पिता) उन दोनों में सब लोक आश्रित हैं।

मन्त्र सार—सब दानों में ब्रह्मविद्या का दान ही श्रेष्ठ है। कूप तड़ागादि, वस्त्र भोजनादि—सब दानों में ब्रह्मदान ही उत्तम है। मनुस्मृति में कहा है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

वार्यन्नगोमहीवासरितलकांचनसर्पिषाम् ॥

जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना, घी—इन दानों से ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का दान अधिक विशेष है। आचार्य ही वेद विद्या का दान देता है। वेद की पढ़ाई में, ब्रह्मविद्या के अध्यापन में भी यदि टकापन्थ ही चला तो फल कुछ नहीं होगा। विद्या कोई भी हो उसका अध्ययन ब्रह्मविद्या द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये होना ही श्रेयस्कर है और उस ब्रह्मविद्या का सौदा नहीं हो सकता। उसका निष्कामता से दान ही हो सकता है। जो टकों के बदले पढ़ाता है वह टीचर हो, प्रोफेसर कहलाए प्रिन्सिपल भी प्रसिद्ध हो, परन्तु वह आचार्य नहीं बन सकता। आचार्य बनने के लिये पहिला स्वाभाविक गुण यह होना चाहिए कि निष्कामता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाय। धन कमाने वाला बनियाँ है, वह आचार्य नहीं हो सकता, शारीरिक दण्ड देने वाला क्षत्रिय भी आचार्य नहीं बन सकता, फिर शूद्र का तो कहना ही क्या है। आचार्य बनने के लिए 'ब्राह्मण' का ही अधिकार है। और ब्राह्मण को वेद में शरीर के मुख्य भाग से उपमा दी है। उस भाग में प्राण हैं जो सारे शरीर को अपने दान से पुष्ट रखता है। प्राण की महिमा इसीलिये बहुत अधिक की गई है। उपनिषदों से आगे बढ़कर अथर्ववेद तक में प्राण की बड़ी प्रशंसा है। यहाँ तक कहा है कि सारे ब्राह्मण का आधार प्राण ही है—

प्राणस्येदं वशो सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रजां च विधेहि न इति॥

माता जैसे सन्तान की रक्षा करती है वैसे ही प्राण शरीर के सर्व अङ्गों तथा प्रत्यङ्गों की रक्षा करता है। इसी प्रकार मनुष्य समाज रूपी पुरुष की बनावट में ब्राह्मण ही सबका आधार है। ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है। ब्राह्मण यद्यपि दूसरों की कमाई का अन्न-जल ग्रहण करके पलता है तथापि मनुस्मृति में सब कुछ (जो भी संसार में है) ब्राह्मण का ही बतलाया है "सर्वस्व ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्" और फिर कहा है:—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनुशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुङ्क्ते हीतरे जनाः ॥

ब्राह्मण भोजन करे, पहिरे वा देवे सो सब ब्राह्मण का अपना ही है। दूसरे लोग जो भोजनादि करते हैं वह केवल ब्राह्मण की कृपा है।

सारा संसार ब्राह्मण के दान से ही पलता है। उस दान-शील श्रेष्ठ ब्राह्मण आचार्य से ब्रह्मचारी पहली भिक्षा में प्रत्यक्ष, विस्तृत भूमि का ज्ञान उपलब्ध करता है। तृण से लेकर पृथिवी-पर्यन्त का ज्ञान आचार्य देता है। वह एक समिधा हुई। परन्तु एक हाथ से ताली नहीं बजती। दो के बिना पूर्ति नहीं होती। पृथिवी प्रत्यक्ष है, इन्द्रियग्राह्य है परन्तु उसके अन्दर के रहस्य बिना विशेष प्रकाश के समझ में नहीं आते। तब आचार्य ब्रह्मचारी को परोक्ष ज्ञान देता है। पृथिवी से उसको 'द्युलोक' में ले जाता है। भौतिक सूर्य से लेकर आत्मा तक को प्रकाश देने वाला 'प्रकाश स्वरूप' तक ले जाता हुआ आचार्य शिष्य के लिये भिक्षा पूरी कर देता है। इस परिशिष्ट दान को प्राप्त करके ब्रह्मचारी 'समित्पाणि' होकर गुरु के दरवार की ओर चलता है,

क्योंकि आचार्य से मिली भिक्षा भी निन्दनीय नहीं—वह भी सराहनीय है, कल्याणकारी है। परन्तु 'स पूर्वेषामपि गुरुः काले-
नानवच्छेदात्' उस गुरुओं के भी गुरु पूर्व आचार्यों के भी आचार्य
जिसके लिए भूत और भविष्यत् कोई अस्तित्व नहीं रखता—
उस परम गुरु से भिक्षा प्राप्त किये बिना ब्रह्मचारी अपने परम
उद्देश्य को प्राप्त नहीं होता। आचार्य से प्राप्त किया हुआ दान
उसे अगले दान का अधिकारी मात्र बनाता है। पृथिवी और द्यौ
के ज्ञान रूपी दो समिधाओं को श्रद्धाञ्जलि रूपी दोनों हाथों में
लेकर ब्रह्मचारी उस परमतत्त्व के समीप पहुँचता है। इन्हीं दोनों
समिधाओं पर सब लोक आश्रित हैं। वहाँ पहुँच कर ब्रह्मचारी
सब देवों, प्रकाशकों, ब्रह्माण्ड के चलाने वाली शक्तियों को एक
ही वीणा की तार बनी हुई एक ही स्वर से अलापते सुनता है।
वहाँ पहुँच कर इन्द्र से मुक्त होता है और अपने आचार्य के लिए
सच्चे धन्यवाद का भाव उसके हृदय में उत्पन्न होता है।

संसार सच्चे आचार्यों के बिना पीड़ित हो रहा है उसका
अशान्त हृदय सच्चे पथ-दर्शकों के बिना व्याकुल हो रहा है
परन्तु उधर से आशाजनक शब्द भी सुनाई देता है। शिकायत
यह है कि अच्छे विद्यार्थी नहीं मिलते। किन्तु शिकायत करने
वाले यह भूल जाते हैं कि सच्चे आचार्य दुर्लभ हो गये हैं। जिस
वेद का उपदेश ऊपर दिया गया है, उस वेद का प्रचार जिस
देश में खुला था और जिसके आचार्यों के चरणों में बैठ कर
सदाचार की शिक्षा लेने अन्य देशों के लोग आते थे, उसी देश
में जब आचार्यों का अभाव है तो और किसी स्थान से क्या आशा
हो सकती है? नवीन ट्रेनिङ्ग कॉलेज ऐसे आचार्य उत्पन्न करने
में असक्त हैं। जहाँ दिन-रात आचार्यों के वेतन बढ़ाने का प्रश्न
उठाकर बनियों का सा सौदा किया जाता है—उन शिक्षणालयों
से आशा रखना व्यर्थ है। हे परमगुरो ! तुम्हीं अपने शिक्षणालय

के अन्दर इस देव-निर्मित भूमि के विद्वानों को खींच लो, जिससे वे सांसारिक कामनाओं पर विजय प्राप्त करें और ब्रह्म विद्या का दान देने की शक्तियों की समिधा ब्रह्मचारियों के हाथों में देकर उन्हें विविध शक्तियों के एकत्र करने के लिए केन्द्र बना सकें ।

: १० :

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्,
गुहानिधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्,
केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥

अथर्व० काण्ड ११ । अ० ३ । सूक्त ५, १०॥

शब्दार्थ— (अर्वाक् अन्यः) एक समीपवर्ती (दिवः पृष्ठात् परः अन्यः) द्युलोक के उपरले भाग से परे दूसरा (ब्राह्मणस्य निधी गुहा निहितौ) ब्रह्मज्ञान के दो कोश (आचार्य के हृदयरूपी) गुफा में संगृहीत हैं । (तौ ब्रह्मचारी तपसा रक्षति) उन दोनों की ब्रह्मचारी तप से रक्षा करता है और (ब्रह्म विद्वान् तत् केवलं कृणुते, ब्रह्म को जानता हुआ उसकी केवल आराधना करता है ।

मन्त्र सार—ब्रह्मचारी किस से भिक्षा ग्रहण करता है ? इस पर लिखते हुए पीछे कहा जा चुका है कि वेद विद्या का दान ही सब दानों में श्रेष्ठ है और वह आचार्य ही दे सकता है । इसलिये ब्रह्मचारी से ही भिक्षा लेनी चाहिये । उस पहिली द्यौ और पृथिवी (स्वप्रकाशमान तथा दूसरों से प्रकाशित) लोकों की विद्या रूपी भिक्षा प्राप्त करके ही ब्रह्मचारी को सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए. क्योंकि वे सब तो परमोद्देश्य की प्राप्ति के केवल साधन मात्र हैं । आचार्य की हृदय रूपी गुफा में केवल एक ही खजाना नहीं है, उस गुफा के अन्दर एक और कोष भी है जिसका पता

ब्रह्मचारी को तब ही लग सकता है जब कि वह पहली भिक्षा को पचाने योग्य बन जावे। तप-पूर्वक गुरुकुल में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी द्वाी और पृथिवी-दोनों प्रत्यक्ष लोकों की विद्या प्राप्त कर लेता है। 'लोक दक्षिणे'-प्रत्यक्ष होने से ही तो ये सब लोक कहलाते हैं। परन्तु इन प्रत्यक्ष लोकों से परे, इनसे भी ऊँचा एक पद है जिसकी प्राप्ति ही जीवन का परमोद्देश्य है। भौतिक पृथिवी को भौतिक सूर्य प्रकाशित करता है, परन्तु हृदय मन्दिर को प्रकाशित करने का अधिकार आत्मिक सूर्य को ही है। जो कि जीवात्मा को भी मन्दिर बनाकर उसे प्रकाशित करता है और भौतिक इन्द्रियों से अगम्य है। इसी भाव की व्याख्या उपनिषद् में की है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा
शरीरम् आत्मनोऽन्तरं यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥

जो परमात्मा जीवात्मा में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता कि वह मुझमें व्यापक है, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जो उसे नियम में रखता है, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी आत्मा है उसको तू जान।

पृथिवी और द्वाी की प्रत्यक्ष विद्या आचार्य की हृदय रूपी गुफा में एक कोष है, परन्तु इन से भी परे परोक्ष दूसरा खजाना है। यदि ब्रह्मचारी देव मण्डल में शामिल होना चाहता है, अर्थात् वह यह चाहता है कि विद्याव्रत-स्नातक बनकर जब वह गुरुकुल से लौटे तो देवगण उसकी अगुआई करें, तो उसे प्रत्यक्ष से परे परोक्ष विद्या के लिए आतुर होना चाहिए—'परोक्षप्रिया हि देवाः।' जब प्रत्यक्ष विद्या के लिए तप की आवश्यकता है तो परोक्ष ब्रह्म ज्ञान के लिए उससे बढ़कर तप की आवश्यकता है। मानसिक तप बड़ा कठिन है, परन्तु उतना ही अधिक बल देने

वाला भी है। पृथिवी और द्यौ की अपरा विद्या, साधन मात्र होने से गौण है, उससे ऊपर परा विद्या मुख्य है क्योंकि वह परमोद्देश्य तक पहुँचा देती है। उस मुख्य विद्या की रक्षा ब्रह्मचारी तप से करता है।

तब वह ब्रह्म को जानता हुआ केवल उसी का हो रहता है। यही कैवल्य है। प्रसिद्ध लोकोक्ति अब तक चली आती है—
 गुरु बिना ज्ञान न पावे भोला चेला—गुरु के बिना ज्ञान नहीं और ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—और ज्ञान के बिना अविद्या के बन्धनों से छूटना नहीं होता। इसलिये गुरु की आवश्यकता है। वह हमारे अन्दर है, बाहर है, उससे सारा ब्रह्माण्ड आच्छादित है, परन्तु जब तक हृदय के अन्दर उसे देख न लें तब तक समीप होते हुए भी हम सब उससे दूर हैं। इन्हीं दर्शनों के लिये गुरु की जरूरत है। उस प्रकाश स्वरूप की झलक तो बिजली की चमक की तरह कभी न कभी मूढ़ पुरुष भी देखता है, परन्तु उस झलक के ओझल होने पर फिर से भूल जाता है। उसके दर्शन आचार्य की कृपा के बिना नहीं होते। परन्तु जब एक बार सचमुच दर्शन हो जावे और जीवात्मा 'अपने प्रभु को चोन्ह लेवे' तब वह उसी का हो रहता है। फिर आचार्य की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। प्रधान आचार्य की संरक्षता में जाकर साधारण आचार्य की क्या जरूरत ? प्राणी तब उसी का हो रहता है।

उसी का हो रहने का मतलब क्या है ? क्या प्राणी की क्रिया बन्द हो जाती है ? क्या वह कर्म छोड़ देता है ? कर्म तो किसी अवस्था में भी छूट नहीं सकते, हाँ कर्मफल को वह त्याग देता है। जिसका हो रहा है, सब कर्म उसी के अर्पण करता है। वह इसलिए कर्म नहीं करता कि उसे कर्म का फल मिलेगा। वह यह नहीं देखता कि उसके शरीर तथा उसकी इन्द्रियों को उस कर्म से क्या लाभ होगा, कर्म करने के लिए उसके पास एक

हो कसौटी है—'क्या उस कर्म से वह इससे दूर न हो जायगा ? जिसका वह हो रहा है'—निस्सन्देह जो कुछ भी उसके गुण, कर्म स्वभाव के अनुकूल है वही कर्तव्य है, जो उसके प्रतिकूल है वही अकर्तव्य है। इसीलिए तो अपने शिष्य अर्जुन को कृष्ण भगवान् ने उपदेश दिया था—

कर्मणो ह्यपि बोधव्यं, बोधव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोधव्यं, गहना कर्मणी गतिः ॥

कर्म क्या है ? विपरीत कर्म क्या है ? और कर्म न करना क्या है ? यह जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। बिना कर्म एक क्षण भी प्राणी जी नहीं सकता, और मुक्ति का आनन्द और परमात्मा की समीपता को भी बिना प्रयत्न के स्थिर नहीं रक्खा जा सकता। तब कर्म का सर्वथा त्याग तो ही नहीं सकता। फिर बचाव इसी में है कि वह उसका हो रहे जिसका स्वरूप ही पथप्रदर्शक है और जिसकी समीपता मनुष्य को 'अकर्म और विकर्म' के दुःखदाई मार्ग से अलग करके कर्तव्य कर्मों का बोध सदा कराती रहे। संसार को ऐसे आचार्यों की आवश्यकता है, जो स्वयं नित्य उसके सहवास में रहते हुए अपने शिष्यों को उसी का बना दें। इस पद के जो अधिकारी हैं उनके लिए ही ब्रह्मचारी कहलाना शोभा देता है, और जब ऐसे ब्रह्मचारियों की संख्या संसार में बढ़ती है तभी संसार का कल्याण होता है।

: ११ :

धर्वाग्न्य इतो अन्यः पृथिव्या

अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।

तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढा—

स्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥

अ०, काण्ड ११, अ० ३ सूक्त ५, ११।

शब्दार्थ—(अग्नी इमे नभसी अन्तरा समेतः) दो अग्नि, इन दोनों एक दूसरे से मिले हुआँ के अघः प्रदेश में मिलती है— (अन्यः अर्वाक्) एक समीपवर्ती है । (अन्यः इतः पृथिव्याः) और दूसरी इस पृथिवी से दूर है (तयो रश्मयः दृढाः अधिश्रयन्ते) उन दोनों की किरणें दृढ़ होकर अधिकार पूर्वक ठहरती हैं— (ब्रह्मचारी तपसा तान् आतिष्ठति) ब्रह्मचारी तप से उनके ऊपर बैठता है ।

मन्त्र सार—दो तेज हैं जो एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । एक पृथिवी की ओर जाता है और दूसरा उससे परे । एक प्रत्यक्ष प्राकृतिक जगत् पर प्रकाश डालता है और दूसरा परोक्ष आत्मिक जगत् पर । ये दोनों तेज बीच में ही एक दूसरे से मिल जाते हैं । इनको मध्य में मिलाने वाला कौन है ?—‘यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।’ जिससे इस लोक तथा परलोक के सुख की सिद्धि होती है वह धर्म है । इसी धर्म ने दोनों तेजों को एकीभूत किया है । जिससे अभ्युदय सिद्ध होता है, वही निःश्रेयस को भी प्राप्त करता है । दोनों धर्म में ही दृढ़ होते हैं । जिसने इस लोक के पदार्थों को यथावत् स्वरूप दिया, तृण से लेकर पृथिवी तक और पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्यन्त के दर्शन कराके मनुष्य को उनसे उपयोग लेने के योग्य बना दिया—

वह पहली ज्योति, ज्ञान है। परन्तु अकेले इस ज्ञान से काम न चलेगा, यह ज्ञान तो मनुष्य को कर्म का मार्ग दिखाने वाला है। उपनिषद् ने कहा है कि मनुष्य क्रियाशील है। जैसे कर्म वह इस जन्म में करता है वैसे ही स्थिति उसे आगामी जन्म में मिलती है। ज्ञान की आवश्यकता कर्म के लिए है और ज्यों ज्यों मनुष्य कर्मशील होता जाता है त्यों २ उसका ज्ञान निश्चयात्मक होता जाता है। यही अवस्था है जब ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ के विषय में रहस्य की बातें जानने लगता है अर्थात् उसके समीप पहुँचता है।

वही ज्ञान मंज कर विज्ञान की शक्ति में दूसरी ओर चलता है। उसके आगे परलोक है, वहाँ ज्ञान नहीं पहुँच सकता! उस उच्च पद की ओर दृष्टि उठाकर ज्ञान की पगड़ी गिर जाती है। तब मंजा हुआ ज्ञान अति सूक्ष्म होकर आगे चलता है, आत्मिक दर्शन उसी के द्वारा होते हैं। आत्मदर्शन होते ही सांसारिक पदार्थों पर भी नया प्रकाश पड़ता है। जो प्राकृतिक वस्तुएँ केवल अपना बाह्य स्वरूप ही दृष्ट को दिखलाती थीं, वे अपने अन्तरीय रहस्य भी उसके सामने खोल कर रख देती हैं उसी समय दोनों ज्योतियों—ज्ञान और विज्ञान—का मेल होता है, उस मेल का नाम ही घर्म है, और उसीसे जो सिद्धि होती है इस लोक और परलोक दोनों को अपने अन्दर समेट लेती है। उन दोनों का प्रकाश स्थिरता से दृढ़ हो जाता है। इस प्रकाश में बुद्धि डावाँडोल नहीं होती। परन्तु उस प्रकाश को एकरस दृढ़ रखना तप का काम है। ज्ञान और विज्ञान की किरणों का चक्र साधारण मनुष्य के हृदय पर भी अंकित हो जाता है। परन्तु वहाँ उसकी स्थिति बिना तप के नहीं हो सकती। इस तप को धारण करके, ज्ञान और विज्ञान को उसके अन्दर स्थित

करने की शक्ति ब्रह्मचारी में ही होती है। उन दोनों से ऊपर स्थित होना ब्रह्मचर्य व्रत और साधन की पराकाष्ठा है।

ज्ञान और विज्ञान दोनों की स्थिति का स्थान ब्रह्मचारी का विशाल और दृढ़ हृदय है। वह ज्ञान सार्थक नहीं, उलटा व्यक्तियों और जातियों को डुबाने वाला है, जिसका आधार ब्रह्मचर्य नहीं है। इसी वेद मन्त्र की आज्ञा को लक्ष्य में रखकर आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक को ब्रह्मचारी होना आवश्यक बतलाया गया है। मानसिक शिक्षा चाहे कितनी भी ऊँची हो संसार का कल्याण करने वाली नहीं होती यदि उसका फैलाने वाला ब्रह्मचारी नहीं। जिस देश और जिस समय में अब्रह्मचारी शिक्षक प्रधान हुए उस देश और उस समय में शिक्षा मनुष्यों के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। यूनान और रोम जिस समय रसातल को पहुँचे उस समय सांसारिक विद्या की उनमें कमी न थी। स्पार्टा में ३०० योद्धा सहस्रों का मुँह मोड़ देने की शक्ति उसी समय में रखते थे जब कि उस नगर में बालक और बालिकाएँ ब्रह्मचर्य का कठिन व्रत धारण किया करती थीं। राम के समय अयोध्या का जो वर्णन है, वह तभी सम्भव था जब कि राम, लक्ष्मण से राजपुत्र वसिष्ठ के आश्रम से ब्रह्मचर्य के नियम पालन की शिक्षा लेकर निकलते थे। दशरथ के समय की अयोध्या का वर्णन करते समय आदि कवि वाल्मीकि लिखते हैं—

तस्मिन् पुरे वरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः ।

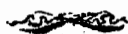
नरास्तुष्टाः धनं स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ॥

कामी वा न कदर्यो वा, नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां, नाविद्वाप्त च नास्तिकः ॥

“इस श्रेष्ठ पुरी में सब लोग हृष्टपुष्ट, बहुश्रुत, रोगरहित, सत्यवादी और अपनी ही कमाई से सन्तुष्ट थे। कामी, कञ्जूस,

खुशामदी, अविद्वान् वा नास्तिक कोई भी ऐसा पुरुष अयोध्या में दिखाई न देता था । रामायण के इस वर्णन को भले ही कोई पुरुष अत्युक्ति कहे, परन्तु जो चित्र राम, सीता और लक्ष्मण के ब्रह्मचर्य व्रत का कवि ने खींचा है उसका परिणाम इसी प्रकार की जनता हो सकती है । धन्य है वह देश जहाँ ज्ञान और विज्ञान के ऊपर पग धर कर अपने बल से तपस्वी ब्रह्मचारी उनको संसार के कल्याण के लिए दृढ़ रख सकता है । *



: १२ :

अभिक्रन्दयन् स्तनयन्नरुणः,
शितिङ्गो बृहच्छेपोनुभूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां ।
तेन जीवन्ति प्रदिशब्दतलः ॥

—अ० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १२।

शब्दार्थ— अभिक्रन्दयन्, स्तनयन्, शितिङ्गः, अरुणः) चारों ओर शब्द करता गरजता हुआ श्वेत और रक्त वर्ण धारण किए (भूमौ बृहत् शेषः अनु जभार) वह, बड़ी उपजाऊ शक्ति भूमि में निरन्तर लाया है । (ब्रह्मचारी पृथिव्याम् सानौ रेतः सिञ्चति) ब्रह्मचारी पृथिवी के उन्नत स्थान में बीज सिंचता है (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसी से चारों ओर प्रधान दिशाएं जीवन यापन करती हैं ।

मन्त्र सार—पृथिवी के उन्नत स्थानों में ही उपजाऊ शक्ति है । वह उपजाऊ शक्ति उनमें कैसे आई ? प्रलय समय में

सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था में स्थिति रहती है। इसी का नाम ही प्रधान वा प्रकृति रहती है। प्रलय की समाप्ति पर जब सृष्टि का समय आता है तो रज से ही उसमें हल-चल उत्पन्न होती है। 'रज' क्रिया का उत्पत्ति स्थान है, अचल प्रकृति को वही चलायमान करता है। 'सत्व' ज्ञान का उत्पत्ति स्थान है और वह उस क्रिया के कार्यों को समझने की शक्ति देता है। ज्ञान और क्रिया की उत्पत्ति ही सृष्टि की रचना के कारण हैं और इन्हीं के तिरोभाव पर सृष्टि का अन्त होकर प्रलय होता है। ज्ञान ब्रह्म धर्म है और क्रिया क्षात्र धर्म है। इनकी उत्पत्ति ही जगत् बनने का साधन है। इनका उद्गम परमेश्वर से है और अन्त भी उसी में होते हैं—

“यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदने ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥”

श्वेत और रक्त वर्ण धारण किए अर्थात् ब्राह्म और क्षात्र (ज्ञान और क्रिया) का प्रसार करके नियन्ता का नियम ही “चारों ओर शब्द करता और गरजता हुआ भूमि के अन्दर उपजाऊ शक्ति” लाता है, अर्थात् उसको प्रकाशित करता है। परमेश्वर के अनादि नियम द्वारा ही जब २ तीनों गुणों की साम्यावस्था हिल कर सृष्टि रूप में आती है तब ही महत्त्व से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से निकल कर पृथिवी प्रकाशित होती है। उसके अन्दर उपजाऊ शक्ति पूर्ववत् ही रहती है, परन्तु भूमि के अन्दर उपजाऊ शक्ति रहते हुए भी जब तक उसको ठीक करके उत्तम बीज उसके अन्दर नहीं मल जाता तब तक उसमें से अन्न, औषधियाँ आदि उत्पन्न नहीं होते और जब अन्नादि उत्पन्न नहीं होते तो न रेत बन सकता है, न वीर्य बन सकता है और न ही मनुष्य सृष्टि बढ़ाकर आगे के लिए सृष्टि

कर्म को जारी रख सकता है। वह बीज जिसने पृथ्वी में गलकर मनुष्य रूपी रत्न उत्पन्न करने के लिए वीर्य की बुनियाद डाली, अर्थात् उत्तम अन्न आदि औषधियों को पैदा किया, पहले पहल वह बीज पृथिवी में कैसे आया ? उस बीज को पृथिवी में स्थापना करने वाला वह अनादि, ब्रह्मचारी है जो सारी सृष्टि में व्यापक होते हुए भी आप इससे प्रभावित नहीं होता, जो सारी सृष्टि को चलायमान करता हुआ आप अचल है, जो ब्रह्माण्ड के अन्दर व्यापक होता हुआ भी उस ब्रह्माण्ड को बाहर से घेरे हुए है, जो रोम २ में रमते हुए भी स्थूल और सूक्ष्म दोनों इन्द्रियों के ज्ञान से परे है।

‘तदेजति कर्त्तव्यं तद्दूरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥’

यजु० ४० । मन्त्र ५॥

वह स्वयं अनादि किन्तु इस सृष्टि का आदि ब्रह्मचारी शिक्षा देता है कि जिस भूमि में उपजाऊ शक्ति है उसके अन्दर फल लाने वाला बीज स्थापना करने की शक्ति ब्रह्मचारी ही में है। उत्तम से उत्तम उपजाऊ भूमि के अन्दर वही किसान ठीक बीज बो सकता है और उससे उचित फल भी प्राप्त कर सकता है जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में हों। जो स्वार्थी, भोगी प्रत्येक समय प्रलोभनों में फंसा रहता है, प्रथम तो उसमें इतना सन्तोष नहीं कि वह बोन के लिए बीज बचा सके और फिर यदि बीज को खराब करके बो भी देवे तो उसमें इतना साहस नहीं कि अन्तिम फल आने तक प्रतीक्षा करे, वह कच्चे फल ही तोड़ने लग जाता है और न तब अपने आपको सन्तुष्ट कर सकता है और न ही संसार को कुछ लाभ पहुंचाता है। ब्रह्मचारी ही में इतना बल है कि वह कर्म करता हुआ फल भोग की इच्छा को त्याग दे। ब्रह्मचारी ने चारों आदि दिशाओं में अन्न, वनस्पति, औषधि

उत्पन्न कर के जीवात्माओं को सीधा मार्ग दिखला दिया है। यदि कोई मनुष्य जीवित रहना चाहता है, तो तमो रह सकता है जब कि सारे संसार के जीवन स्थिर रखने में भाग ले। यह शक्ति ब्रह्मचारी में ही आ सकती है। इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सायणाचार्य को भी मानना पड़ा है कि ब्रह्मचारी ही राष्ट्र में सुकाल और वृष्टि का साधन है। वह बतलाता है—

**‘यस्मिन् राष्ट्रे ब्रह्मचारी निवसति तत्र
कालवृष्टिर्भवतीति तात्पर्यार्थं ।’**

वेद के टीकाकारों ने ब्रह्मचारी शब्द से मेघ का ग्रहण किया है। यह अर्थ अयुक्त नहीं है क्योंकि जिस मेघ की शक्तियाँ बिखरी हुई नहीं हैं, जिस मेघ ने एक प्रकार से संयम द्वारा सारे जल को एकत्रित कर लिया है और साथ ही जो सम भाव से वर्षा करता है वही भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाता है। परन्तु यहां ब्रह्मचारी से मतलब वह खेती करने वाला पुरुष है जिसके पुरुषार्थ पर ही मनुष्यों की जीवन यात्रा सम्भव है। जिस राष्ट्र में ब्रह्मचारी कृषक हैं सचमुच उस राष्ट्र में अकाल वृष्टि कभी नहीं होती और इसलिए उसकी सारी पूजा सुखी रहती है, जिस देश के कृषिकारों के अन्दर स्वार्थ-बुद्धि नहीं आती और वे कर्तव्य परायणता के नियम पर ही खेती करते और अधिक भूमि की उपज प्राप्त करके जनता में फैलाते हैं, उस राष्ट्र में कोई अन्य शक्ति भी उपद्रव नहीं कर सकती, क्योंकि भूमिपति बनने का अधिकार उन्हीं को है जो भूमि से रत्न निकालने का परिश्रम करें। इसलिए यदि भूमिपति ब्रह्मचारी हों तो राष्ट्र की रक्षा में क्या सन्देह है?

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्,
 ब्रह्मचार्याऽप्सु समिधमादधाति ।
 तासामर्चीषि पृथगभ्रे चरन्ति,
 तासामाज्यं पुरुषो वर्षं आपः ॥

अथर्व० काण्ड ११। अ० ३ सूक्त ५-१३।

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी अग्नी, सूर्ये, चन्द्रमसि, मातरिश्वन्, अप्सु, समिधम् आदधाति) ब्रह्मचारी अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में, आकाशगामी पवन में, जल धाराओं में समिधा को सब प्रकार से डालता है। (तासाम् अर्चीषि पृथक् अभ्रे चरन्ति) उनकी किरणें जुदी २ मेघ मण्डल में चलती हैं और (तासाम् आज्यम् पुरुषः वर्षं आपः) उनसे श्री, पुरुष, वृष्टि और सब जलाशय हैं।

मन्त्र सार—ब्रह्मचारी पहिले अग्नि में समिधा डालता है। 'अग्नेर्वा ऋग्वेदोऽजायत' अग्नि से ऋग्वेद हुआ। ऋच् स्तुती-ऋचा इसलिये कहते हैं कि उस वेद के मन्त्रों में तृण से लेकर पृथिवी पर्यन्त तथा पृथिवी से लेकर परमात्मा तक का साधारण ज्ञान दिया गया है। उस साधारण ज्ञानरूपी अग्नि को पहिली समिधा से वह प्रदीप्त करता है। तब क्रमशः वह यजुर्वेद से कर्मकाण्ड द्वारा प्रथम प्राप्त किए साधारण ज्ञान को कर्म में बदल कर, जाने हुए द्रव्यों के समीप होता है। अर्थात् उनकी उपासना करता है, जिससे उसे (विज्ञान) विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'सूर्यात् सामवेदः' दूसरी समिधा से इस प्रकार ब्रह्मचारी विज्ञान रूपी सूर्य को प्रदीप्त करता है। तब तीसरी समिधा उसके अन्दर त्याग का नियम का भाव उत्पन्न करने वाली शान्ति रूपी है, जो वह चन्द्र में छोड़ता है। उससे प्रभावित

होकर वह चन्द्रमा का गुण धारण करता है। तब चौथो दया-रूपी समिधा की आहुति आकाशगामी पवन में देते ही वह ऊपर उठता है और वहाँ से पाँचवी समिधा द्वारा जल धाराओं (मङ्गल कामनाओं) की शीतल वृष्टि करके संसार को तृप्त करता है। यह अलंकार सीधा और स्पष्ट है।

ब्रह्मचारी की डाली हुई समिधा की आहुतियों से हिलाई हुई एक शक्ति की किरणें अपनी-अपनी परिधि के अन्दर बलवती होकर ब्रह्मचारी के अन्दर इकट्ठी हो जाती हैं। जिस प्रकार सूर्य के उठाए हुए, विविध प्रकार के जलों के परमाणु सूर्य मण्डल में ही इकट्ठे होकर पृथिवी पर शीतल जल धारा छोड़ उसे तृप्त करते और उससे उत्तम अन्न औषधादि उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी की प्रदीप्त की हुई सब किरणें उसी में इकट्ठी होकर संसार में आनन्द की लहरें चला देती हैं।

उस का प्रथम फल यह होता है कि पुष्टिकारक पदार्थों की कमी नहीं रहती। इस सचाई को इस समय भारतवर्ष में भली प्रकार अनुभव किया जा रहा है। पुष्टिकारक पदार्थ क्या हैं? घी आदि जिनकी उत्पत्ति दूध से होती है। परन्तु वह दूध शुद्ध अवस्था में अधिक परिणाम में उसी देश में उत्पन्न हो सकता है जहाँ ब्रह्मचारी निवास करते हों। भारतवर्ष में दूध की नदियाँ बहती थीं, जब यहाँ जीव हिंसा का अभाव था। फिर जब शिकारी राजपुरुषों (राजपूतों) तक ही मांस भक्षण सीमित रहा तब तक भी लाभदायक पशुओं को हानि न हुई और दूध, घी से प्रजा पुष्ट होती रही। परन्तु ज्यों ही मांसहारी, भोर्म भोर्म विदेशियों के चरण यहाँ आए और इन्होंने भारत प्रजा के शरीरों को ही नहीं वरन् उनकी बुद्धियों को भी दास बनाना शुरू किया, तबसे ही क्रमशः यहाँ से दूध, घी का हास होना आरम्भ हो गया, यहाँ तक कि आज बच्चों को भी दूध नहीं

मिलता । यहाँ तक ही नहीं, प्रत्युत् भोगप्रधान जीवन बन जाने से माताओं ने अपने विषय भोग के गहरे प्रमोद में फँसकर अपनी सन्तान को अपने स्तनों के अमृत रूपी दुग्ध से भी वंचित कर दिया । जब आत्मा को पुष्ट करने वाला सात्विक भोजन नहीं रहा, तो फिर उत्तम सन्तान की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है ? भारत प्रजा की सन्तान पर एक दृष्टि डालने से ही पता लग जाता है कि ब्रह्मचर्य के अभाव ने उसकी क्या दुःशा कर दी है । बालक दूध के लिए तड़प रहे हैं । और माता उनके दुःख से दुखी हो रही है, परन्तु सहस्रों गायें नित्य नरपिशाचों की उदर पूर्ति के लिए कट रही हैं । यह पिशाच-लीला इसलिए देखने में आती है क्योंकि कामचेष्टा ने संसार को अन्धा कर दिया है ।

फिर जब सृष्टि पुरुषहीन हो रही हो, जब 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' की उक्ति चरितार्थ हो रही हो, तो वृष्टि कहाँ से आवे और वर्षा के बिना जलाशय कहाँ से भरें ? और जब जलाशय सर्वथा सूख चुके हों तो संसार के अन्दर स्नेह और प्रेम का जल हृदय रूपी वृक्षों को कैसे सींच सकेगा । जिस पुष्टिकारक वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है जब उसका स्रोत ही ब्रह्मचर्य है तो फिर ब्रह्मचर्य के बिना यदि आज कल की सम्यता विचारशील पुरुषों की दृष्टि में निर्जीव दिखाई दे तो क्या आश्चर्य है ? इस अंश में आज संसार की दशा कैसी शोचनीय है ! जहाँ एक ओर अनावृष्टि सताती है तो दूसरी ओर वर्षा के आरम्भ होने पर अतिवृष्टि का भय रहता है । मनुष्य के मनुष्यरूप धारण किये हुए होने पर भी पशुओं से भी नीचतर व्यवहार देखने में आते हैं । सम्यता के सब अङ्गों के अन्दर से पीप और लहू बह रहा है, परन्तु उसके ऊपर बनावटी प्लास्टर करके उसको छिपाया जा रहा है । जहाँ घर के अन्दर हाहाकार मच रहा है, वहाँ चिकनी चुपड़ी सूरतें दिखला कर संसार को भ्रम

में डाला जा रहा है। धर्म और ब्रह्मचर्य के बिना संसार की वही दशा हो रही है। जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के बिना सकल-समृद्धि-सम्पन्न अयोध्या की हो रही थी। इसी अवस्था को देखकर कवि गोसाईं तुलसी दास की उक्ति को इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है—

जिमि भानु बिन दिन, प्राण बिन तन,
चन्द्र बिनु जिमि यामिनी ।
तिमि ब्रह्मवर्य प्रकास, गुरुकुलवास बिनु,
सब सभ्यता है भयावनी ॥

: १४ :

आचार्यो मृत्येर्वरुणः सोम औषधयः पयः ।
जीमूता आसत्सत्वानस्तेरिदं स्वराभृतम् ॥
अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १४ ।

शब्दार्थ— (आचार्यः मृत्युः, वरुणः, सोमः, औषधयः, पयः) आचार्य मृत्यु रूप होकर संसार की असारता का उपदेश देने वाला जल रूप होकर पापों से शुद्ध करने वाला, चन्द्रमा रूप होकर हृदय के लिये आह्लादकारक, औषध रूप होकर शरीर को पुष्ट करने वाला है। (जीमूताः सत्वानः आसन्) जीवन के नियमों का पुञ्ज उसके सहनशील अनुचर हैं, (तैः इदम् स्वः अभृतम्) उन्हीं के द्वारा यह मोक्षमुख लाया गया है।

मन्त्र सार—आचार्य मृत्यु रूप होकर ब्रह्मचारी को पहिला उपदेश देता है। कठोपनिषद् में यम (मृत्यु) और नचिकेता के सम्वाद द्वारा जिज्ञासु को पराविद्या का उपदेश बड़ी उत्तम विधि से दिया है। सच पूछा जाए तो कठोपनिषद् को 'आचार्य मृत्युः'

इतने वाक्य की ही व्याख्या कह सकते हैं। इस रहस्य को साय-
णाचार्य तक ने अनुभव किया है। तभी तो उन्होंने अपने भाष्य में
क्रिया है—'यो मृत्युर्यमः स नचिकेतसे ब्रह्मविद्यामुपदिश्य
आचार्यः सम्पन्नः ।'

पहिला उपदेश आचार्य का ब्रह्मचारी के प्रति वह होता
है जिससे शिष्य निर्भय हो जाय। 'अभिनवेश' बड़ा भारी क्लेश
है। मौत का डर ही मनुष्य को तप और कर्तव्य परायणता से
रोकता है। उस डर को आचार्य पहिले दूर करता है। मन, वाणी
और कर्म से जन्म को प्रकृति से आत्मा का योग और मृत्यु को
उनका परस्पर त्रियोग दिखलाकर पहिले, शिष्य को निर्भय
करता है। बुद्धदेव के जीवन में 'मार' की और ईसामसीह के
जीवन में 'शैतान के बहकाने' की कहानी इसी कठोक्त रूपक का
विस्तार है।

आचार्य जीवन और मृत्यु के रहस्यों को खोल कर शिष्यों के
सामने रख देता है। जो स्वयं मौत के डर से काँपता है वह इस
रहस्य की घुण्डी कैसे खोल सकेगा? इसी प्रथम वयस को लक्ष्य
में रखकर कवि ने कहा है—'दशवर्षाणि ताडयेत् ।' पहली ताड़ना
से शिष्य के अन्दर असार वस्तुओं के प्रति पूरा वैराग्य उत्पन्न
करके, और अभ्यास से पुष्ट कराके आचार्य जल रूप होकर उसके
पापों को धो डालता है। उसी बाह्य मैल को धोने के लिए महा-
मुनि पातञ्जलि ने तप, स्वाध्याय और परमात्मा पर पूर्ण
विश्वास को क्रियायोग रूपी मुख्य साधन बतलाया है—

१ तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

योग सूत्र २।१॥

जब स्थूल पाप धुल जाएं, तब जिज्ञासु ब्रह्मचारी को
सूक्ष्म मानसिक विकारों का ज्ञान होता है और उसके अन्दर
अनुताप की लहर चलती है, हृदय व्याकुल हो जाता है। उस

समय सच्चा आचार्य चन्द्रमा रूप होकर ब्रह्मचारी की उदासीनता को आशा में बदल देता है। तब शिष्य के अन्दर आह्लाद भर जाता है। उस आह्लाद की अवस्था में शरीर की सुध नहीं रहती, अति की उसमें भी सम्भावना है। उस विकट दशा को टालने के लिए आचार्य औषध रूप होकर ब्रह्मचारी की वृद्धि में सहायक होता है। भोजन छान, रहन सहन की विधि बतलाकर आचार्य ब्रह्मचारी के शरीर को भी वज्र के तुल्य कर देता है। इसी वेद में अन्यत्र आया है कि जब शिष्य गुरु के समीप समित्पाणि होकर जावे तो पहली भिक्षा यह मांगे—'मेरा शरीर चट्टान की तरह बढ़ हो जावे।' इसके लिए ऊपर कहा है कि दूध रूप होकर आचार्य अपने शिष्य ब्रह्मचारी के शरीर को पुष्ट करता है। यह सब कुछ आचार्य क्यों कर सकता है? इसलिये कि जीवन के नियमों को उसने सिद्ध कर छोड़ा है जिस कलाघर के अन्दर से, ठीक क्रिया करके वह ब्रह्मचारी को सुडौल शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा का स्वामी बनाकर निकालना चाहता है उसमें स्वयं भी गुजर कर आया है। इसलिये तो संसार के बुद्धिमान् समझने लग गए हैं कि राजा के अयोग्य होने पर इतनी हानि की सम्भावना नहीं है जितनी आचार्य की अयोग्यता राष्ट्र को हानि पहुँचा सकती है। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह लोकोक्ति तो प्रसिद्ध है ही। परन्तु राजा का इतना प्रभाव प्रजा पर नहीं पड़ता जितना आचार्य का शिष्य पर पड़ता है।

इसलिए जहाँ आचार्य और ब्रह्मचारी आदर्श हों, वहाँ ही मोक्ष सुख की प्राप्ति हो सकती है। वह आनन्द जिसके मध्य में दुःख काल कभी न आवे, तभी फैल सकता है—जब कि उत्तम आचार्य शिक्षा देने के लिये मौजूद हों।

संसार में इस समय घोर अशान्ति क्यों फैल रही है? इसलिए कि आचार्यों का अभाव है। टीचर हैं, प्रोफेसर हैं, प्रिन्सि-

पल हैं, उपाध्याय हैं उस्ताद मौलवी हैं—परन्तु शिक्षा शिष्यों को उल्टा अविद्या के गढ़े में धकेल रही है। जो स्वयं पापों के गन्दे कीचड़ में फंसे हुए हैं वे सुकुमार शिष्यों को शुद्धि का पाठ कैसे पढ़ायेंगे ? जो स्वार्थान्ध हैं वे दूसरों को निःस्वार्थ तपस्वी कैसे बनायेंगे ? फारसी के शायर ने आजकल के शिक्षकों के ही विषय में कहा है 'ऊल्ले इतन् गुमस्त किरा रह बरी कुंद', वह आप गुमराह है। माम भूला है तो दूसरों का पथ दर्शक कैसे बनेगा ? 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः, यदि अन्धा अन्धे को लेकर मार्ग पर चले तो अपने साथ उसको भी गढ़े में गिरायेगा।

ईश्वरीय ज्ञान फिर सावधान कर रहा है। क्या संसार के शिक्षक-बृन्द इस पवित्र घोषणा को सुनेंगे ? परमेश्वर ऐसा करे कि जो लोग सुकुमारों के भविष्य को अपने हाथ में लेने का साहस करते हैं, वे अपनी पवित्र उत्तरदायिता को समझें।

: १५ :

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो
भूत्वा वरुणो यद्यदेच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्,
स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥

अथर्व, काण्ड ११ अ० ३ सूक्त ५, १५॥

शब्दार्थ—(वरुणः आचार्यो भूत्वा) श्रेष्ठ सदाचारी आप्त पुरुष आचार्य होकर (अमा घृतं केवलं कृणुते) शिष्य को इस घर में ही क्षरणशील जल के समान शुद्ध कर देता है। (मित्रः ब्रह्मचारी यत् यत् प्रजापतौ ऐच्छत्) स्नेही ब्रह्मचारी जिस-जिस वस्तु की प्रजापालक आचार्य के लिए अभिलाषा करता है (तत्

आत्मनः अधिस्वान् प्रायच्छत्) उन पदार्थों व गुणों को वह ब्रह्मचारी अपने आत्मा में से आचम्य के लिये भेंट करता है ।

मन्त्र सार—आचार्य बनने के लिए आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाला हो । स्वयं पवित्र होकर दूसरे अपवित्रों को जो पवित्र कर सके वही 'वरुण देव' अर्थात् ब्रह्मचारी विद्वान है । ऐसा पुरुष जब वेद के पूर्ण आदेशानुसार, बालकों का उपनयन करता और उन्हें ब्रह्मचारी बनाकर साक्षित्री माता के गर्भ में स्थित करता है तब पितारूप होकर रक्षा करते हुए उसे इसी घर में (अर्थात् आचार्य वा गुरु के कुल में) पवित्र कर देता है । आचार्य चुनते समय प्राचीनकाल में जिस मर्यादा का अवलम्बन किया जाता था उसकी ओर आज ध्यान भी नहीं दिया जाता । किसी कालिज का प्रिन्सिपल नियत करते हुए यह नहीं देखा जाता कि वह दुराचारी तो नहीं है ? फिर यह कौन देखे कि वह अपने शिष्यों के हृदय और आत्मा को शुद्ध करने की शक्ति भी रखता है वा नहीं । आजकल के आचार्य मांस खाने और मद्य पीने वाले हो सकते हैं, ईर्ष्या द्वेष में कंसकर विद्यार्थियों के साथ अनृत व्यवहार करने वाले हो सकते हैं, यहाँ तक कि व्यभिचारी होने पर भी उन्हें कोई शक्ति प्रिन्सिपल के पद से नहीं गिरा सकती । जब तक वे विद्यार्थियों को अपना विषय पढ़ाने जाँय (चाहे किसी प्रकार से हो) और जब तक साधारण प्रबन्ध कालिज का कर सकें तब तक उनकी ओर आँख उठाकर भी कोई देख नहीं सकता । परंतु सार्वभौम सचाई यह है कि जो स्वयं अदर से अनुद्ध है वह दूसरों को शुद्ध कभी नहीं कर सकता ।

जब वेद वर्णित आचार्य ब्रह्मचारी के शरीर, अन्तःकरण और आत्मा को शुद्ध कर देता है तब उससे गुरुदक्षिणा की आशा

वांघता है। इसी के विषय में उपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य है जिससे आचार्य स्नातकों को दीक्षा देता है—‘आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सोः’ आचार्य के लिये प्रिय धन देकर विवाह पूर्वक सन्तानोत्पत्ति कर। आचार्य का प्रिय धन क्या है ? ब्रह्मचारी से वह यही याचना करता है कि जिस प्रकार मैंने तुझे कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धता से विद्यादान देकर पवित्र किया है इसी प्रकार तू जहाँ दूसरों को इसी विद्या का दान देकर पवित्र कर, वहाँ प्राप्त की हुई शिक्षा को भी अपने आचरण में ला। दीक्षान्त संस्कार के समय इसी प्रकार की प्रतिज्ञाएँ ब्रह्मचारी करता है। इनके अतिरिक्त आर्थिक सेवा भी वह आचार्य की करता है।

आचार्य ब्राह्मण ही हो सकता है। यह ब्राह्मण मनुष्य समाज में ऐसा ही है जैसा शरीर में शिरोभाग शिखा से ग्रीवा तक। जैसे प्राकृतिक भोजन सारे शरीर में पहुँचा कर मुख अपने लिए कुछ नहीं रखता, इसी प्रकार आचार्य को भी अपने लिए किसी भी आर्थिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जैसे अपने लिए कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए मुख सारे शरीर के लिए अन्न फलादि की याचना करता है, इसी प्रकार आचार्य को अपनी आध्यात्मिक सन्तान के पालन पोषणार्थ प्राकृतिक सम्पत्ति की आवश्यकता है। पुरानी कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आचार्यों ने स्नातकों से गुरुदक्षिणा में करोड़ों रुपये मांगे हैं और स्नातकों ने निर्धन होते हुए भी घोर तप द्वारा भिक्षा करके गुरु की आज्ञा का पालन किया है। आचार्य को इस धन की क्यों आवश्यकता है ? इसलिए कि सारे कुल के पालन पोषण तथा पठन पाठन का बोझ उसी पर है। पूर्व काल में आचार्य संज्ञा ही उसकी थी जो दस सहस्र शिष्यों का पालन कर सके।

तब अन्तेवासी ब्रह्मचारी का विद्याव्रत स्नातक होने के पीछे कर्तव्य है कि वह आचार्य को उसका प्रिय धन (प्राकृतिक वा मानसिक) अर्पण करने के पश्चात् सन्तानोत्पत्ति के लिये विवाह करे। सांसारिक पिता का जो पितृ ऋण है उससे मुक्त होने का यत्न करने से पहिले शरीर, मन और आत्मा तीनों की रक्षा करने वाले आत्मिक पिता-आचार्य के ऋषि ऋण से मुक्त हो लेना आवश्यक है। जिस कुल से अपने शरीर, मन और आत्मा को शुद्ध किया उस कुल का जीवन बढ़ाने में जितनी भी सहायता हो सके करना कुल-पुत्र का धर्म है। यदि वेद मर्यादा के अनुसार आचार्य ब्रह्मचारियों की सर्व शुद्धि में लगे रहें और ब्रह्मचारी शुद्ध भाव से जहाँ मन, वचन और कर्म में कभी अशुद्धि आने न दें वहाँ अपने गुरुकुल का गौरव स्थिर रहने में सहायक हों और साथ ही उस कुल के कोष की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझें तो यह देव निर्मित भूमि फिर से आदर्श बन कर संसार की जातियों का उद्धार करने में सफल हो सकेगी।

: १६ :

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।

प्रजापतिविराजति विराडिन्द्रो भवद् वशी ॥

अथर्व० काण्ड ११: अ० ३. सूक्त ५, १६।

शब्दार्थ—(आचार्यो ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी आचार्य होता है, (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) ब्रह्मचारी ही प्रजापालक राजा होता है। (प्रजापतिः विराजति) राजा प्रजापति होकर विविध प्रकार से राज्य करता है, राष्ट्र से ऊपर उठता है। (विराट् इन्द्रो भवद् वशी) ऊँचा उठकर प्रजा को वश में कर मालिक होता है।

मन्त्र सार—आचार्य पद के योग्य ब्रह्मचारी होता है । ऋषि दयानन्द इसी आशय को लेकर संस्कारविधि में लिखते हैं 'आचार्य उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग (अङ्गों-शिक्षा कल्पादि और उपाङ्गों-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्तसहित) वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा, छल कपट रहित, अति प्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में तत्पर हो, जो पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे ।' आचार्य के पास शिष्य किस उद्देश्य से जाता है ? इसका वर्णन यजुर्वेद के २९ वें अध्याय के मन्त्र ४६ में किया गया है—

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः ।

शोमो अंधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥

हे आचार्य ! अपने तेज से हमारे (शारीरिक तथा मानसिक) रोगों को सब ओर से दूर कीजिए, हमारा शरीर चट्टान की न्याईं दृढ़ हो, अमृत और मृत्यु का हमें उपदेश कीजिए और हमारे लिये सुख का विधान कीजिए (अर्थात् मौत से छुड़ा कर अमृतपान कराइए) । जिसमें ऊपर कहे गुण निवास करते हों जो सहज में ही उपरोक्त गुणों को धारण करने वाला हो वही पुरुष आचार्य होने के योग्य है । जिसका अपना शरीर वज्र के तुल्य नहीं वह दूसरों का शरीर दृढ़ कैसे कर सकेगा । जिसको स्वयं जिन्दगी और मौत का ज्ञान नहीं वह दूसरों को अमृत कैसे पिला सकेगा ।

इसीलिए यहाँ अन्तिम बल इस बात पर दिया है कि अब्रह्मचारी पुरुष वा स्त्री कभी भी आचार्य के पवित्र आसन पर न बैठायें । मक्कारी से जनता को धोखा देकर यदि कोई अब्रह्मचारी आचार्य बन भी जाय तब भी उसके प्रयत्न का परि-

णाम उसके वास्तविक रूप को प्रकाशित कर देता है। वृक्ष अपने फल से पहिचाना जाता है। जिस गुरु के चले तप के जीवन में न ठहर सकें और स्वार्थ तथा भोग से न बच सकें उसको ब्रह्मचारी न समझना चाहिए।

जहाँ आचार्य पूर्ण ब्रह्मचारी हो वहाँ प्रजा का रक्षक राजा भी अवश्य ब्रह्मचारी हो होगा। एक सत्तात्मक राज्य वा प्रजातन्त्र राज्य दोनों में शासक ब्रह्मचारी ही होने चाहिए। राजा वा प्रधान पुरुष से लेकर चपरासी और चौकीदार तक सब प्रजा की रक्षा के लिये नियुक्त होते हैं। यदि प्रजा के 'जान और माल की हिफाजत' वे नहीं करते तो उन्हें प्रजापति नहीं कह सकते। परन्तु क्यों ब्रह्मचारी ही प्रजापति बनने के योग्य हैं? इसलिए कि उसे राष्ट्र से ऊँचा उठना पड़ता है। रक्षक वही हो सकता है जो अपने से रक्षित प्रजा से ऊँचा उठा हुआ है। निर्मलों की सहायता ब्रही कर सकता है जो स्वयम् सबल हो, अन्यथा अन्धे को अन्धा गढ़े में ही गिरा देगा।

जब शासक प्रजा से ऊपर उठा हुआ हो तभी वह सारे ऐश्वर्य का मालिक होता है। जो कामनाओं का दास है, सम्पत्ति का मालिक वह नहीं बन सकता। जो सम्पत्ति के पीछे स्वार्थ के मद से अन्धा होकर दौड़ता है उससे सम्पत्ति कोसों दूर भागती है। परन्तु जो सम्पत्ति को लात मार कर ऊपर उठता है उसके पीछे सम्पत्ति भागी फिरती है। मुनिवर पतञ्जलि के शब्दों में 'अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' जो दूसरों के पदार्थ पर दृष्टि नहीं रखता उसकी सारी दौलत हाथ बाँधे खड़ी रहती है। गुंसाई तुलसीदास ने ठीक कहा है—

जिमि सरिता सागर पहुँ जाहीं, जद्यपि ताहि कामना नाहीं।
तिमि सुख सम्पति बिन ही बुलाए, धर्मशौल पहि जःहि सुभाए॥
अपने अन्दर के पशु-भाव पर विजय प्राप्त करके ही

स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है। मर कर स्वर्गप्राप्ति की लोकोक्ति के यही अर्थ हैं।

शासक वही हो सकता है जो तप और सत्य के प्रभाव से साधारण प्रजा से ऊपर उठ जाये ! तभी उसके वश में सारी प्रजा हो सकती है। इसी वेदाज्ञा का प्रभाव था कि भारतवर्ष में राजा के बेटे को राजगद्दी देने से पहले आचार्य कुल में रक्खा जाता था। एक दृष्टान्त से इस वेद मन्त्र का भाव उत्तम रीति से स्पष्ट है। एक युवराज का गुरुकुल निवास का समय समाप्ति पर आया तो उसका पिता (राजा) उसे घर लाने के लिये आचार्य कुल में सजे हुए घोड़े सहित गया। दीक्षान्त की सारी विधि पूरी होने पर आचार्य ने राजा से कहा कि अन्तिम एक शिक्षा बाकी है, उसके पूरा होते ही राजकुमार को उनके हवाले कर दिया जायेगा। यह कह कर आचार्य कोड़ा हाथ में लेकर घोड़े पर चढ़ गया और राजकुमार को साथ भागने की आज्ञा दी। आज्ञापालक शिष्य साथ चल दिया। गुरु ने घोड़े को बहुत तेज कर दिया और जब राजकुमार पीछे रहने लगा तो उसके कोड़े जमाता गया। राजा की आँखें क्रोध से लाल हो गयीं। चक्कर काट कर गुरु ने राजकुमार को पिता के चरण छूने की आज्ञा दी और राजा को सम्बोधन करके कहा 'राजन् ! शायद कल ही इस मेरे शिष्य को राजगद्दी मिल जाय और वह लाखों के जान और माल का रक्षक बने। तब अन्याय और अत्याचार से बचने के लिये इसे आज की शिक्षा काम आयेगी, क्योंकि इसने समझ लिया है कि पराधीनता और दासता में कितना कष्ट है।' राजा सन्तुष्ट होकर राजकुमार को घर ले गया। संसार इस समय नरक कुण्ड इसीलिए बना हुआ है कि प्रजा के रक्षक ब्रह्मचारी नहीं हैं और न इस प्रकार के आदर्श आचार्य।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अ०, काण्ड ११, अ० ३ सूक्त ५, १७ ।

शब्दार्थ— (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तप से (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है । (आचार्यो ब्रह्मचर्येण) आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही (ब्रह्मचारिणमिच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है ।

मन्त्र सार—रक्षा का काम तपस्वी कर सकता है, भोगी नहीं और तप ब्रह्मचर्य के बिना असम्भव है । राजा का धर्म ही राष्ट्र का पालन है। आजकल राजा का अधिकार राज-शासन है। इस समय अधिकारों की धूम है, इसलिए कर्तव्य पीछे पड़ गया है । वेद की आज्ञा है कि कर्तव्य पालन ही जीवन का मूल है । राजा को प्रजापति इसीलिए कहते हैं कि प्रजा का पालन उसका धर्म है । 'The King can do no wrong' राजा कोई अधर्म नहीं कर सकता—इस वाक्य का अर्थ क्या है ? क्या इसका अर्थ यह है कि राजा जो भी पाप चाहे करे, वह दण्डनीय नहीं है । ऐसा नहीं है । इङ्गलैण्ड के जिन देश हितैषियों ने प्रथम चार्ल्स को फाँसी लगा दी, क्या वे अन्यायी थे ? कदापि नहीं । इस लोकोक्ति के अर्थ यह है कि जो अधर्म कर सकता है वह राजा होने योग्य नहीं है । जो स्वार्थी है, भोगी है, वह अधर्म से नहीं बच सकता, अधर्म से बचने के लिये पूर्ण ब्रह्मचारी होना जरूरी है ।

वेद उदाहरण देता है कि आचार्य ब्रह्मचर्य के बल से ही शिष्य का अपनी ओर खींचता है और उसका पालन पोषण तथा

शिक्षण करता है। पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्व काल में आचार्य उसी को कहते थे जो दस सहस्र शिष्यों का पालन-पोषण करता हुआ, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करे। जिस प्रकार आचार्य ब्रह्मचर्य के तप से ही ब्रह्मचारी को आकर्षित करके अपने अधीन करता है इसी प्रकार राजा भी ब्रह्मचर्य के तप से ही प्रजा को अपनी ओर खींचता और उसकी रक्षा करते हुए उन्हें अपने वश में रख सकता है।

आज उलटी गङ्गा बह रही है। राजा भोग के लिए राज्य संभालते हैं। जहाँ एक सत्तात्मक राज्य है वहाँ एक भोगी की तृष्णा को सन्तुष्ट करना पड़ता है। जहाँ प्रजातन्त्र राज्य कहा जाता है वहाँ बहुतायत की विषय कामना को तुष्टि देनी पड़ती है। कहीं व्यक्ति का स्वार्थ संसार में हाहाकार मचा रहा है। इस अनाचार तथा अधर्म की जड़ जब तक न खुद जाय तब तक संसार में शासन और राजनीति के नाम पर अन्याय और अत्याचार होते ही रहेंगे। इस अधर्म की जड़ कैसे कटे ?

बचपन में जैसी शिक्षा मिलती है मनुष्य युवा होकर वैसा ही बन जाता है। यदि अध्यापक और उपाध्याय ब्रह्मचारी हों, यदि उनकी इन्द्रियाँ अपने वश में हों, यदि वे सब प्रकार की फंसावटों से मुक्त हों तो उनके दिन रात के सहवास का असर उनके शिष्यों परभी अवश्य पड़े और तब उन आचार्य-कुलों से शासक भी योग्य निकल सकें।

जिस देश और जाति में शिक्षक स्वयं चरित्रवान् न हों, उसकी दशा कभी सुधर नहीं सकती। जो दिया स्वयं जल नहीं रहा वह दूसरों को क्या जलायेगा ? जिसका हृदय स्वयं अन्धकार से आच्छादित है वह दूसरों को प्रकाश कैसे दिख-

लायेगा। कहते हैं कि 'मशालची अन्धा होता है परन्तु दूसरों को मार्ग दिखा देता है,' परन्तु जहाँ गढ़ा आगे हो उसके गढ़े में गिरते ही उसके हाथ की मशाल बुझ जाती है और उसके पीछे चलने वाले उसी गढ़े में गिर पड़ते हैं। यही हाल उन शिक्षकों के अभागे शिष्यों का है, जो नीति-शास्त्रों की शिक्षा देते हुए स्वयं उसके विरुद्ध आचरण करते हैं। ऐसे शिक्षकों के नियन्त्रण से निकलकर जो राजकीय पुरुष शासन के काम में लगते हैं उससे रक्षा के स्थान में राज्या को हानि ही होती है।

पिता पालक को कहते हैं। राजा प्रजा का पालक, रक्षक होने से ही प्रजा का पिता है। यदि पिता ही मद्य-मांस का सेवन करने वाला और व्यभिचारी हो तो सन्तान का क्या ठिकाना रहे। राजा सारी प्रजा का पिता है। यदि वह व्यभिचारी हो तो धर्म का नाश हो जाय। क्योंकि अपनी धर्मपत्नी से सन्तानोत्पत्ति करने के अतिरिक्त अन्य स्त्री से वह सम्बन्ध जोड़ता है, हालाँकि वह उसकी पुत्री के समान है। सारे संसार में इस प्रकार की वर्णसंकरता का राज्य हो रहा है। इस घोर अधर्म की जड़ जब तक न हिलेगी तब तक संसार में शान्ति नहीं फैल सकती है। हिलना ही पर्याप्त नहीं है, स्थिर शान्ति के लिए इस की जड़ ही कट जानी चाहिए। परन्तु जड़ कैसे कटे ?

आओ, भारतवर्ष से ही पहल करो। स्वार्थी भोगी गवर्नमेन्टों से कुछ न होगा। जो आवश्यकता को अनुभव करते हों और शिक्षा देने की योग्यता रखते हों, वे साधनों द्वारा स्वयं ब्रह्मचारी बनें और ब्रह्मचर्य रूपी तप के बल से विद्यार्थियों को अपनी ओर आकर्षित करें। जब ग्राम २ में ऐसे साधन-सम्पन्न शिक्षक काम करने लग जायेंगे तो पूर्वकाल में ब्रह्मचर्य-प्रधान यह जाति ही संसार की जातियों की पथदर्शक बन सकेगी। *

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वी घासं जिगीर्षति ॥

अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १८।

शब्दार्थ—(कन्या) विवाह योग्य कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य पूर्ण होने पर (युवानं पतिं विन्दते) युवा, ब्रह्मचारी पति का लाभ करती है। पशु सृष्टि में जैसे (अनड्वान् अश्वः) वीर्य-वाही घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रिय संयम द्वारा ही (घासं जिगीर्षति) घासादि खाद्य को पचाने में समर्थ होता है।

मन्त्र सार—पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध वेद ने केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये बतलाया है। जिस प्रकार अन्य इन्द्रियाँ उचित उपयोग लेने पर ही बलवती रहती हैं और अपने विषय में फंसकर दासता को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार जननेन्द्रिय को भी स्वादेन्द्रिय बना लिया जाय तो वह भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। प्रत्येक इन्द्रिय से तभी काम लेने में कल्याण है जब कि वह पुष्ट होकर उस बोझ के उठाने योग्य हो जाय जो उस पर डाला जाता है। तब कौन पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकारी है? वही जिसने कम से कम २५ वर्ष की आयु तक वीर्य रक्षा करके उसे पुष्ट कर लिया हो और इस प्रकार जननेन्द्रिय को वशीभूत कर लिया हो। परन्तु यदि उसे पत्नी योग्य न मिले तो वह उत्तम सन्तान कैसे पैदा कर सकेगा? बीज कैसा ही उत्तम हो, उसके अन्दर कितनी ही उपजने की शक्ति क्यों न हो—यदि भूमि ऊसर है, यदि भूमि में जल नहीं है तो बीज निष्फल जाएगा। उत्तम बीज के लिये दृढ़, स्वस्थ उपजाऊ भूमि होनी चाहिए, तब वनस्पति रूपी सन्तान उत्तम हर्षदायक

उत्पन्न होगी। इसलिए जहाँ पुरुष के ब्रह्मचारी होने की आवश्यकता है, जहाँ समावर्तन पूर्वक गुरुकुल से लौटा हुआ ब्रह्मचारी ही विवाह का पात्र है, वहाँ ऐश्वर्यवान् इन्द्र को पाने, विवाह करने का अधिकार भी ब्रह्मचारिणी को ही प्राप्त है। अथर्ववेद में उत्तम विवाह 'सूर्यो' अर्थात् आदित्या ब्रह्मचारिणी का ही लिखा है। ब्रह्मचारी का तेज जहाँ साधारण व्यक्ति को जला देता है वहाँ ब्रह्मचारिणी के तेज के साथ मिलकर वह नये तेजस्वी आत्मा का संसार में प्रवेश कराता है। ठीक है— प्राण को धारण करने की शक्ति रवि में ही है, पुरुष के तेज को सहन कर, अपने अन्दर लय करने की शक्ति प्रकृति में ही है।

मनुष्य ही नहीं, पशुसृष्टि में भी यही नियम विद्यमान है। वहाँ भी जीवन तथा वृद्धि के लिये ब्रह्मचर्य ही प्रधान है। मनुष्य की अवस्था में ब्रह्मचर्य शब्द के पूरे अर्थ लागू हैं। ब्रह्मनामी वेद और ब्रह्मनामी परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना, उन की ओर चलना और उन्हें प्राप्त करना—यह मनुष्य में विशेषता है—'धर्मोहि तेषामधिको विशेषः'। परन्तु पशु में केवल संसार में सबसे बड़े, प्राणिमात्र के आधार अन्न (ब्रह्म) का भक्षण ही ब्रह्मचर्य है। बैल और घोड़ा दोनों प्रकार के साँड केवल ब्रह्मचर्य व इन्द्रिय संयम से ही तो अपने चारे को पचाते हैं, और उसे पचाकर गाय और घोड़ी में बलवती तथा दृढांग सन्तान उत्पन्न करते हैं। इस नियम को मनुष्यों ने ऐसी गिरह दे ली है कि बैल और घोड़े के बछड़ों की विशेष रक्षा करके उन्हें ब्रह्मचारी रखा जाता है और उनकी पैतृक शुद्धि का विचार किया जाता है। परन्तु सननशील मनुष्य ने अपने सम्बन्ध में इस पवित्र नियम को भुला दिया है। वह जहाँ पशुओं को ब्रह्मचर्य के नियम के अनुसार रखता है वहाँ स्वयं उसके गुण जानता हुआ भी अन्धा बन जाता है।

कभो आर्यावत्तं ही ब्रह्मचर्य प्रधान देश था और वहाँ ही मनुष्य इस समय अधिक अधोगति को प्राप्त है। नालन्दा और तक्षशिला का यहाँ निशान भी मिट चुका था, जिसे विदेशियों ने खोदकर पुनः प्रकट किया है। उस देश में भी पशुओं के लिए ब्रह्मचर्याश्रम (अर्थात् साँड के लिए नियमित काम) की प्रथा अब तक चली आती है। पशुओं को तो प्रकृति से स्वाभाविक ज्ञान मिला है। उनमें तो 'मादा' ऋतु के बिना 'नर' को समीप भी नहीं आने देती। जङ्गल में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। यह भी मनुष्य की ही कृपा है कि जो पशु जङ्गल में ब्रह्मचारी ऋतुगामी रहते हैं वे आजकल के मनुष्यों के संसर्ग में आकर व्यभिचारी बन जाते हैं। उन्हें आज की मानव सम्यता ने प्रभावित कर दिया है।

जिन जङ्गली मनुष्यों को भी आजकल की सम्यता ने असम्य की उपाधि प्रदान कर रखी है, उन जातियों में जननेन्द्रिय की रक्षा की प्रथा स्त्रियों के अन्दर अब तक विद्यमान है। युरोपियन डाक्टर साक्षी देते हैं कि जिन स्थानों में युरोपियन लोग अब तक अपनी सम्यता के चिन्ह अर्थात् शराब और 'सिफलिस' लेकर नहीं पहुँचे, वहाँ अब तक गर्भ स्थित होने के २॥ वा ३ वर्षों पीछे तक सन्तानवती स्त्री अपनी जननेन्द्रिय की रक्षा करती और पुरुष को अपने समीप नहीं आने देती है।

वेदाज्ञा अपनी सिद्धि के लिए अपने अन्दर ही हेतु रखती है। इस समय भी ईश्वरीय नियम वैसा ही ताँजा है जैसा कि सृष्टि के आदि में था। वह कह रहा है कि जो व्यवस्था उस स्वाभाविक, अनादि नियम से मनुष्यों को दूर ले जा रही है वह त्याग के योग्य है। जिस देश वा जाति में ब्रह्मचर्य व्रत से पालन पोषण पाकर कन्या आदित्य ब्रह्मचारी को प्राप्त होती है उसी जाति व देश का जीवन चिरस्थायी होता है। *

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

—अथर्व काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १६ ॥

शब्दार्थ—(देवाः) सत्य आदि, दिव्यगुण युक्त ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से ही (मृत्युं) मृत्यु को मौत को (उपाघ्नत) मार डालते हैं, विजय प्राप्त कर लेते हैं । (इन्द्रः) परमेश्वर व जितेन्द्रिय आत्मा भी (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य की शक्ति के द्वारा ही (देवेभ्यः) देवताओं व इन्द्रियों के लिये (स्वः) सुख और तेज को (आभरत्) धारण कराता है, प्राप्त कराता है ।

मन्त्र सार—‘सत्यमेव हि देवाः अनृतं मनुष्याः’—साधारण अवस्था में मनन शक्ति रखले वाले की ‘मनुष्य’ संज्ञा होती है, जब वह सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकर्मी हो जाता है, तब उसकी ‘देव’ संज्ञा होती है । मौत को हटा कर ही अमृत की प्राप्ति हो सकती है और यही मनुष्य का परमोद्देश्य है । यद्यपि प्रकाश शरीरधारी जीवात्मा के अन्दर ही विद्यमान है तथापि अन्दर की आँखें बन्द कर रखने के कारण वह उससे लाभ नहीं उठाता । देवता और राक्षस बनने के साधन अन्दर ही मौजूद हैं । ब्रह्मचर्य से ही देवभाव का पशुभाव पर विजय होता है, तब मनुष्य देवता बन जाता है । मौत को जीत कर अमर होकर ही अमृत के भण्डार के अन्दर विचरने की शक्ति मिलती है । ‘सत्येन लभ्यते’—वह सत्य से ही प्राप्त होता है और सत्य को धारण करने की शक्ति ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है । ‘सत्येन पन्था

विततो देवयानः'—सत्य की सड़क पर ही देवताओं के वाहन चल सकते हैं। देवता पद से बढ़ कर कोई पद जीवात्मा के लिए नहीं है, तभी तो कवि ने कहा है—'सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं वरम्'—सत्य से बढ़ कर और क्या है? और उस सत्यरूपी उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य ही एक मात्र साधन है।

देवों का राजा इन्द्र कहा गया है। प्रजा का पालक राजा होता है। परन्तु पहले कहा जा चुका है कि प्रजापालक बनने के लिए ब्रह्मचर्य मुख्य साधन है। इन्द्र ब्रह्मचर्य के बल से ही देवों के लिए सुख का सामान पैदा करता है।

इन्द्र कौन है और 'देव' कौन है? यह वेद के विवाह प्रकरण में आया है—'इमां त्वमिन्द्रमीद्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु' हे ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! तू इस स्त्री को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। तब इन्द्र जीवात्मा का ही नाम है, क्योंकि जिस प्रकार सारे संसार में व्यापक होकर उसका मालिक होने से परमात्मा इन्द्र कहलाता है। (यथा 'इन्द्र मित्र' इत्यादि वेद में और 'इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्' मनु०में) इसी प्रकार निज शरीर में व्यापक होकर उसका मालिक होने से जीवात्मा भी इन्द्र कहलाता है। इस शरीर में देव कौन है? ज्ञान का प्रकाश करने से मनुष्यों को देव कहते हैं, मनुष्य की बनावट में ज्ञान का प्रकाश करने से 'पञ्च ज्ञानेन्द्रिय' को देव कहते हैं। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक-एक विषय है—आँख का रूप, कान का शब्द, नासिका का गंध, जिह्वा का रस और त्वचा का स्पर्श। यदि कोई इन्द्रिय अपने विषय के अन्दर फँस जाय तो जीवात्मा के लिए हानिकारक और अन्धकार में फँसाने वाली होती है।

प्रकाश अन्दर है, क्योंकि परमात्मा का सबसे उत्तम मन्दिर वा शरीर जीवात्मा ही है। (उपनिषद् में कहा भी है—'यस्य

आत्मा शरीरम्,—बृहदारण्यक) तब अन्दर प्रकाश है क्योंकि वहाँ चेतन जीवात्मा प्रकाशस्वरूप के सामने है, परन्तु बाहर प्रकृति है और अन्धकारमय है। जो इन्द्रिय विषय में फँस जाती है वह मन को बाहर खींच लेती है क्योंकि इन्द्रिय मनपूर्वक ही काम करती है और मन एक समय में एक काम ही करता है। उसका तो लक्षण ही यह है—युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्—जब इन्द्रिय ने मन को बाहर खींचा तो उसने जीवात्मा को बहि-मुँख कर दिया। बाहर अन्धकार ही अन्धकार है। अन्दर की आँखें बन्द हुईं और प्रकाश के अन्दर निवास करते हुए भी अंधेरा ही अंधेरा छा गया। यह अंधेरा कब दूर हो ? “अन्दर के पट तब खुलें जब बाहर के पट देय।” बाहर के पट कैसे बन्द हों ? जब अन्दर वाला ब्रह्मचर्य का अभ्यास करके पूर्ण ब्रह्मचारी हो, मन वश में करे और उसके द्वारा इन्द्रियों को अपना आज्ञा-पालक सेवक बना ले। अपूज्य जहाँ पूजे जाँय, अचेतन जहाँ चेतन के पथदर्शक बनें, वहाँ कल्याण कहीं रह सकता है ? मालिक जहाँ दासों के वश में हो वहाँ मालिक और दास दोनों ही दुःख पाते हैं। दासों का भी कल्याण इसी में है कि उनकी बागडोर मालिक के हाथ में हो। इन्द्रियों का भी कल्याण इसी में है कि वे जीवात्मा के वशीभूत होकर रहें।

यह कैसे हो सकता है ? इसका भी एकमात्र साधन ब्रह्म-चर्य ही है। जिस जीवात्मा ने साधनों द्वारा अपने आपको पुष्ट कर लिया है उसकी इन्द्रियाँ ही उसके वश में हो जाती हैं जैसे रथ के घोड़े वीर्यवान् सारथी के वश में होते हैं। संसार में मौत के भय से बढ़कर ओर कोई भय नहीं है। यही भय मनुष्य को डाँवाडोल करके शोकसागर में डुबाए रहता है। परन्तु मौत है क्या, जिससे इतना भयभीत जीवात्मा रहता है ? मौत वियोग का नाम है। जिसके संयोग का आदि है उसका वियोग भी

अवश्य होगा और पुनः संयोग भी हो सकता है। जब यह ज्ञान हो जाय तो मीत भयावनी नहीं रहती। परन्तु इस ज्ञान का साधन क्या है? निस्सन्देह इसका साधन ब्रह्मचर्य ही है। जीवात्मा को इन्द्र कब कह सकते हैं? जब वह ऐश्वर्यवान् हो जावे। परन्तु ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य रूपी संयम की आवश्यकता है। परमात्मा का बल ही इसमें है कि वह साक्षिरूप अनादि ब्रह्मचारी है। तब उसका पुजारी जीवात्मा भी अपनी इन्द्रियों का सच्चा स्वामी ब्रह्मचर्य के तप से ही हो सकता है और तब तपस्वी रूप प्रभु के सहवास में वह मीत को जीत लेता है।

: २० :

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।

सम्बत्सरः सहतुं भिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥

—अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २० ॥

शब्दार्थ—(ओषधयः) रोगों को नष्ट करने वाले और (वनस्पतिः) भरण पोषण करने वाले अन्नादि वनस्पति दोनों उद्भिद् प्राणी (भूत भव्यं) जीवनयात्रा का भूतकाल और भविष्यकाल अर्थात् सम्पूर्ण जीवन काल (अहोरात्रे) दिन और रात अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का काल (ऋतुभिः सह) षड् ऋतुओं के साथ (संबत्सरः) ममन करने वाला वर्ष अनादि अर्थात् अनन्त काल ये सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी हैं, (जाताः) ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही पैदा हुए हैं इसलिए (ते) वे अविनश्वर हैं, मृत्यु को प्राप्त न होने वाले हैं।

मन्त्र सार—वनस्पति अर्थात् वन के वृक्ष जो बिना पुष्प लाये फल देते हैं तथा औषधि जो पुष्प से पुरित होकर पालन

करते हैं—दोनों प्रकार के उद्भिद् प्राणी भी ब्रह्मचारी के तपो-बल से ही फल देने वाले होते हैं। इसलिये वेद में जो आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के लिए नैतिक कर्म का उपदेश है उसमें वनस्पति की रक्षा का भी विधान है। यदि मनुष्य इन्द्रियों को वशीभूत करने वाला न हो तो एक भी वनस्पति अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त न हो। माली ब्रह्मचर्यव्रत की सहायता से ही प्रलोभनों से बचता हुआ वृक्ष और पौधे की रक्षा करता है और पकने से पहले फलों को तोड़ने से बचाता है।

भूत और भविष्यत्—व्यतीत हुए और आने वाले दोनों समयों का निर्माता ब्रह्मचारी ही है। बीते हुए अनुभवों से जहाँ ब्रह्मचारी ही स्वयम् लाभ उठाता तथा संसार को दिला सकता है वहाँ जगत् का भविष्य भी वही सुधार सकता है। जो इन्द्रियों का दास है, उसके लिये वर्तमान ही सब कुछ है। उसका भविष्य कुछ ही नहीं सकता। ब्रह्मचारी राम ने जहाँ संसार के भविष्य में धर्म की मर्यादा स्थापित कर दी, वहाँ रावण के कारण लङ्का का भविष्य ही कुछ न रहा। ब्रह्मचर्य बिना न भूत है और न भविष्यत्। दिन और रात का चक्र भी ब्रह्मचर्य के आश्रय पर ही चलता है। व्रत-पालन का आदर्श ब्रह्मचारी ही है। और सूर्य की (अपनी परिधि पर घूमने और अपने सामने आई भूमि को प्रकाश देने की) शक्ति पर ही दिन रात के विभाग निर्भर हैं। ऋतुओं सहित संवत्सर भी उस व्रत का परिणाम है जो संसार चक्र में सूर्य कर रहा है। जिनकी इन्द्रिय वश में नहीं हैं, जिन्हें इन्द्रियां बुझाये फिरती हैं, उनमें दिन और रात में विवेचन करने की शक्ति नहीं रहती। वे न रात में विश्राम ले सकते हैं और न दिन में सूर्य की किरणों से प्राणशक्ति को धारण कर सकते हैं। कामी के लिए न कोई दिन है और न रात। उनके लिए सारा समय केवल अन्वहारमय है। कामी उतूक के

समान रात को ही सावधान होता है। कामी तुकबन्दों (उन्हें कवि नहीं कह सकते) ने कामातुरों का यही विशेषण दिया है कि वे दिन और रात में तमीज ही नहीं कर सकते। उन्हें ऋतुओं में भी कोई भेद नहीं प्रतीत होता। उनके लिए 'सब घान बाईस पंसेरी, होते हैं।

लोक में प्रसिद्ध है कि जिन्हें परलोक की लगन हो, जिन्हें मुक्ति की तलाश हो वे भले ही ब्रह्मचर्य का साधन करें, पर दुनियांदारों के लिए ब्रह्मचर्य का उपदेश नहीं है। ऐसी लोकोक्ति के अनुयायियों को इस वेद मन्त्र के भाव पर गहरा विचार करना चाहिए। जिस जुही और चम्पा, चमेली और बेला पर तुम मस्त हो रहे हो, उसकी भीनी खुशबू तुम्हारे मस्तिष्क को तरावट न देती, यदि माली ने इन्द्रियों को दमन करके उसकी रक्षा न की होती। यदि माली प्रलोभन में फँस कर बिना खिली कली को ही तोड़ लेता और अपनी स्वार्थसिद्धि में ही लग जाता तो तुम्हें खिले हुए फूल की सुगन्धि तथा सौन्दर्य से तृप्ति पाने का अवसर कैसे मिलता? यदि भूत समय में ब्रह्मचारियों ने सदाचार और परोपकार की बुनियाद न डाली होती तो आज तुम्हें अपना तथा अपने भाइयों का भविष्य सुधारने के लिये कौन प्रोत्साहित करता? मनुष्यों की ही नहीं वनस्पति की भी जान ब्रह्मचर्य के हाथ में ही है। वनस्पति की ही क्यों? काल, दिशा और उनके विभागों की जान भी ब्रह्मचर्य ही है।

आज ब्रह्मचर्य की बात अस्वाभाविक मालूम होता है। जिन्होंने विश्राम के स्थान में आलस्य को अपना लिया हो, जिन्होंने उल्टी गङ्गा बहाने का व्यर्थ परिश्रम अपने जीवन का उद्देश्य बना रक्खा हो, जिन्होंने जानबूझ कर आँखें बन्द कर रक्खी हों, उन्हें आँखें खोलते हुए अवश्य कष्ट प्रतीत होता है। परन्तु इस क्षणिक कष्ट के भय से अपने जीवन के भविष्यन्

को ही तिलांजलि दे देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। जड़ और चेतन में मनुष्य, पशु और वनस्पति में, राजा और रज्जु में, सबमें ब्रह्मचर्य का राज्य है। जिस प्रकार प्रान्त के राजा को और उसके राजनिग्रम को भुलाकर उस राज्य में निवास करना कठिन है, इसी प्रकार समय के राजा ब्रह्मचर्य के न्याय शासन को भुलाकर संसार में जीना कठिन है। प्रभु बल दें कि ब्रह्मचर्य का यथावत् पालन हो सके।

: २१ :

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्याः ग्राम्याश्च ये ।

अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

अथर्व० काण्ड ११। अ० ३ सूक्त ५-२१ ।

शब्दार्थ—(पार्थिवा दिव्याः) जो भी पृथिवी और आकाश के पदार्थ, (आरण्याः ग्राम्याश्च ये पशवः) और वन एवं ग्राम के पशु हैं, (अपक्षाः पक्षिणश्च ये) जो बिना पंख वाले और पंख वाले जीव हैं (ते) वे सब (जाता ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी से प्रसिद्ध होते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। (ब्रह्मचर्य प्रभावाद् उत्पन्ना इत्यर्थः—सायण)।

मन्त्र सार—पार्थिव पदार्थ, जिनका गन्धवती पृथिवी के साथ ही विशेष सम्बन्ध है जैसे पत्थर, मिट्टी, औषधि, अन्न, जलों के नदी नाले आदि और आकाश में रहने वाले वायु तथा वाष्प इत्यादि सबकी उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही है। जो सत्य मनुष्य सृष्टि में प्रचलित है उसी का प्रसरण पशु तथा कीट, पतङ्ग और वनस्पति सृष्टि के अन्दर भी है। ब्रह्मचर्य का

एक गुण संयम है और संयम के बिना एक तिनका भी अपना काम पूरा नहीं कर सकता। सूर्य की गति संयम का ही परिणाम है, तथा पृथिवी में षड् ऋतु का परिवर्तन भी संयम पर ही निर्भर है। जिस देश के निवासियों में संयम का अभाव है उसमें न भूमि फल देती है और न प्रजा की रक्षा होती है। उपजाऊ भूमियों के निवासी संयमी रहित होकर भूखों मरते हैं और संयमी पुरुष, ऊसर भूमि को कमाकर, धनधान्य से पूरित हो जाते हैं।

जिस भारतवर्ष में अनाज के कोष भरे रहते थे और जिस पवित्र भूमि पर दूध की नदियाँ बहती थीं, उसी भारतभूमि में आज बच्चे दूध बिना बिलख-बिलखकर मर रहे हैं और जनता के तिहाई भाग को भर पेट खाने को नहीं मिलता। इसका कारण वही संयम का अभाव और ब्रह्मचर्य का ह्रास है। ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँचने के लिए पहिला पड़ाव यम-नियमों का पालन है। जो हिंसा से मुक्त नहीं है, जो असत्य के गढ़े में गिरा हुआ है, जो दूसरों के अधिकारों की आकांक्षा नहीं छोड़ता, जिसने अपनी कर्म और ज्ञान की इन्द्रियों को वश में नहीं किया और जो विषयों का दास है वह ब्रह्मचर्य की ओर पहला पग भी उठाने की शक्ति नहीं रखता। प्राचीन आर्यों की प्रार्थना नित्य यह होती थी कि पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक उन के लिए सुखकारी हों। प्राचीन शास्त्रों में मन, वाणी और कर्म तीनों से प्रार्थना करने का विधान है। इसलिए शान्ति पाठ भी उनका ऐसा ही होता था। मन से उनकी इच्छा होती थी कि किसी लोक में जो कुछ भी है वह उनके लिए शान्तिदायक हो। वाणी से भी वह इसी की विधि का अध्ययन तथा अध्यापन करते थे और कर्म भी वे ऐसे ही करते थे जिससे संसार की सब शक्तियाँ उनके अनुकूल हों।

पृथिवी लोक अनुकूल हो, शान्तिदायक हो—इसका क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य है कि भूमि हमारे अनुकूल अनाज, फल और औषध उत्पन्न करे। इसके लिए आवश्यक है कि वर्षा समयानुकूल हो। जहाँ ऐसी वर्षा नहीं, वहाँ खेती को तालाब और कूप के जल से सींचा जाय। फिर खेत के इंदं गिदं बाड़ करके उसकी जङ्गली जानवरों से रक्षा की जाय, और बाहर के लुटेरों से राष्ट्रों की सेना उसको रक्षा करे। परन्तु इन सबसे बढ़कर आवश्यक यह है कि कृषिकार स्वयं कच्ची खेती को ही खाना शुरू न कर दें। अब तक किसानों में प्रसिद्ध है कि जो किसान प्रलोभन वश बीच में ही खेती खाने लग जाता है उसकी खेती में 'बरकत' नहीं होती। ऐसे किसान की उसी पुरुष से उपमा देनी चाहिए जो वीर्य परिपक्व होने से पहिले ही उसका नाश करने लगता है। कोई भी पेशा करने वाला हो, जो 'अमानत में खयानत' करता है, जो अपने कर्तव्य पालन में विघात करता है उसके काम में बरकत नहीं हो सकती। हलवाई का शांगिदं जब आते-जाते, डालते-निकालते, स्वयं मिठाई मुंह में डालने लगता है तो उसकी दुकान का दिवाला निकल जाता है। फिर जिस देश का राष्ट्रपति ही रक्षक के स्थान में प्रजा का भक्षक बन जाय उस देश का क्या ठिकाना है ? हम पहले कह आए हैं कि शिक्षक और राजा दोनों संयमी होने चाहिए। यदि राजा कर लगाने में कड़ा हो, यदि राजपुरुष प्रजा को लूटना ही अपना अधिकार बनाले, यदि प्रजा राजा के लिए, न कि राजा प्रजा की सेवा के लिए समझी जाय, तब राज-विप्लव में सन्देह क्या है ?

जो अवस्था पृथिवी लोक की है वही अन्तरिक्ष और आकाश की है। वहाँ की सृष्टि का आधार भी ब्रह्मचर्य ही है। अप्रकाशमान् पृथिवी प्रकाशमान् सूर्यादि लोकों से ही प्राण शक्ति

को ग्रहण करके अपने गर्भ से मनुष्यों को निहाल कर देती है । यदि सूर्य में संयम न हो तो पृथिवी उससे क्या लाभ उठा सकती है ? यदि वही ब्रह्मचर्य का नियम अन्तरिक्ष में काम न करता हो तो सूर्य और इसके गिर्द घूमने वाले ग्रह एक-दूसरे के साथ टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो जाँय । अतः अन्तरिक्ष और द्युलोक के नियम जानने के लिए ब्रह्मचर्य पालन की कितनी आवश्यकता है यह सहज ही समझ में आ सकता है । वास्तव में बात यह है कि जमीन और आसमान केवल ब्रह्मचर्य के नियम के आधार पर ही खड़े (स्थित) हैं ।

सारांश—जिस देश में ब्रह्मविद्या के जानने वाले ब्राह्मण शिक्षक हों, वीर्यवान् संयमी क्षत्रिय राष्ट्र के रक्षक हों, जिसमें धर्मानुसार प्रजापालन के साधन प्रजा तक पहुँचाने में वैश्य लगे हुए हों और इसलिए जहाँ शूद्र शुद्ध भाव से सेवा का व्रत धारण किये हों—उस देश में कल्याण और शान्ति का राज्य फैलता है ।



: २२ :

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।

तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २२।

शब्दार्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति ^१ आचार्य के सब शिष्य (पृथक्) भिन्न २ रुचि वाले होकर (आत्मसु प्राणान् बिभ्रति) अपने शरीर में प्राणों को धारण करते हैं । (तान् सर्वान्) उन सब शिष्यों को (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी ^२ आचार्य में (आभृतम्) रक्खा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान(रक्षति)रक्षा करता है ।

१. २. ब्रह्मचर्य सूक्त का १६ वां मन्त्र देखो ।

मन्त्र सार—एक मनुष्य की प्रकृति दूसरे से मिलती नहीं है। सब अपने जुदे २ संस्कार साथ लेकर उत्पन्न होते हैं। सबके एक-सी ही शक्तियाँ नहीं और न एक से उद्देश्य हैं। उनके कर्मानुसार उनकी रुचियाँ पृथक् २ हैं। सब एक ही रस्सी में बाँधे नहीं जा सकते। कवि ने ठीक कहा है—'भिन्नरुचिहि लोकः।' कह सकते हैं कि जितने मनुष्य हैं उतनी ही उन्की रुचियाँ हैं। इन विविध रुचियों का प्रादुर्भाव कैसे होता है ? यदि शिक्षक इन सबको गड़रिये की तरह हाँकने वाला हो तो उनके अन्दर कोई शक्ति ही दिखाई नहीं देती। वे भेड़ों के गल्ले की नाई चल देते हैं और जब शिक्षक रूपी गड़रिया एक पल के लिए भी उनसे ओझल होता है तो उनके लिए सीधे रास्ते चलना कठिन हो जाता है।

जीवात्मा मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म करने में स्वतन्त्र है। केवल उन कर्मों का फल भोगने में वह परतन्त्र है। इस स्वतन्त्र कर्ता के अन्दर स्वतन्त्र ही प्राण शक्ति है। यदि उसे दबा दिया जाय तो 'जीवित शव समान वह प्राणी' की लोकोक्ति उस पर घट जाती है। वह स्वाभाविक के तुल्य हुई शक्तियाँ किस प्रकार लाभदायक हो सकें ? इसके लिए आवश्यक यह है कि आचार्य अपने शिष्यों में वेद-ज्ञान के भरने का यत्न करे। उनको अपनी मानसिक शक्तियों का दास बनाने की चेष्टा न करे। फिर किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। आचार्य का स्वाभाविक रीति से ब्रह्मचारी में भरा वेद ज्ञान स्वयं उनके विकास का साधन बनता है।

बालक के अन्दर उसकी प्रकृति के अनुसार ही विचित्र प्रश्न उत्पन्न होते हैं। मूर्ख अध्यापक उनको दबाने की चेष्टा करता है। प्रत्येक अध्यापक अपना गौरव स्थिर रखने के लिए आवश्यक समझता है कि वह अपने आपको अपने शिष्यों के

सामने सर्वज्ञ सिद्ध करे। वह भूल जाता है कि शायद उसके सपुर्द ऐसा बालक किया गया है जो पूर्व जन्म में उससे कहीं अधिक उन्नति कर चुका है। यदि शिष्य की बुद्धि गुरु की अपेक्षा तीव्र है तो ऐसे बर्ताव से उसको बड़ा गहरा घक्का लगता है। यह भूल नहीं जाना चाहिए कि आचार्य का काम केवल शिक्षा का देना ही नहीं, शिक्षा ग्रहण करना भी उसका कर्त्तव्य ही नहीं अधिकार है। अपने बीस वर्षों के आनुपूर्वी अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि जिन शिक्षकों ने जीवात्माधारी बालकों को केवल जड़ यन्त्र समझ कर उनको रेवड़ की तरह हाँकने का यत्न किया उन्होंने न केवल अपने आधीन विद्यार्थियों की उन्नति ही रोक दी प्रत्युत् अपने आपको भी अवनत किया। परन्तु जिन्होंने इन आत्म सम्पन्न प्राणधारियों को केवल मार्ग दिखाना ही अपना कर्त्तव्य समझा उन्होंने न केवल अपने शिष्यों के आत्मा को विचित्र प्रकार से विकसित ही किया प्रत्युत् अपनी दैवी शक्तियों को भी प्रादुर्भूत किया। इसका विशेष कारण भी है। जो वाणी पर ही सारा निर्भर न करके कर्म का आश्रय लेते हैं उन्हें अपने शिष्यों का मार्ग दर्शक बनने के लिए उन गुणों का अनुकरण स्वयम् करना पड़ता है, जिन्हें वे विद्यार्थियों के मनों में भरना चाहते हैं।

वेद-ज्ञान ब्रह्मचारी के अन्दर क्यों भरना चाहिए ? इस लिए कि वैदिक शिक्षाओं से वह अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं मार्ग चुन लेवे। गुरु का परिमित, एकदेशी ज्ञान शायद ही एक दो शिष्यों के लिए उपयोगी हो। वेद-ज्ञान में इतनी लचक है कि उसे प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोगी बना सकता है। गुरु, परम्परा से जिस ज्ञान को ग्रहण करते आए हैं उसमें जो बल है वह एक व्यक्ति के कृत्रिम रीति से उपार्जन किए ज्ञान में नहीं हो सकता। इसलिए वेद द्वारा

भगवान् का आदेश है कि जिस मनुष्य जाति के अन्दर ज्ञान प्राप्त करने का विशेष कारण (बुद्धि) विद्यमान है उसकी भलाई इसी में है कि उस कारण को स्वाभाविक रीति से पुष्ट तथा विकसित करने के लिए उसे हिला दिया जाये, उसे बलात्कार से खींच कर किसी एक ओर लगाने का यत्न न किया जाय । जब तक संसार में ब्रह्मचर्य के मूल साधनों को फँलाने का यत्न न होगा तब तक बढ़ा हुआ राग द्वेष उस संसार को, जिसे उसके निर्माता ने उन्नति का धाम बनाया था, नरक कुण्ड ही बनाता रहेगा ।

: २३ :

देवानामेतत् परिषूतमनम्यारूढं,
चरति रोचमानम् ।

तस्माज्जातम् ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं,
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् । २३

अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २३।

शब्दार्थ—(देवानाम्) सब दिव्य शक्तियों का वा इन्द्रियों का (परिषूतम्) सम्पूर्ण रूप से निचोड़ा हुआ सार (एतत्) यही ब्रह्मचर्यरूप होकर (रोचमानम्) सब सूर्यादि नक्षत्रों में चमकती हुई शक्ति है, जो (अनम्यारूढं) किसी से न दबने वाली (चरति) सर्वत्र गमन करती है। (ब्राह्मणम्) ब्रह्म सम्बन्धी (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्म) ज्ञान वेद (तस्मात्) उसी शक्ति से (जातम्) उत्पन्न हुआ है। और (अमृतेन साकम्) अमरता के साथ (सर्वे देवाः) सब दिव्य शक्तियाँ अथवा इन्द्रियाँ भी उसीसे पैदा हुई हैं ।

मन्त्र सार—इससे पहले मन्त्र में वेद-ज्ञान ब्रह्मचारी के अन्दर भर देना ही आचार्य का कर्त्तव्य बतलाया है। यह क्यों? इसका हेतु इस मन्त्र में बतलाते हैं। कल्पना करो कि एक बड़ा भारी यन्त्र है जिसमें बहुत सी कलें चल रही हैं, सैकड़ों पहिए चक्कर काट रहे हैं और बीसियों प्रकार की लाभकारी वस्तुएं तैयार हो रही हैं। यदि किसी साधारण मनुष्य को उस कलाघर में अपना काल-यापन करना है तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि कलाघर में प्रवेश करने से पहले वह उस यन्त्र के एक-एक पुर्जों से परिचित हो जाय। इस काम के लिए कौन उत्तम शिक्षक हो सकता है? यदि कलाघर के निर्माता एन्जिनियर की निर्मित तद्विषयक पुस्तक का पाठ कराने वाला योग्य शिक्षक मिल जावे और एक-एक वर्णन को कलाघर पर घटाता चला जाय, तभी कलाघर का पथगामी कलाघर से लाभ उठा सकता है, अन्यथा वह पहियों के चक्कर में फंसकर जान दे बैठने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है?

यह संसार मनुष्य के लिए सबसे बड़ा असीम कलाघर है। इसके अन्दर, मानवी कलाघरों की तरह, केवल निर्जीव जड़ सृष्टि ही नहीं, प्रत्युत् चेतन सृष्टि भी भ्रमण कर रही है। इस विचित्र कलाघर की दिव्य सृष्टि सम्पूर्ण अनादि निर्माता ने ही निर्माण की है। आठों वसु जिनके अन्दर सारी सृष्टि निवास करती है, ग्यारह रुद्र जिनके मिले रहने से स्थिति और जिनके बिछुड़ जाने से मौत और रोग होता है, संवत्सर के बारहों आदित्य, विद्युत् और यज्ञ यह सब उसी प्रकाश स्वरूप से प्रकाशित होते हैं। वह इन सबका प्रकाशक है। और फिर इन देवों में अमरपन भी उसीने डाला है। ये सब प्रकाशक देव जहाँ अपना प्रकाश उसी स्व-प्रकाशस्वरूप से प्राप्त करते हैं, वहाँ इन्हें प्रवाह में अनादि भी इसीने बना छोड़ा है। प्रलय

के पश्चात् जब-जब सृष्टि होती है तब-तब ही शक्तियाँ अपना काम करती हैं—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीश्चान्तरिक्षमथो स्वः'

विधाता ने सूर्य चन्द्र, अन्य प्रकाशमान लोकान्तर तथा पृथिवी, अन्तरिक्षादि पूर्व कल्प की तरह ही निर्माण किए हैं। इन सबका रचयिता, इस कलाघर का निर्माता स्वयं कैसा है ? जगत् के सब प्रकाशमान लोक उसके वश में हैं। सांसारिक एन्जिनियर तो कलाघर निर्माण करके अलग हो सकता है, परन्तु यह एन्जिनियर अपने निर्माण किए कलाघर में व्यापक है, इसलिए यह कलाघर कभी बन्द नहीं होता। कलाघर के निर्माता मनुष्य को पकड़ कर अलग कर दें तो उसके कलाघर की समाप्ति हो जाती है, परन्तु यह संसार रूप माया का स्वामी ऐसा मायावी है कि इसे कोई पराजित नहीं कर सकता। यह प्रकाश स्वरूप सबके ऊपर विचरता है। यह जहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म इतना है कि सूक्ष्मतर पदार्थों के अन्दर भी विद्यमान है वहाँ इतना बड़ा भी है कि सब पदार्थों को घेरे हुए है। इसकी लपेट से बाहर कोई नहीं है।

जो ऐसा ब्रह्म सबसे बड़ा और सबका स्वामी है, जिससे संसार रूपी यह विचित्र 'कलाभवन' न केवल निर्माण ही किया गया है प्रत्युत् जिसके आश्रय पर ही यह स्थित है। तज्ज=तज्-अनु—उसीसे सब सृष्टि होती, उसी पर स्थित रहती और उसी में लय होती है। वह सबको प्रकाश देता हुआ और सबका आधार होता हुआ भी स्वयं किसी आधार की अपेक्षा नहीं रखता। उसी ने इस सारे ब्रह्माण्ड को रचकर उसका ज्ञान मनुष्य को दिलाने के लिए वेद का प्रादुर्भाव किया है। जिसने आँख पीछे दी, पहले उसे दिखलाने के लिए सूर्य का निर्माण किया, उसी ब्रह्म ने मनुष्य की बुद्धि को प्रदीप्त करने के लिए सत्यज्ञान का संसार में प्रसार किया है।

निस्सन्देह सीधे मार्ग पर चलाने के लिए योग्य ब्रह्मचारी को सांसारिक आचार्य की आवश्यकता है, परन्तु यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञान के प्रसारक परमात्मा और जिज्ञासु के बीच में कोई तीसरा पर्दा नहीं आना चाहिए। वहाँ आत्मा की ही पहुँच है, इसलिए धन्य हैं वे नर-रत्न जो सत्य विद्या की प्राप्ति का मार्ग सांसारिक आचार्य से जान कर सीधे ज्ञानेश्वर की शरण में जाते हैं, क्योंकि उसी में जीवन ढूँढ़ने से महत्व की प्राप्ति होती है।

: २४ :

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति,
तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं,
वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेघाम् ॥२४॥

—अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २४ ॥

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी) तेजस्वरूप परमात्मा में विचरने वाला ब्रह्मचारी (भ्राजत्) उसके तेज से स्वयं चमकता हुआ (ब्रह्म) परमात्मा को (बिभर्ति) धारण करता है। तदनन्तर (तस्मिन्) उस तेजस्वी ब्रह्मचारी में (विश्वे देवाः) सब वसु आदि देव (समोताः) पूर्ण रूप से ओत प्रोत हो जाते हैं, तद्धत् हो जाते हैं। तभी वह संयमी (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (व्यानम्) व्यान को (वाचम्) मधुमती वाणी को (मनः) शान्त मन को (हृदयम्) हृदय की विशालता को (ब्रह्म) वेद-ज्ञान को (आत्) और (मेघाम्) उसके योग्य विकसित बुद्धि को (जनयन्) उत्पन्न करता है, युक्त होता है।

मन्त्र सार—ब्रह्म में जिसकी गति हो उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्म तेजस्वरूप है, जो स्वयम् तेजस्वी न हो उसकी तेजस्वरूप में गति कैसे हो सकती है ? वेद में इसलिए आदेश है कि तेजस्वरूप परमात्मा से तेज की याचना पहले करो—‘तेजो-ऽसि तेजो मयि धेहि ।’ जब तक ब्रह्मचारी के ज्ञानचक्षु खुल नहीं जाते तब तक वह ज्ञानस्वरूप का न ज्ञान प्राप्त करता है, न उसकी ओर गमन करता है और न ही उसको प्राप्त होता है। परन्तु जब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है तब उस ब्रह्म के निर्मित सब देव (वसु-रुद्र-आदित्य-विद्युत्-यज्ञ) उस ब्रह्मचारी में ओत-प्रोत हो जाते हैं—अर्थात् ब्रह्मचारी उनके यथार्थ स्वरूप को समझने लगता है। इसमें से एक-एक के तत्व को वह खोल कर रख देता है और उस ज्ञान की सहायता से वह अपने तथा अन्य मनुष्यों के जीवन के लिये प्रकाश प्राप्त करता है। लोग ब्रह्मचारी को उसके गुणों से जानते हैं और तब उसके पीछे चलते हैं।

प्राण, अपान और व्यान-प्राणों की गति का ज्ञान सबसे पहले होता है। वह प्राणों को वश में करना सीखता है। प्राणों द्वारा अन्दर के विकारों को बाहर कैसे फेंकना, बाहर की शुद्ध प्राण वायु को कैसे भीतर ले जाना, सारे अन्तस्थ वायु की समान गति को कैसे स्थिर रखना, इस सारी क्रिया पर ब्रह्मचारी ही प्रकाश डाल सकता है। संसार की सारी गति प्राणों की गति पर ही निर्भर है। एक जापानी वीर शारीरिक व्यायाम आरम्भ करने से पहले क्यों दीर्घश्वास तथा प्रश्वास का अभ्यास करता है ? इसलिए कि प्राणों की गति ठीक होने से ही व्यायाम द्वारा शरीर कमाया जा सकेगा। एक बौद्ध उठाने वाला पहलवान चार मन की मूंगरी पर हाथ डालने से पहले प्राणों को क्यों वश में करता है ? इसलिए कि वह जानता है कि मूंगरी को उठा

कर स्थित रखने के लिए प्रणों की साधना आवश्यक है। जिन वक्ताओं ने प्राणों को वश में करना नहीं सीखा वे बार-बार पानी पीते हैं तथा गला और स्वास्थ्य सब कुछ ब्याख्यान पर न्यौछावर कर देते हैं। एक प्रबन्धकर्त्ता आई हुई विपत्तियों का सामना नहीं कर सकता, यदि प्राण उसके वश में न हों। इसके साथ ही आत्मा को परमात्मा में जोड़ने का साहस भी प्राणों को वश में करके ही हो सकता है। इसलिए उपनिषत्कार ऋषि ने कहा है—
प्राणस्येवं वशे सर्वं त्रिदिदे यत्प्रतिष्ठितम्।

आतेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रजां च विधेहि नः ॥

तीनों लोकों में जो कुछ अवस्थित है वह सब प्राण के वश में ही है। हे प्राण ! जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है वैसे तुम हमारी रक्षा करो, हमारे लिए शोभा और ज्ञान की वृद्धि करो।

जब प्राण वश में हुए तभी वाणी वश में होती है। इस लोक तथा परलोक दोनों की सिद्धि के लिए वाणी का वश में होना बड़ा भारी साधन है। यजुर्वेद में वाणी की महिमा इस प्रकार बतलायी गई है—‘सा विश्वायुः, सा विश्वघाया, सा विश्वकर्मा।’ वाणी ने जहां मनुष्य को चक्रवर्ती राज्य दिलाया है वहां वाणी के दुरुपयोग ने बादशाहों के तख्ते भी पलट दिये हैं। उस वाणी को ब्रह्मचारी ही कल्याणकारिणी बना सकता है। जिसने वाणी के दुरुपयोग से शत्रुओं की संख्या बढ़ा ली हो वह शान्तचित्त होकर नहीं बैठ सकता। मन को संसार का विजेता बतलाया है।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

परमात्म को पाइए, मन ही की परतीत ॥

ऐसे बली मन को क्रमशः साधनों द्वारा ब्रह्मचारी ही काबू कर सकता है। तब हृदय की विशालता का प्रादुर्भाव होता है। संकुचित हृदय संसार यात्रा में पग-पग पर ठोकरें खाता है

और जो चञ्चल मन ऐसे व्यक्ति को विविध नाच नचाता है वह हृदय को महान् कैसे बनायेगा ? 'ओ३म् महः पुनातु हृदये'—हे परमेश्वर ! अपनी महानता से हमारे हृदयों को पवित्र करो, यह नित्य की प्रार्थना कैसी महत्वपूर्ण है । जब तक हृदय उदार नहीं तब तक उस महान् परमेश्वर की महिमा को समझना कैसे हो सकेगा ? उसके विस्तृत जगत् का मर्म बतलाने वाले वेद अपने भेद को उसके लिए कैसे प्रकट कर सकेंगे ?

बाल-ब्रह्मचारी वेद के भेद को खोल कर सर्वसाधारण के सामने रख सकते हैं । वह वेद नहीं जो लेखनी और मसीपात्रों में बँधा हुआ है प्रत्युत् वह वेद जो देश और काल की सीमा से परे है । व्याकुल संसार ने जब-जब ब्रह्मचारी के दर्शनार्थ हृदय से प्रार्थना की तब-तब बाल-ब्रह्मचारी ने दर्शन दिये । अब फिर प्रजा व्याकुल होकर बाल-ब्रह्मचारी की बाट जोह रही है । दया-मय प्रभो ! यदि आपके प्रकाश से तेज धारण करने में कोई ब्रह्मचारी मग्न है तो उसे शीघ्र तेज प्रदान करो, ताकि वह संसार से सन्देह और अविद्या के बादलों को छिन्न-भिन्न करके उड़ा दे ।

२५ : २६

चक्षुः श्रोत्रं यशो धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥२५॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे

तपोऽतिष्ठन् तप्यमानः समुद्रे ।

स स्नातो बभ्रुः पिगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥

—अथर्व० काण्ड ११, अ०, ३ सूक्त ५, २५-२६ ।

शब्दार्थ—हे तेजस्वी ब्रह्मचारी ! तुम हमें (चक्षुः श्रोत्रम्) दृग् शक्ति और श्रवण शक्ति से युक्त आँख और कान तथा अन्य

सब शक्तिशाली इन्द्रियों को (यशः) निष्कलङ्क यश को (अन्नम्) पवित्र अन्न को (रेतः) कामवासनाशून्य वीर्य को (लोहितम्) शक्तिमय लाल खून को और (उदरम्) रोग रहित तथा शरीर वर्धक पेट को (धेहि) धारण कराओ ॥२५॥ •

सब मनुष्यों के लिए (तानि) चक्षु आदि इन्द्रियों को और यश आदि पदार्थों को (कल्पत्) सामर्थ्य युक्त बनाता हुआ (ब्रह्म-चारी) जितेन्द्रिय और यशस्वी ब्रह्मचारी ही (सलिलस्य पृष्ठे) गम्भीर ज्ञान समुद्र के तल पर (तपोऽतिष्ठत्) तप करता हुआ ठहरता है। इस प्रकार (समुद्रं) ज्ञान समुद्र में (तप्यमानः) तपाया जाता हुआ (सः) वह ब्रह्मचारी ही (स्नातः) असली स्नातक होकर ज्ञान वारिधि में नहाया हुआ होकर (बभ्रुः) चक्षु आदि इन्द्रियों का और यश आदि पदार्थों का धारण करता हुआ (पिंगलः) अत्यन्त तेजस्वी होता हुआ (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (बहु रोचते) नाना प्रकार से सुशोभित होता है ॥२६॥

मन्त्र सार—‘स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्’—वह पूर्वजों का भी आचार्य, गुरुओं का भी गुरु हम सबको क्रमशः ब्रह्मचर्य की अन्तिम सीढ़ी पर ले जाता है। हमने सबसे पहले आँख को दृढ़ करना है, फिर श्रोत्र और उसके साथ अन्य सब इन्द्रियों को। नित्य सन्ध्या में इसीलिए ऋषियों ने सर्व शुद्धि की प्रार्थना बतलाई है। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिर, बाहु और हाथों को सावधान करके और उनको वश में रखने की प्रतिज्ञा करके भक्त मार्जन मन्त्र द्वारा इन सबकी पवित्रता के लिये याचना करता है।

ऊपर के २५ वें मन्त्र में सिलसिला और है। आँख और कान प्रतिनिधि हैं उन सबमें इन्द्रियाँ आ गईं। जब वे पवित्र हों तब अपयश नहीं होता, प्रत्यक्ष पाप न होने से यश बढ़ता है। यश से अन्न प्राप्त होता है। शुद्ध अन्न यशस्वी को ही मिलता

है। पवित्र अन्न का उपभोग करने वाले का वीर्य शुद्ध होता है। वीर्य का अन्न पर ही आधार है। वीर्य ठीक होने से रुधिर की गति ठीक रहती है। वीर्यहीन पुरुष का रुधिर नियम में नहीं रहता। रक्त की शुद्धि का साधन प्राण वायु है और उसमें वीर्य की अरक्षा से विकार आ जाता है। इन सब शुद्धियों पर उदर की शुद्धि निर्भर है और उदर की शुद्धि के बिना मनुष्य की सारी बनावट अशुद्ध हो जाती है।

यह सारा शुद्धि का क्रम ब्रह्मचर्य के यथावत् पालन पर ही निर्भर है। ब्रह्मचारी इन सब मंजिलों से पार होकर समुद्र के समान गम्भीर हो जाता है। और इतना तेज धारण करता है कि सर्वसाधारण से ऊँचा उठ जाता है। जिस प्रकार पर्वत पर चढ़ कर महात्मा पुरुष मर्त्यलोक के निवासियों के मार्गदर्शक बनते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने तपोबल से तेजस्वी होकर ऊपर उठता है। तब विद्यारूपी समुद्र में स्नान से तेज धारण किया हुआ ब्रह्मचारी अपने प्रकाश से सर्वसाधारण को अपनी ओर खींचता हुआ उमकी शुद्धि का साधन बनता है।

इस ब्रह्मचर्य का जब भारत में प्रचार था उसी समय यह देश सारे संसार का शिरोमणि था और सारे संसार के लोग अपनी आचार शुद्धि के लिए इसी 'देव निर्मित' देश की शरण में आया करते थे। अब भी यदि संसार की गिरी हुई दशा का सुधार होगा तो ब्रह्मचर्य के ही पुनरुद्धार से होगा।

दृश्येय वाक्य—व्यक्ति-व्यक्ति के आर्यकरण एवं परिवारों के वैदिकीकरण से ही आर्यसमाजोदय होगा। आर्यसमाजोदय से ही भारतोदय होगा और भारतोदय से ही विश्वोदय होकर देव दयानन्द के दिव्य स्वप्न साकार होंगे।

ओ३म्

कल्याण मार्ग का पथिक

(संक्षिप्त)

[श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी की आत्मकथा]

ऋषि दयानन्द के चरणों में !

ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पट पर अब तक ज्यों की त्यों अङ्कित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते २ तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है? परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है?—परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया।

मैं क्या था? इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूँ? वह सब तुम्हारी कृपा ही परिणाम है। इसलिए इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्म शताब्दी पर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूँ। तुम वाणी द्वारा प्रचार करने वाले केवल तत्व-वेत्ता ही न थे परन्तु जिन सचाइयों का तुम संसार में प्रचार करना चाहते थे उनको क्रिया में लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान् कृष्ण की तरह तुम्हारे लिए भी तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया था परन्तु तुमने संसार को सीधा मार्ग दिखाने के लिए कर्म की उपेक्षा नहीं की।

भगवन् ! मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। इसलिए जिस परम पिता की असीम गोद में तुम परमानन्द का अनुभव कर रहे हो उसी से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करे। विनीत—

प्रस्तावना

अपना जीवन वृत्तान्त सर्वसाधारण के आगे रखना उन उच्चकोटि के महानुभावों को ही शोभा देता है। जिन्होंने संसार में किसी न किसी बड़े काम में कृतकार्यता प्राप्त की हो, फिर उत्तम लेखक भी उन्हीं की जीवनी को मुद्रित करना उचित समझते हैं जिन्होंने कोई अपूर्व काम किया हो, चाहे उस काम से संसार की उन्नति हुई हो या पहिले से भी बढ़कर संसार रसातल को चला गया हो। मैं जानता हूँ कि मेरी जीवन-कथा दोनों कोटियों में नहीं आ सकती, फिर भी मैंने अपनी कहानी सर्वसाधारण के आगे रखने का साहस क्यों किया?

अभी ५० वर्ष भी पूरे नहीं हुए कि भारतवर्ष के नव-युवक सिवाय खाने-पीने, भोगने और उसके लिए धन संचय करने के अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते थे। गुलामी में वह जन्म लेते थे और उस दासता की अवस्था को अनिवार्य समझ कर गन्दगी के कीड़ों की तरह उसी में मस्त रहते थे। उन्हें मालूम न था कि उनके पुरुष भी किसी समय में सम्यता का स्रोत थे। उन्हें यही बतलाया गया था कि भारतीय अर्ध-सम्य हैं, उनकी कोई संस्कृति थी ही नहीं और यदि वह गिरी हुई अवस्था से उठना चाहते हैं तो उन्हें योरोपियन सम्यता की शरण में जाना चाहिए। इस पुस्तक का लेखक स्वयं किन विचारों का था, वह उसकी जीवन-यात्रा की कहानी पढ़ने से विदित होगा।

आचार्य ऋषि दयानन्द ने आर्यावर्त्त की प्राचीन संस्कृति का सप्रमाण चित्र खींच कर न केवल आर्य सन्तान के अन्दर ही आत्म-सम्मान का भाव उत्पन्न किया प्रत्युक्त योरोपियन विद्वानों को भी, उनकी कल्पनाओं की असरता दिखाकर, चक्कर में डाल दिया। हिन्दू युवक अपने प्रत्येक आचार-व्यवहार को दूषित और योरोपियनों के गिरे से गिरे अनाचार और दुस्रचार को

भी वाद्यों समझा करते थे। मैंने भी उसी विद्यालय में शिक्षा पाई थी जिसने हिन्दू मुवकों को अपनी प्राचीन संस्कृति का जन्म देना दिया था।

बाबू बन की भारतीय जनता १० वर्ष पूर्व का इतिहास पढ़कर उस समय के भारतीय लेखकों को तुच्छ दृष्टि से देखती है और उनके ज्ञान पर आश्चर्य करती है और यह समझ बैठे है कि ज्ञान से ज्ञान की ओर जाने के बीच में कोई भी मॉबिल तब नहीं करनी पड़ी। इसी ज्ञान को दूर करने के लिए मैंने अपनी जीवन-यात्रा की कहानी सविस्तार लिख दी है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावट की कहानियाँ बहुत से श्रद्धानु हृदयों को ठेग नमायेगी, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस जात्म-कथा के पाठ से बहुत से मुवकों को संसार-यात्रा में ठेकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।

मेरे पुराने साथी प्रायः सब चल बसे हैं। वर्षसमाप्त में प्रवेशकाल के नये साथियों में भी बहुत हास हो चुका है। मुझे भी मोत सिर पर सड़ी दिखाई देती है। फिर अन्त-करण में निराशा की लहर जब कभी उठती है उसी समय श्रद्धा-सागर में विलीन हो जाती है। मेरा जीवन बासातीत व्यतीत हुआ है इसलिए जब तक दम में दम है तब तक मनुष्य को वेदम नहीं होना चाहिए, यह मेरा सिद्धान्त है।

पाठकवृन्द ! 'कल्याणपाम' के पथिक' की कहानी में जो कुछ भी आपको शिक्षाप्रद दिखाई दे उसे ग्रहण करो, परन्तु जो कुछ अहितकर प्रतीत हो उसको उपेक्षा-दृष्टि से ही देखो। मुसाई तुलसीदास ने ठीक कहा है—

बड़ जेहन दुन्दुब मय, बित्त कोन्ह करतार ।

सन्त हंस मुष सर्जि, जन् परिहरि वारि विकार ॥

दिल्ली नगर

सन् १९५२

—श्रद्धानन्द संन्यासी

स्थानी श्रीधामं ६- १८५७ - १८५९ - १८६०
 १८६१ - १८६२ - १८६३ - १८६४ - १८६५ - १८६६ - १८६७ - १८६८ - १८६९ - १८७० - १८७१ - १८७२ - १८७३ - १८७४ - १८७५ - १८७६ - १८७७ - १८७८ - १८७९ - १८८० - १८८१ - १८८२ - १८८३ - १८८४ - १८८५ - १८८६ - १८८७ - १८८८ - १८८९ - १८९० - १८९१ - १८९२ - १८९३ - १८९४ - १८९५ - १८९६ - १८९७ - १८९८ - १८९९ - १९०० - १९०१ - १९०२ - १९०३ - १९०४ - १९०५ - १९०६ - १९०७ - १९०८ - १९०९ - १९१० - १९११ - १९१२ - १९१३ - १९१४ - १९१५ - १९१६ - १९१७ - १९१८ - १९१९ - १९२० - १९२१ - १९२२ - १९२३ - १९२४ - १९२५ - १९२६ - १९२७ - १९२८ - १९२९ - १९३० - १९३१ - १९३२ - १९३३ - १९३४ - १९३५ - १९३६ - १९३७ - १९३८ - १९३९ - १९४० - १९४१ - १९४२ - १९४३ - १९४४ - १९४५ - १९४६ - १९४७ - १९४८ - १९४९ - १९५० - १९५१ - १९५२ - १९५३ - १९५४ - १९५५ - १९५६ - १९५७ - १९५८ - १९५९ - १९६० - १९६१ - १९६२ - १९६३ - १९६४ - १९६५ - १९६६ - १९६७ - १९६८ - १९६९ - १९७० - १९७१ - १९७२ - १९७३ - १९७४ - १९७५ - १९७६ - १९७७ - १९७८ - १९७९ - १९८० - १९८१ - १९८२ - १९८३ - १९८४ - १९८५ - १९८६ - १९८७ - १९८८ - १९८९ - १९९० - १९९१ - १९९२ - १९९३ - १९९४ - १९९५ - १९९६ - १९९७ - १९९८ - १९९९ - २००० - २००१ - २००२ - २००३ - २००४ - २००५ - २००६ - २००७ - २००८ - २००९ - २०१० - २०११ - २०१२ - २०१३ - २०१४ - २०१५ - २०१६ - २०१७ - २०१८ - २०१९ - २०२० - २०२१ - २०२२ - २०२३ - २०२४ - २०२५ - २०२६ - २०२७ - २०२८ - २०२९ - २०३०

१८५७-२ ७६९

पत्नि-शिवदेवी → विधवा-१८६५-श्रेष्ठ मुस्लिमी

संवा. २ पुत्र ① एमिश्वाँ ② शंकर
 २ पुत्री ① वेदकुमारी ② अमृताश्री

बोझ

मुला. ०० ५४ ०४
 ३३ कुल शिवाजी
 स्थाना. १८०२
 अमृताश्री
 २५ ११ १९ ५१ ५१ ५१
 शिव

अनृत जीवन से श्रेय की ओर

प्रथम परिच्छेद

अन्धकार और प्रकाश का युद्ध

६. २१
 १८५७

माँ पर पूत पिता पर घोड़ा । बहुत नहीं तो घोड़ा घोड़ा ॥
 सम्वत् १८१३ विक्रमी, मास फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता उन दिनों रोजवार की तलाश में घर से बाहर गये हुए थे। पञ्चनद (पंजाब) प्रान्त में चीतखर एक जिला है जो अपने मुख्य नगर के नाम से प्रसिद्ध है।

तत्काल में मेरा जन्म हुआ और पाषाण ने जन्म-नाम बृहस्पति रखकर भी प्रसिद्ध नाम 'मुन्शीराम' रख दिया। मेरे तीन भाई और थे तथा दो बहिनें। मैं सबसे छोटा अपनी माता की अन्तिम सन्तान था। जामु के क्रमानुसार सब भाई बहिनों के ये नाम थे :- (१) सीताराम (२) प्रेमदेवी (३) मृत्ताराम (४) द्रौपदी (५) आत्माराम (६) मुन्शीराम।

तत्कालीनों ने दो प्रकार के संस्कार बतलाये हैं। पूर्व जन्म के संस्कार ही वर्तमान योनि के कारण होते हैं और उन्हीं के अनुसार बुरे वा श्रेष्ठे माता-पिता भी मिलते हैं। उन माता-पिता के गुणों-अवगुणों का विशेष प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। इनको पैतृक संस्कार कहते हैं। यद्यपि पैतृक संस्कार भी अपने पूर्व

स्वामी महात्मन जी के पिताजी का नाम ता० बालकचन्द्रजी वा.

कर्मों के ही फल हैं तथापि इन्हें अलग समझकर भी जीवन के बहुत से भेद खुल जाते हैं ।

बालकपन गया खेलकूद में !

मेरी आयु तीन वर्ष की हो चुकी थी जब मेरी माता मुझे और मेरे दो भाइयों को साथ लेकर बरेली पहुँचीं । बरेलीमें तीन वर्ष खेलकूद में ही व्यतीत हुए । मेरे दोनों बड़े भाई तो मौलवी साहब से पढ़ने लगे किन्तु मैं खुले मैदान घूमता और सारी पुलिस लाइन्स से लाड़ लड़ाया जाता रहा । पिताजी ने मुल्लाजी से ही सब कुछ पाया था, अंग्रेजी शिक्षा का अभी नमूद ही होने लगा होगा और बरेली का संस्कृत के साथ कुछ सम्बन्ध ही न था । मुसलमानी की वहाँ पूरी बादशाहत थी । मेरे भाई घोखते-घोखते थक जाते और मौलवी साहब के सामने फिर भो सब्रक (पाठ) पूरा न सुना सकते, मैं वही फट फट सुना देता । पिताजी ने मुझे यह बतलाया था कि मैं उस आयु में भो पर्यायवाची शब्द जोड़ कर अन्वय अपना बना लिया करता था । हम तीनों भाइयों के मनों और शरीरों की रक्षा करने वाला कोई न था । मैं तो तच-मुच खुदरी वृक्ष की तरह स्वयं ही बढ़ता रहा ।

बरेली से एक दर्जा उन्नति पाकर मेरे पिता बदायू बदल गए और बदायू से शायद सम्बन् १९२२ के अन्त में मेरे पिता की बदली, एक-दर्जा उन्नति के साथ, काशी (बनारस) के जिले में हो गई ।

पठन-पाठन का आरम्भ

अब तक जो कुछ सीखा निगुरा रहकर ही सीखा था । उस बंरागी की तरह जिसने सारी गीता रगड़ मारी और गुरु एक न बनाया, मैंने भी जहाँ पंजाबी स्त्रियों के मुख से 'काशी-महात्म' सुनकर उसे कण्ठ कर लिया था, वहाँ पिताजी के नित्य पाठ के स्तोत्रों के कुछ भाग भी कण्ठ कर छोड़े थे । संवन्

१९२३ के आरम्भ में मुझे यज्ञोपवीत पहिनाया गया । पिताजी ने एक पण्डित को पढ़ाने के लिए नियत करके देवनागरी अक्षरों का अभ्यास और आर्यभाषा की पढ़ाई आरम्भ करा दी । पश्चात् पिताजी ने हमें हिन्दी पाठशाला में भरती करा दिया । नैतिक पाठ तो मैं पाठशाला में ही समाप्त कर आता और घर में आकर पिताजी की तुलसीकृत रामायण ले बैठता । सवा डेढ़ वर्ष तक पढ़ाई का यह क्रम चला और फिर मेरे पिताजी की बदली जिला बाँदा (प्रान्त बुन्देलखण्ड) को हो गई ।

दो विशेष घटनायें

काशी से बाँदा प्रस्थान करने से पूर्व दो विशेष घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक है, जिन्होंने मेरे जीवन के भविष्य पर बड़ा प्रभाव डाला था । इनमें से पहली 'देशभक्त डाकू संग्रामसिंह' का दर्शन था । संग्रामसिंह बनारस जिले के एक ग्राम का साधारण कृषिकार था और साधारण जीवन व्यतीत करता था । उसकी अनुपस्थिति में पुलिस ने उसके घर की तलाशी ली और उसकी धर्मपत्नी का सतीत्व नष्ट करने की कुचेष्टा की । राजपूत ने घर लौट कर सब हाल सुना तो पुलिस के बड़े अफसर के पास फरियादी गया । वहाँ उसके साथ भी पिशाचत्व का वर्ताव हुआ । राजपूत खून जोश में आया, पुरानी छिपाई हुई तलवार निकाल पहले निरपराधिनी अर्द्धाङ्गिनी को सदा के लिये बदनामी से बचा कर संग्रामसिंह ने जङ्गल की राह ली । तलवार का स्वयं धनी था, उसके साथ दूसरा राजपूत हाथीसिंह मिल गया, जिसका बन्दूकी निशाना कभी खाली नहीं जाता था । जनरल संग्रामसिंह और कप्तान हाथीसिंह ने अपने साथ बीस प्रचीस सिपाही और लिये और संग्रामसिंह एक छोटी सी सेना का सरदार हो गया ।

संग्रामसिंह के विषय में उसी प्रकार की लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हो गईं जो देशभक्त डाकुओं के विषय में अंग्रेजी इतिहास तथा उपन्यास की पुस्तकों में मैंने दूसरी बार काशी में आकर पढ़ी थीं। अमीरों को लूटने और निर्धनों को आर्थिक सहायता देने की कई कहानियाँ प्रसिद्ध थीं।

अब शहर बनारस पर डाकुओं के आक्रमण होने लगे। शहर कोतवाल एक राजपूत, आलमसिंह नामी था। उसने डींग मारी कि एक मास के अन्दर ही संग्रामसिंह को पकड़कर साहब मजिस्ट्रेट के हवाले कर देगा। संग्रामसिंह को पता लग ही जाना था। चार पाँच दिन पीछे कोतवाली के बोर्ड पर संग्रामसिंह का इशतिहार लग गया। आलमसिंह को सम्बोधन करके लिखा था—“अब हमारे धावे काशी नगर पर ही हो रहे हैं। चन्द्रग्रहण का स्नान करने भी आऊँगा यदि क्षत्री के वीर्य से है तो सामने होना।”

कुछ दिन पीछे चन्द्रग्रहण का नहान था। अपनी माता को गङ्गा नहलाने के लिये संग्रामसिंह ने दो साथियों समेत मणिकर्णिका घाट का रास्ता लिया। माता को नहला और साथियों की रक्षा में चलता करके आप उस स्थान की ओर बढ़ा जहाँ आलमसिंह कोतवाल, पुलिस रिजर्व समेत, प्रबन्ध के लिये बैठा था। आलमसिंह के लगाये पहरे व्यर्थ गये, क्योंकि एक देहाती कम्बल ओढ़े आलमसिंह की ओर बढ़ा और चेहरा कम्बल से बाहर निकाल कर बोला—“देख संग्रामसिंह स्नान करके जा रहा है।” आलमसिंह चौंक उठा और कुछ बोलने को ही था कि संग्रामसिंह की छुरी बिजलीसी चमक गई। आलमसिंह घबरा कर पीछे हटा और संग्रामसिंह भीड़ में अन्तर्धान हो गया—“दौड़ियो, पकड़ियो ! वह गया, वह गया !” अब शोर मचाने से क्या होता था ! बाज तो उड़ गया। × ×

अन्त को जब पुलिस के आने जाने से साधारण मामँ भी बन्द होने लगे तो तीन जिलों में नई पुलिस भरती करके हज़ारों पुराने जवानों द्वारा सब रास्ते घेर लिये गये। मेरे पिता भी एक स्थान पर बहुत सी पुलिस समेत नाकाबन्दी किये बैठे थे। पाँच दिन नदी के पानी में घूमने के पीछे संग्रामसिंह पाँच छः साथियों समेत कुछ भोजन लेने को निकला। इसका एक आदमी पिताजी के हाथ लगा, उससे पता पाकर पुलिस गिरफ्तारी को बढ़ी। संग्रामसिंह आदि एक चमार की झोंपड़ी में घुस गये। झोंपड़ी को आग लगा दी गई। बहादुर राजपूत बाहर निकला। पानी की नमी से बारूद काम का न रहा। बन्दूक रज्जक चाट गई। तलवार खींची तो मियान से बाहर न निकली। इधर पुलिस ने गोलियों की बाढ़ें झोंकनी शुरू कर दीं। पाँचों साथी गिर गये। संग्रामसिंह ने बन्दूक उल्टी पकड़ कर उससे लाठी का काम लिया। तीन चार सिपाही आन की आन में बिछा दिये और पिताजी के घोड़े की गर्दन पर ऐसी चोट लगाई कि जानवर बहुत पीछे हट गया, पिताजी ने पहले अकेले पर गोली चलानी बन्द करादी थी, अब अपने क्षत्रियत्व के भाव को भूल कर फिर बाढ़ भुकवा दी। संग्रामसिंह २४ वा २५ गोलियाँ खाकर गिर गया और उसे बाँध कर बनारस के अस्पताल में ले आये। प्रसिद्ध है कि जब अंग्रेज सिविल सर्जन (बड़े डाक्टर) ने उसके २५ घाव देखे और कहा कि अन्त को, तू पकड़ा गया तो वीर क्षत्री ने उत्तर दिया—“इस प्रकार पकड़ना बहादुरी नहीं, मेरे हाथ में एक तलवार दे दे और मेरे सम्मुख २० आदमी खड़े करा दे। फिर देखूँ मुझे कौन पकड़ता है ?” साहब बहादुर उसकी कड़क से आश्चर्य-चकित हो गये। फाँसी तो मिलनी ही थी, परन्तु उसे यमपुर पहुँचा कर भी हिन्दोस्तानी पुलिस अफसरों को शोक ही हुआ। एक तो चारपाई पर लेटे हुए संग्राम-

सिंह के दर्शन मुझे स्मरण हैं जिसे दूसरी बार काशी पहुँच मैं याद किया करता और दूसरी घटना—“एक नास्तिक जादूगर” से मेरी रक्षा की थी। काशीमें प्रसिद्ध हुआ कि एक वेद शास्त्र का ज्ञाता बड़ा नास्तिक आया है जिसके दोनों ओर दिन में मशालें जलती हैं। जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है उनके तेज से दब जाता है। मुझे भली प्रकार याद है कि माता जी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थीं—इस भय से कि कहीं हम दोनों भाई जादूगर के फन्दे में न फँस जायँ। पिताजी ने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्ध ‘अवधूत दयानन्द की’ थी। माता जी को क्या मालूम था कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा वच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अकृत्यायी बन जायगा।

बाँदा में तीन वर्ष : रामभक्ति का मधुर रस

बाँदा में पहुँचकर हमारी शिक्षा का माध्यम बदल गया। बड़े भाई ने मियाँ जी से फारसी हल्फ सीखे हुये थे। मैं ‘अवजद’ से निरा कोरा ही था, केवल हिन्दी लिखना पढ़ना जानता था। बाँदा के स्कूल में हिन्दी की प्रतिष्ठा न थी। उर्दू बेगम का ही राज था। उस समय केवल ६ श्रेणियों में मिडिल शिक्षा विभक्त थी। भाई तो दूसरी कक्षा में प्रविष्ट हुए और मैं पहली के ही विभाग के योग्य समझा गया। एक तो लिपि भेद और दूसरे बाँदा की झोपड़ियाँ काशी के प्रासादों की याद दिलाती थीं। परन्तु तीन महीनों के पीछे ही मिडिल की ८ कक्षाएँ बन गईं। अब मेरे भाई तो द्वितीय में ही रहे और मैं तीसरी के योग्य समझा गया।

पाठशाला से बाँहर मैं तुलसीकृत रामायण के अतिरिक्त देशभाषा पद्य में महाभारत का अनुवाद भी पढ़ा करता और छुट्टी के दिन युद्ध के पर्व प्रायः समाप्त कर देता था। ‘राम-

चरितमानस' से बुद्धू भक्त द्वारा अधिक प्रेम उत्पन्न हुआ ।

बुद्धू भक्त के सत्सङ्ग का पिताजी पर तो यह प्रभाव पड़ा कि पुलिस डायरी तैयार करने के पीछे रात को अपराधी और फरियादी, थानेदार और जमादार, सिपाही और खलासी सबको एक आसन पर बैठाकर रामायण की कथा सुनाते थे, और कभी-कभी यह कथा मुकदमा साफ करने का साधन भी बन जाती । मुझ पर इस सत्सङ्ग का प्रभाव अब तक वैसा ही है । अब बाँदा में प्रत्येक आदित्यवार को हनुमानचालीसा का एक टाँग के भार खड़े होकर सौ बार पाठ करने के पीछे नमक-शून्य भोजन करता था । वहाँ शनीचर को स्कूल से लौटकर जो बालकाण्ड का आरम्भ करता तो आदित्यवार की रात तक लङ्काकाण्ड की समाप्ति कर देता ।

मिर्जापुर में ५ मास : बिंदवासिनी के दर्शन

मिर्जापुर में पहुँचते ही चैत्र के नवरात्र में बिंदवासिनी देवी का मेला था । पिताजी का खेमा विन्ध्याचल पर जा लगा और मैं उनके साथ ही मेले का आनन्द लूटता रहा । पढ़ाई में यह भी विघ्न था, पर अनुभव वहाँ भी बढ़ा । उसी स्थान में पिताजी के अर्दली साजन्ट जोखू मिसिर की लीला देखी । देवी पर मिर्जापुर में जो बकरे चढ़ते उनमें से सात की सिरिएं मिसिरजी की पेट पूजा के लिये भेंट में आतीं । सात बकरोँ के सिर मुफ्त, कण्डों (उपलां) की आग मुफ्त, मिट्टी की हँडिया मुफ्त, नमक व हल्दी भी मुफ्त—हाँ, पावभर चून (आटा) मोल लाना पड़ता । जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे, सातों सिरियों का सफाया करके शेष थाली पावभर चून की लिट्टी से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूँबड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे । एक दिन हँडिया पकते-पकते पिताजी का नौकर

चिमटे से चिलम में आग घर लाया। गिसिरजी आग बबूना हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले—“अरे सरकार ! हम आपन धरम कबहूँ नहीं छोड़ा, अरे ! झूठ बुवाला, जुवा खेला, गाँजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिसवत लिहा, चोरी दगाबाजी कहा—कौन फन फरेव बाटे जौन हम नहीं किहा, मुल सरकार ! आपन धरम नहीं छोड़ा !” सरकार तो मुस्करा के चल दिये और मेरे पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये।

श्रावण संवत् १९२८ के आरम्भ में मेरे पिताजी अब्बल दर्जे के इन्स्पेक्टर बनाये जाकर और १००) मासिक विशेष वेतन म्युनिसिपलिटि से इसके अतिरिक्त प्राप्त कर काशी बना-रस को बदल गये और वहाँ जाकर उन्होंने पण्डित रघुनाथ-प्रसाद कोतवाल के स्थान में अहर की कोतवाली का चाब ले लिया।

काशी में दूसरी बार

काशी पहुँचकर कुछ महीनों के लिए मेरा पढ़ना-लिखना फिर बन्द हो गया। काशी की कोतवाली एक नब्वाबी समझी जाती है।

वर्षा ऋतु में काशी पहुँचना हुआ। कजरी का माना जोरों पर था और हम दोनों भाई नवान्जदे ! कोतवाल के द्वार पर रईसों की बग्घियाँ, फिटनादि हर पल खड़ी रहतीं, फिर द्या था, नित्य नये मेलों में जाना ही एक काम था। कहीं लोलारफ छठ, कहीं दुर्गादेवी (जिसे अंग्रेज Monkey temple कहते हैं) के दर्शन, कहीं गौनहारियों के नाच विचित्र समाँ बंधा रहता था

संवत् १९२९ का आरम्भ हो चुका था और यतः स्कूल में चौथी कक्षा तक ही पढ़ाई होती थी अतएव मैंने नीचे की ओर उन्नति करके चौथी के स्थान में तीसरी जमाअत में ही नाम

लिख लिया। मेरा नाम इस स्कूल में शास्त्रपद सम्बत् १९२६ वि० के अन्त तक रहा जिसके पीछे मेरे पिताजी की तबदीली 'बलिया' हो गई।

शिक्षा का नियमपूर्वक अध्ययन

✓ सुखाचिनः कुतो विद्या विद्याचिनः कुतः सुखम् ।

सुखार्थो वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थो वा त्यजेत्सुखम् ॥

बलिया पहुँचकर भी शायद पढ़ाई-लिखाई का 'बल्ला बेली' होता परन्तु वहाँ के स्कूल के मुख्याध्यापक बाबू मुकर्जी पिताजी के पास पहुँच गए और यद्यपि उनके स्कूल में चौथी से कम कक्षा न थी फिर भी परीक्षा देने के पीछे मुझे अकेले के लिये तीसरी कक्षा बनाई गई। इङ्गलिस भाषा में मेरी योग्यता बढ़ी हुई थी। इसीलिए जहाँ कुछ दिनों पीछे एक अंग्रेज कमिश्नर ने मेरे शुद्ध उच्चारण से प्रसन्न होकर विशेष पारितोषिक दिया था, वहाँ मार्ग-शीर्ष संवत् १९२६ के मध्य में राजा शिवप्रसाद (C. S. I.) सी० एस० आई० इन्स्पेक्टर आव स्कूल्स ने परीक्षा लेकर मुझे द्वितीय कक्षा में उन्नति दी।

क्वींस कालिज, बनारस में प्रवेश

पौष सम्बत् १९३० में मेरा प्रवेश कुइन्स कालिज बनारस में 'पाठशाला' विभाग में हो गया। इन्स्पेक्टर के प्रमाणपत्र को देखते ही मुझे द्वितीय कक्षा में ले लिया गया।

यहाँ विद्यार्थी बनकर मैं संवत् १९३४ के ज्येष्ठ मास के अन्त तक बराबर रहा। इस अन्तर में केवल सम्बत् १९३२ का पूरा वर्ष रेवड़ी तालाब के स्कूल 'जयनारायन कालिज' में गुजारा, जेठ ३३ वर्ष बनारस कालिज की चार दीवारी में ही व्यतीत किए। रेवड़ी तालाब के स्कूल में एक वर्ष मेहमान बनकर काटा, अगली विद्यागृह में कुइन्स कालिज को ही समझता रहा।

कालिज के प्रिन्सिपल प्रिफिथ साहब थे जो वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद इङ्गलिश पद्य में करने के अतिरिक्त चारों वेदों के अनुवादक थे ।

गणित के प्रोफेसर मिस्टर राजर्स भी अपने विषय में निपुण थे और उन्हीं के पढाये हुए, उनके शिष्य, लक्ष्मीनारायण मिश्र सहायक प्रोफेसर थे और पीछे से गणित, साइन्स दोनों के प्रोफेसर होगये। इङ्गलिश के प्रोफेसर किबल प्रिन्सिपल साहब की अपेक्षा भी नाटे थे, परन्तु हर समय उनकी नस-नस फड़कती रहती थी। अंग्रेजी के सहायक प्रोफेसर दो हिन्दुस्तानी एम० ए० थे—एक बालकृष्णभट्ट और दूसरे उमाचरण मुकर्जी । ये दोनों भी अपने विषय में बहुत योग्य थे, जिनमें भट्टजी तो सदाचार की मूर्ति थे ।

मेरे पूज्य मौलवीसाहब और सर सय्यद अहमद

फारसी अरबी के मुख्य उपाध्याय का नाम “मौलवी साहब” के अतिरिक्त मुझे और कुछ याद नहीं और उस समय भी उनके सब शागिर्द उन्हें मौलवी साहब करके ही जानते थे । मौलवी साहब ने अपने किसी शिष्य को भी सम्बोधन करते हुए सिवाय “बरबुरदार” (विरंजीव) के और किसी शब्द का प्रयोग किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं ।

अपने मौलवी साहब के पैतृक प्रेम का जब स्मरण आता है तो अब भी दिल भर आता है और हिन्दू मुसलमानों के झगड़ों को देखकर बड़ा कष्ट होता है । जिस पवित्र भूमि ने दोनों को जन्म दिया, जिसके अन्न-जल ने उन्हें पाला, जिस गङ्गा के शीतल जल ने शान्ति देने में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई में कोई भेद नहीं किया, उस मातृभूमि के पुत्र आपस में लड़ झगड़ कर माता को दुःखाने हैं, यह कैसे कष्ट की बात है ! परन्तु जिस समय का मैं जिक्र कर रहा हूँ उससे पहले भी सम्वा १९२३ में चन्द्रनगर के

फगंसीसी चीफ जस्टिस 'लुइस' ने काशीपुरी में पहुँच कर लिखा था "ज्योंही मैंने मांझी को अपना बजरा शिवजी के घाट पर बांधने का हुकुम दिया त्योंही एक घटना ने मुझे आश्चर्यित कर दिया। हिन्दू और मुसलमान..... बनारस के घाटों की सीढ़ियों पर बिना भेद भाव के इकट्ठे नहा रहे थे। यद्यपि पैगम्बर (मुहम्मद साहब) के अनुयायी सदा मूर्तिपूजा के विरुद्ध और तलवार के साथ युद्ध करते रहे हैं परन्तु औरङ्गजेब के शासन-काल से पहले वे अपने पराजित शत्रु के पवित्र तीर्थ का मान कहते रहे थे।"

मेरे सामने काशी में सर सय्यद अहमद की बदौलत हिन्दू मुसलमानों में परस्पर विद्वेष की बुनियाद पड़ने लग गई थी, परन्तु मेरे पूज्य मौलवी साहब के ढर्रे के मुसलमान उस विरोध को देख कर दुखी होते थे।

यह था विद्वन्मण्डल जिसकी छत्र-छाया में मैंने काशी के अन्दर ३१। वर्ष से अधिक व्यतीत किए, परन्तु शुष्क पुस्तक पाठ के अतिरिक्त मुझे, उन छः घण्टों में भी जो मैं विद्यालय में नित्य बिताता था, इन विद्वानों से एक भी शिक्षा, जीवन सुधार के लिए न मिली। वह शिक्षा की विधि अब तक भारत सन्तान के जीवन को खोखला कर रही है, और जो कहीं-कहीं उसके विष-घर प्रभाव को दूर करने का यत्न होता है वह भी पूर्णतया फल-दायक नहीं होता।

व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन

मेरे एक स्वभाव "गङ्गा गए गंगादास यमुना गए यमुन-दास" का ज्ञान मुझे काशी में हुआ। बनारस पहुँचते ही मैंने अपने जीवन की सारी गति बदल डाली। बलिया में तीन महीने के अन्दर ही, मैं भोजपुरी बोली और हकूमत के शकोलों से मस्त

होकर ठाठ-बाट से सिंह-सरदारों की पोशाक पहिरने लग गया था। बनारस पहुँच कर एक महीने के अन्दर बनारस की खड़ी बोली बोलने लग गया। स्कूल में प्रवेश के १५ दिनों पीछे ही हकूमत का सारा नशा हिरन हो गया और विद्वानों के विद्यार्थी जीवन की कहानियाँ पढ़-पढ़ कर उनके अनुकरण की चेष्टा करने लगा।

अन्धविश्वास के जीवन की समाप्ति

अविद्याभ्यामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमाना ।

जंघन्यानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नोपमाना यथान्धाः ॥

इस परिवर्तित क्रम में जहाँ प्रातःकाल गंगास्नान से पहिले कुस्ती का फिर प्रारम्भ हो गया था और डलिया झाड़ी लेकर विश्वनाथादि की पूजा अर्चन करके जलपान करना नित्य कर्म का एक अंग बन गया था वहाँ सायंकाल भ्रमण के पीछे ७ बजे विश्वनाथादि के दर्शन नित्य करने के पीछे मैं रात्रि का ब्यालू करता था। पौष १९३२ के अन्त में एक सायं भ्रमण करने एक ऐसी ओर चला गया, जहाँ से मेरा निवास स्थान समीप न था। दूर चले जाने से लौटना ७॥ बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनों के लिए चला। मैं विश्वनाथ की ओर के फाटक पर पहुँचा तो पहरे वालों ने मुझे रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि रीवां की रानी दर्शन कर रही हैं, उनके चले जाने पर द्वार खुलेगा। मुझे खिसियाना देख पुलिस मैन ने, जो मेरे पिता की अर्दली में रह चुका था, मोढ़ा बैठने को रख दिया। मैं एक पल के लिए बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गए। इस रुकावट से मेरे दिल पर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती। जो घबड़ा उठा, मैं उठा और मैं उलटा चल दिया। पहरे वाले ने बहुत पुकारा परन्तु मैंने घर आकर ही दम

लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मैं, कपड़े पहिरे ही विस्तरे पर लेट रहा हूँ। कह दिया कि भोजन नहीं करूंगा। नीकर मेरे आग्रह करने पर स्वयं खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्न पर प्रश्न उठते थे—“क्या सचमुच वह जगन्-स्वामी का दरबार है, जिससे एक रानी उसके भक्तों को रोक सकती है ? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है या वे देवता कहला सकते हैं जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो ? परन्तु मूर्ति को देवता किसने बनाया ? नित्य मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तियाँ बनाते हैं—.....” कभी व्याकुल होकर दस बीस मिनट टहलता फिर बैठ जाता। फिर दूसरी ओर प्रश्नावली की लहर पर लहर उठी—“जब सांसारिक व्यवहारों में पक्षपात है तो देवताओं के दरबार में उसका दखल क्यों न हो ? क्या मनुष्यों ने भी पक्षपात देवताओं से ही सीखा ? क्या मेरे स्वच्छन्द जीवन ने तो मुझे अविश्वासी नहीं बना दिया ?” गोस्वामी तुलसीदास के दोहे और चौपाइयाँ याद आने लगीं। जब नीचे लिखे दोहे का स्मरण हुआ तो अश्रु धारा बह निकली—

बार-बार माँगहूँ, हर्ष बेहु सिय रङ्ग ।

पद सरोज अनुपापनी, भक्ति सदा सतसङ्ग ॥

एक घण्टे तक आँसुओं का तार बँधा रहा, अपने इष्टदेव महावीर से प्रकाश के लिये प्रार्थना की। परन्तु उस समय बाल यति के ध्यान से भी कुछ न हुआ। अन्त की रोना-धोना बन्द हुआ और प्राचीन यूनान “Greece Rome” की मूर्ति पूजा के इतिहास पर मानसिक दृष्टि दीड़ गई। पहिले जो लेख मूर्ति पूजा में रूचि दिनाते थे, उस पर नया प्रकाश पड़ने लगा। हिन्दू मूर्ति-

पूजा के विरुद्ध ईसाइयों की जो दलीलें पढ़ी थीं उन्होंने मुझे हिन्दू देवमाला से बेगाना बना दिया और आधी रात पीछे यह निश्चय करके सो गया कि अपने प्रिंसिपल पादरी ल्यूपोल्ट से संशय निवृत्त करूँगा ।

दूसरे दिन पादरी ल्यूपोल्ट को मैंने जा घेरा । वह बहुत प्रसन्न हुए और मुझे अपनी कलीसिया में लाने के लिये बहुत मगजपच्ची की । मेरे तीन दिनों के प्रश्नों से ही पादरी साहब घबरा गये और मुझे Hopeless case "निराशाजनक मामला" समझकर उन्होंने छोड़ दिया । नास्तिकपन से मेरा चित्त अभी तक घबराता था । मुझसे अँग्रेजी पढ़ने-बनारस संस्कृत कालेज के एक विद्यार्थी आया करते थे । वह दर्शनों का अभ्यास करते और योग्य विद्वान् थे । अँग्रेजी इसलिए पढ़ते थे कि उसके कारण उनकी छात्रवृत्ति तिगुनी हो सकती थी । इन्होंने मुझे लघुकौमुदी पढ़ानी आरम्भ कर दी । व्याकरण में भी इनकी अच्छी गति थी । उनसे भी एक दिन स्वाभाविक बातचीत हुई । उनकी युक्तियों ने मुझे शान्त तो न किया, उल्टी संस्कृत से ही मुझे घृणा हो गई । मैंने पंडित विद्याधर से कह दिया कि संस्कृत में कोई अकल की बात ही नहीं और इसलिए अब मैं कौमुदी न पढ़ूँगा । परन्तु पण्डितजी मुझसे सरेस की तरह चिपट गये और थोड़ा बहुत व्याकरण का बोध कराकेही मुझे छोड़ा । अस्तु!

यह तो आगे की बात है ! सारांश यह कि हिन्दू मूर्ति-पूजा से मुझे घृणा हो गई, प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों की दलीलें पोच मालूम हुईं, हिन्दू शास्त्रज्ञ मेरी शान्ति न कर सके, इसलिए कुशती और गङ्गा स्नान का नियम स्थिर रखते हुए भी दर्श स्पर्श से मुक्ति मिल गई । परन्तु अश्रद्धा की ओर सर्वथा जाने में शिक्षक बाकी थी ।

एक दिन सिकरौर छावनी की ओर घूमने जाते हुए एक

रोमन कैथोलिक पादरी "Roman Catholic Priest" मिल गये। वातचीत करते हुए उन्हें प्रोटेस्टेन्ट पादरी "Protestant missionary" लुपोल्ट की अपेक्षा अधिक विनयशील, ज्ञान्त और सहिष्णु पाया। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि सृष्ट्रीयमत "Christian religion" का तत्व जानना हो तो कैथोलिक कलीसिया "Catholic church" के सिद्धान्तों को समझना चाहिए। उनके चर्च में मेरा आना जाना शुरू हुआ। उनकी धार्मिक संस्थाओं तथा प्रार्थना सभाओं का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। मेरे श्रद्धासम्पन्न चित्त पर फादर लीफू "Father Lefoung" के आचार व्यवहार का भी असर हुआ। मैं यहाँ तक उन पर मोहित हुआ कि रोमन कैथोलिक विधि से वपस्तिस्मा "Baptism" लेने को तैयार हो गया। मेरे एक ही मित्र को मेरे निश्चय का पता था परन्तु उन्होंने मुझे रोकने की कोशिश ही न की। फाल्गुन १९३० संवत् में यहाँ तक नौबत पहुँची कि वपस्तिस्मा लेने की तिथि नियत करने के लिए मैं एक शाम को फादर लीफू की ओर गया। स्वाध्याय के कमरे में वह थे नहीं, मैं अन्दर के कमरे का पर्दा उठाया। पादरी साहब तो वहाँ थे नहीं परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्य वस्त्रधारिणी "Nun" को ऐसी घृणित दशा में पाया कि मैं उल्टे पाँव लौट गया और फिर उधर जाने का नाम न लिया।

मुसलमानी मत की ओर से पहले ही उदासीन था, क्योंकि पिताजी से जो उन लोगों के मुकदमे हुए उनमें उनके आचार-व्यवहार कुछ उच्च न देखे गये। मुझे माला और तसबी दोनों से ही और Rosary "ईसाई तसबी" तीनों से ही घृणा हो गई और कबीर मक्त का गीत कण्ठ हो गया जिसे मैं स्वर सहित गाया करता—

आऊंगा न जाऊंगा, मरूंगा न जीऊंगा ।
 गुरु के सबद प्याला हरि रस पीऊंगा ॥
 कोई जावे मक्के लै कोई जावे कासी ।
 देखो रे लोगो दोहूँ गल-फाँसी ॥
 कोई फेरे माला लै कोई फेरे तसबी ।
 देखो रे लोगो ये दोनों ही कसबी ॥
 यह पूजें मढियाँ लै वह पूजें गोरों ।
 देखो रे लोगो ये लुट लई चोरों ॥
 कहत कबीर सुनो री लोई ।
 हम नाहिं किसी के हमरा न कोई ॥

मजहब सम्प्रदाय तथा Religion पर से मेरा विश्वास उठ गया । मेरा मत यह हुआ कि मजहब एक ढकोसला है जो चालाक बुद्धिमानों ने आँख के अन्धों जौर गाँठ के पुरों को फाँसने के लिये घड़ छोड़ा है । मैं अपने आपको पक्का नास्तिक समझ कर अपने स्वभाव के अनुसार उस पर भी वेग से बह निकला ।

पूजा दर्शन का अकुश दूर हो ही चुका था, तब श्रद्धा-हीन होने के कारण गङ्गास्नानों पर क्यों निष्ठा रहनी चाहिए थी । परन्तु नहीं, जो स्वभाव बन चुका था उसका प्रभाव कैसे दूर होता ? प्रातःकाल का उठना, कसरत, कुश्ती और गङ्गास्नान बराबर जारी रहे ।

माता जी की प्रेम भरी गोद से सदा का बिछोड़ा

आश्विन (१९३२) का दूसरा सप्ताह आ पहुँचा और मैं एन्ट्रेस परीक्षा की तैयारी के लिये हिला तक नहीं । ऐसी अवस्था में मेरे भाई मूलराज, जो मिर्जापुर में नायब कोतवाल थे, माताजी की बीमारी का तार लेकर मेरे पास आये । उसी दिन ४ बजे मेरे नाम तार आया जिससे ज्ञात हुआ कि माता जी का

देहान्त हो गया है । मैं ऐसा चेतना-विमूढ़ हो गया कि न मुँह से आह निकली और न कुछ बोला । आँखें पथरा सी गईं । आंसुओं ने भी मस्तिष्क हल्का न किया ।

+ + +

पिताजी को अन्य दो भाइयों और मित्रों सहित शोकगृह में बैठ देखकर एक आह निकली और रोता हुआ मैं उनके चरणों में गिर पड़ा । आंसुओं का समुद्र उमड़ आया । दो घण्टे पीछे होश आया और शरीर की असाधारण खँच दूर होकर हलका हो गया ।

पाप सागर में डूबने को कहानो

काशी आकर मैंने अखाड़े में जाना और गङ्गा-स्नान फिर आरम्भ कर दिया । उसी स्थान में उस सरल पवित्र भाव के नाश के सामान पैदा हुए जिसे माता के स्मरण और पिता के जीवन दृष्टान्त ने नास्तिकपन और आवारगी के त्रयानक समय में भी सुरक्षित रखा था । अभी दो दिन कुशती की थी, तीसरे दिन प्रातः नियत समय पर गया तो अखाड़े में सुनसान थी । पूछने पर पता लगा कि बृहस्पतिवार का अनध्याय है । मैंने सोचा कि गङ्गा किनारे ही एन आध मील टहलूँ फिर स्नान करके घर लौटूँगा । धोती आदि घाटिए के पास रख दी और राजघाट की ओर चल दिया । मनिकर्णिका से आगे बिन्दासिंह पहले वाला मिला । उसके पूछने पर आगे जाने का कारण बतला दिया ।

कुछ दूरी पर संधिया घाट है । वह गंगा की बाढ़से हिल चुका था और उसके नीचे एक गुफा सी बन गई थी । उसमें कुछ काल से एक नङ्गा साधु रहता था जो एक समय ही भोजन करता था और वह भी नियम से जो कोई पहले भोजन लाता उसी को

स्वीकार करके फिर श्रेय किसी की गैट स्वीकार न होती। इसीलिए संकड़ों स्त्री पुरुष उत्तम से उत्तम भोजन तैयार करके ले जाते। अस्तु ! सैंविशा घाट के पास मैं पहुँचा ही था कि एक चीख की आवाज़ सुनाई दी। दौड़ कर गुफा के पास गया तो किसी स्त्री का सिर बाहर धरती से लगा और उसकी दोनों बाँहें द्वार के दोनों ओर गड़ी हुई दिखाई दीं। अन्दर कोई उसको खींच रहा था और वह बाहर निकलने का यत्न कर रही थी। मैंने जाकर लातें चट्टान में मजबूती से लगाईं और उसकी दोनों बाहुओं को दोनों हाथों से पकड़ कर खेंचने लगा। परन्तु अन्दर का पिशाच बड़ा बलवान् और कामान्ध प्रतीत होता था। बेचारी अबला का दम घुट रहा था। मैंने बिन्दासिंह को पुकारा उसने आकर मुझे दृढ़ता से पकड़ लिया और मैंने दुष्ट को डांट बतलाते हुए उस विवश पीड़ित देवी को बाहर खींच लिया। उसकी आयु १६ वर्ष से अधिक न थी।

मैंने उस मूर्च्छित देवी को अलग किया तो एक और अघेड़ स्त्री पास आ गई। मैंने उसे पहिचाना कि हमारे कुल के परिचित एक खत्री ग्रेजुएट की भौजाई है। मेरे परिचित ग्रेजुएट का कल्पित नाम देवीप्रसाद समझ लीजिए। पता लगा कि जिस देवी के सतीत्व की रक्षा को गई है वह देवीप्रसाद की दूसरे विवाह की स्त्री है। यह पीछे से पता लगा कि पति महाशय तो वकालत परीक्षा की तैयारी में अलग लगे रहते हैं और भौजाई को यह फिर है कि उसकी देदरानी के सन्तान होनी चाहिए। इसलिए ३ बच्चे तड़के ही खोए की मिठाई और पूरी आदि का बाल हाथ में देकर सरल हृदया राजरानी को गुफा में भेजकर बाहर खड़ी होगई। राजरानी के कपड़ों के चिथड़े उड़ गए थे, शरीर में रगड़ों से लहू वह रहा था, और वह कांप रही थी। मैंने बानात की चादर ओढ़ी हुई थी। उससे देवी का सारा

शरीर ढक दिया और जो भीड़ जमा हो रही थी, उससे बचा, दोनों देवियों को घर पहुँचा कर देवीप्रसाद को चौकन्ना कर आया।

घाट पर लौटा तो उस नंगे पिशाच को जूतों की मार पड़ रही थी और पुलिस के जर्मादारादि आ गए थे। एक भली देवी की इज्जत का सवाल था। मेरे कहने पर उस पिशाच से नाकार गड़वा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नहीं लौटेगा, पुलिसवाले उसे राजघाट से पार पहुँचा आए। परन्तु हिन्दू समाज की विचित्र अन्धी श्रद्धा का मुझे उस समय पता लगा जब सन् १८८१ ई० के अगस्त मास में गाजीपुर जाते हुए मैंने बनारस ठहर कर उसी दुष्ट पिशाच को घाट के मार्ग में नंगे बैठे और स्त्री पुर्णों को उसकी उपस्थेन्द्रिय पर जल पुष्पादि चढ़ाते देखा। प्रयागदत्त जमादार को जब पूछा तो उत्तर मिला 'अरे बाबू ! धर्म का मामिला ठहरा। अंग्रेज हाकिमों कतरा-जात बाटें।'

इस घटना को मैंने अपने सरल पवित्र भाव के नाश का सामान क्यों लिखा ? घटना तो मेरे मन और आत्मा को उच्च बनाने वाली थी, परन्तु नास्तिकपन की लहर और पुराने अंग्रेजी उपन्यासों के विचित्र आचारशास्त्र ने मन की अवस्था बदल छोड़ी थी। मैंने अपने आपको एक वीर रक्षक (knighterrant) समझ लिया जिसने एक पीड़ित देवी (Distressed lady) की रक्षा की। अब उस अबला देवी को अपनी प्रिया (love Lady) की उपाधि मनही मन में दे ली और अपने आपको उसका सदा का रक्षक (Champion) कल्पना कर लिया। उन्हीं दिनों मेरे मामू महाशय ने मुझे कुछ-कुछ मद्यपान का अभ्यास शुरू करा दिया था। अब तो मैंने मद्यप वीर (Drinking knighterrant) का पूरा रूप धारण कर लिया। यदि रामायण पर से श्रद्धा न उठ गई होती

जिसमें सीता के आदर्श पातिव्रत पर मैंने दरबार में पवित्र अश्रु-धारा बहाई थी तो मुझे निश्चय है कि उस गढ़े से बच जाता जिसमें गिरने के पीछे मुझे घोर प्रायश्चित्त करने पर ही शान्ति प्राप्त हुई थी ।

यदि अपने प्राचीन इतिहास पर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्री जाति का रक्षाबन्ध भाई बनकर उसकी रक्षा का व्रत लेता । परन्तु मैंने तो अपनी सभ्यता को जङ्गलीपन और अपने साहित्य को मूर्खता का भण्डार समझ रखा था, फिर उनसे मुझे सहायता कब मिल सकती थी ?

मथुरा की दो बातें

माघ में समाचार आया कि पिताजी की बदली बलिया से मथुरा को हो गई है ।

मथुरा में पिताजी छुट्टी पर गये हुए असिस्टेन्ट सुपरिन्टेण्डेन्ट पुलिस के स्थानापन्न होकर आये थे और आषाढ के पीछे उन्हें बरेली की कोतवाली का चार्ज लेना था । इसलिए उन्हें मेरे विवाह के लिए दस दिन की छुट्टी मिल सकती थी । मेरे सब भाई अपने परिवारों सहित तलबन में इकट्ठे थे । पिता जी ने मुझे भी दस दिन मथुरा में रख और विवाह का सब सामान देकर तलबन को विदा कर दिया ।

मथुरा की दो बातें नहीं भूलेंगी । एक ती चौबों का ब्रह्म-भोज नहीं चौबे भोज और दूसरी गोकुलिए गुसाईं जी की लीला । चौबे भोज का मेरे जाने पर पिताजी ने विचार किया । हमारे चौबे जी बोले—“यजमान मन के दस निमन्त्रित किये जाय वा मन के चार ।” ऐं ! क्या तोल में चार-चार और दस-दस सेर के चौबे भी होते हैं । नहीं मतलब यह कि मन भर उत्तम भोज्य पदार्थ दस बाँटकर खाय या चार ही चट्टम कर जाय । यही ठहरी कि मन के चार निमन्त्रित हों । चारों की जुण्डी थी

और उनके नाम थे—सोटा, मोटा, छोटा, लँगोटा चौबे । निमन्त्रण के साथ ही एक-एक दंतवन और छटांक-छटांक भर भंग भेज दी गई ।

११ बजे भोजन तैयार हुआ—“चलो चौबेजी ! बाज़ भोग तैयार हैं ।” चौबेजी की आँखें बन्द हैं, बोले—“यजमान ! आपन पर ले चल” हाथ पकड़ उठाया, चरण घोए और आसन पर बैठा दिया । पहले डेढ़-डेढ़ सेर लच्छेदार मलाई अन्दर गई, आँखें खुलीं और माँग गुरु हुई । दो-दो सेर पेड़े, उन पर भाजी पकौड़ी आदि के साथ तीस-तीस परियों की तह, फिर खुर्चन फिर उतनी ही परियों की तह, फिर हनुआ और अन्त में मलाई की पूर्णाहुति । हाथ घुला कर हथेलियों पर एक-एक रुपया दक्षिणा रखी गई और चौबेजी को प्रणाम किया । परन्तु चौबे अभी खड़े हैं—“यजमान ! अब सत्यानासी भी मिल जाया” छटांक-छटांक भर भंग और दी गई । तब चौबेजी हिले ।

दूसरी गुसाईं जी की लीला थी । दक्षिण के एक डिप्टी कलेक्टर ब्रजयात्रा को आये थे, उनकी घमंपत्नी, एक लड़की और एक लड़की साथ थे । पुत्र ६ या सात वर्ष का और पुत्री १४-१५ वर्ष की । यह कुमारी देवी अँग्रेजी भी पढ़ी हुई थी । मुझसे उनका परिचय हो चुका था, क्योंकि काशी तीर्थ सेवन करके वह मेरे साथ ही मथुरा में पहुँचे थे । एक दिन गोपाल मन्दिर की झाँकी थी । मैं भी गया था । पाँच बजे शाम का समय था । मेरे साथ एक सफ़ेदपोश पुलिस का हेड कान्स्टेबल था । उससे गुसाईं जी दबते थे, क्योंकि वह था उनके घर का भेदी । मुझसे उसने कहा—“चलो बाबू ! गुसाईं के अन्दर के महल की सैर करा लाऊँ ।” मैं साथ हो लिया । दर्बान ने यह कहकर रोका कि विशेष चले दर्शन कर रहे हैं, जाने की आज्ञा नहीं । परन्तु “संन्यासी, गुरु, चपरासी” को कौन रोकने वाला

था। हम दोनों अन्दर गये। बहुत कमरे और उतनी ही भूल-भुलझियाँ वाली गलियाँ। अभी पाँच मिनट ही घूमे थे कि चीख की आवाज सुनाई दी। पास वाले कमरे का दरवाजा झटके से खोल कर अन्दर गये। एक अबला कुमारी को गुसाईं जी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास में एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी। गुसाईं ने कुमारी को छोड़ खड़ी कृष्णमूर्ति को इशारा करके कहा—“भगवान् के दर्शन से यह घबरा गई थी, मैं चुप कराता हूँ।” कुमारी बोली—“Don't believe him sir. He caught hold of me, while I was touching his feet. Then I cried Oh! take me to my father. इसका विश्वास न कीजिये। मैं इसके चरणस्पर्श कर रही थी तब इसने मुझे पकड़ लिया। तब मैं चिल्लाई। आह! मुझे पिता के पास ले चलो।”

जमादार साहब को तो गुसाईं जी से समझौता करते छोड़ा और मैं उस कुमारी को सीधा उसके पिता के पास ले गया जो उसे नीचे न पाकर ऊपर तलाश कर रहे थे। मालूम होता है कि ये सब फैले हुए घूम रहे थे कि वह अधेड़ स्त्री कुमारी को कृष्ण पूजा के लिए अन्दर ले गई। स्वयं गुसाईं जी के चरणस्पर्श करके अलग हो गई और कुमारी को चरणस्पर्श के लिये आगे बढ़ा दिया। यह वही दक्षिणी डिप्टी कलेक्टर थे जो मेरे साथ आये थे। उनको बड़ा दुःख और क्रोध हुआ। उसी समय गुसाईं जी के यहाँ से उठकर दूसरे मकान में चले गये। मुझसे उन्होंने कहा कि इस मूर्तिपूजा से ही उनका विश्वास उठ गया है और वह अब अन्य किसी तीर्थ पर न ठहर कर सीधे अपने देश को चले जायेंगे।

विवाह में उत्सुकता और निराश लौटना

मथुरा से चलते ही विवाह की धुन ने सब कुछ भुला

दिया। इंगलिश कवियों और उपन्यास लेखकों का संस्कार साथ था। अतः मैंने अपनी भविष्य की धर्मपत्नी के विषय में उत्तम से उत्तम उपन्यास की नायिका की कल्पना कर ली। बारात बड़े घूमघाम से चढ़ी। नास्तिक ने बुढ़िया पुराण के आगे सिर झुका कर आँख मूँद सब कुछ किया।

बरेली में अढ़ाई साल

वरेली में संवत् १८३४ के आश्विन में मैं पहुँचा और चैत्र संवत् १८३७ में पिताजी के साथ खुर्जे चला गया। इस अढ़ाई साल के जीवन पर पर्दा ही पड़ा रहता तो अच्छा होता। परन्तु मुझे अपने जीवन की घटनाओं को स्पष्ट खोलकर इसलिए रख देना है कि मेरे देश के युवक उससे शिक्षा पाकर संसार-यात्रा के अन्दर गढ़ों और ठोकरो से बच सकें। पहले तीन महीनों में ही बरेली की हवा ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। मैंने चाहा था कि देश से सीधा बनारस का रास्ता पकड़ूँ, परन्तु पिताजी ने बरेली बुला लिया। वहाँ पहुँच कर उन्होंने कहा कि दस दिन और ठहर कर जाना। इस अन्तर में मेरे कई नये मित्र उत्पन्न हो गये।

पहिने पिताजी ने मोह्वश जाने न दिया और अब मैं हिलना नहीं चाहता था। रायसाहब की फिटन नित्य सवारी के लिये हाजिर, नाच रङ्ग बिना कोई सप्ताह खाली न जाता, और फिर पिताजी के मातहत पाँचों थानों पर हुक्मत, ऐसा चढ़ा हुआ नशा मुश्किल से उतरता है। गुसाईं जा ने कहा है—

“अस नर को उपज्यो जगमाहीं। प्रभुता पाय काहि मद नाही।”

इलाहाबाद कालिज में एक वर्ष (सं० १८३५ वि०)

सन् १८३५ वि० का पौष मास आ पहुँचा। मैंने काशी में निचली श्रेणी के साथ पढ़ने में संकोच किया। अतः इलाहाबाद (प्रयाग) को प्रस्थान कर दिया।

मैं म्योर कालिज में दाखिल हो गया। फिर जीवन में परिवर्तन आ गया। मद्यपान से एकदम मुक्त हो गया। नियम-पूर्वक पढ़ाई शुरू हो गई। मैं कालिज की द्वितीय वर्षीय कक्षा (Second year class) में फिर सम्मिलित हुआ।

✓ प्रयाग में अहिंसक शेर और महात्मा

मैं बतला चुका हूँ कि मैं विचित्र नास्तिक था जो योग-म्यास और उसकी विभूतियों पर विश्वास रखने वाला था और साथ ही हठ प्रक्रियाओं का प्रयोग भी करता था। बरेली में और वहाँ से लौट कर प्रयाग में कुछ विशेष परिश्रम किया, परन्तु कुपथ्य के कारण बीमार होगया। मैंने सुना कि त्रिवेणी पार झूँसी के जङ्गल में एक महात्मा रहते हैं उनके वश में एक शेर है। दिन को अन्तर्धान रहते हैं, केवल रात को उनके दर्शन हो सकते हैं। मैं अपने मित्र, बुद्धसेन तिवारी सहित जिनको मेरी संगति ने ही योग की ओर झुकाया था, सिदौसी भोजन से निवृत्त होकर शाम को पार उतर गया। इधर-उधर घूमते हुए दस बजे आश्रम के समीप पहुँचे। एक वृद्ध, केवल कौपीनधारी महात्मा को समाधिस्थ मैदान में बैठे देखा। तीन बजे तक न उनकी समाधि खुली और न हमारी आंख झपकी। तीन बजे के लगभग शेर की गरज सुनाई दी। फिर वह सीधा महात्मा की ओर आता दिखाई दिया। समीप पहुँचने पर उनके पैर चाटने लगा। महात्मा ने आंखें खोलीं, शेर के सिर पर प्यार का हाथ फेरा और कहा—“बच्चा ! आ गया, अच्छा अब चला जा” शेर ने सिर चरणों में रख दिया, और उठ कर जंगल की राह ली। उसी समय हम दोनों ने पैर झूकर महात्मा को प्रणाम किया और इस अद्वितीय विभूति पर आश्चर्य प्रकट किया। महात्मा का उत्तर

कभी नहीं भूलता—“यह कोई विभूति नहीं है बच्चा ! इस शेर के किसी शिकारी ने गोली मारी थी। इसके पैर में ऐसा घाव लगा कि यह चल नहीं सकता था और व्याकुलता से हृदय बेघक शब्द कर रहा था, शायद प्यासा था। मैंने लाकर पानी पिलाया और जंगल से अपनी जानी हुई एक बूटी लाया और रंगड़ कर इसके पैर में लगाई, घाव अच्छा होने लगा। जब तक मैं दवाई लगाता रहता यह नित्य मेरे पैर को चाटता रहता। जब सर्वथा निरोग हो गया तब भी इसका व्यसन नहीं छूटा। नित्य मेरी उपासना की समाप्ति पर आ जाता है। मुनो बच्चा ! अहिंसा का अभ्यास और सेवा व्यर्थ नहीं जाते।” हम पर जो प्रभाव पड़ा वर्णन नहीं किया जा सकता। मैंने अपने साधनों और बीमारी की कहानी मुनाई। महात्मा ने बतलाया कि हठयोग की क्रियायें शरीर के लिये हानिकारक सिद्ध होती हैं और कैवल्य के मार्ग से विमुख कर देती हैं। तुम राजयोग का अभ्यास करो और इसको छोड़ दो। बीमारी के दूर करने को उन्होंने ब्राह्मी बूटी का एक विशेष सेवन बतलाया। उन्हें मालूम हो गया कि मेरी परीक्षा समीप है और इसलिये आज्ञा दी कि जब मैं परीक्षा से निवृत्त होकर उनकी सेवा में उपस्थित हूँगा तब वह मुझे राजयोग का उपदेश करेंगे।

शुषि दयानन्द का सत्सङ्ग

[एक विशेष घटना]

“नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।”

१४ श्रावण संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बांस वरेली पधारे। ३ भाद्रपद को चले गये। स्वामीजी महाराज के पहुंचने ही कोतवाल साहब को हुकम मिला कि पण्डित

दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बन्दोबस्त कर दें। पिताजी स्वयं सभा में गये और स्वामीजी महाराज के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्संग से मुझ नास्तिक की संशय निवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया। रात को घर आते ही मुझे कहा—“बेटा मुन्शीराम ! एक दण्डी संन्यासी आए हैं, बड़े विद्वान् और योगिराज हैं उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।” उत्तर में कह तो दिया कि चलूंगा परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा ?

दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में, पिताजी के साथ पहुँचा जहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई, परन्तु जब पादरी टी. जे. स्काट और दो तीन अन्य युरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—“यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जाय।” व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ‘ओ३म्’ पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सकता। एक नास्तिक को भी आत्मिक आह्लाद से निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।

उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउन हाल मिल गया है इसलिये व्याख्यान कल से वहाँ शुरू होंगे। स्वामीजी ने उच्च स्वर से कह दिया कि सवारी समय पर पहुँच जाया करेगी तो वह तैयार मिलेंगे।

टाउनहाल में जब तक “नमस्ते” “पोप” पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी” इत्यादिक परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे

तब तक तो पिताजी श्रद्धा से सुनते रहे, परन्तु जब मूर्ति-पूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा तो जहाँ एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहाँ पिताजी ने आना बन्द कर दिया और एक अपने मातहत बानेदार की ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्त को शाम तक मेरा समय विभाग यह रहा कि दिन का भोजन करके दोपहर को ही बेगम बाग की कोठी पहुँच ड्यूटी पर बैठ जाता। २॥ और ४ बजे के बीच में जब ऋषि का दर्बार लगता तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य ऋषि को प्रणाम करता वह मैं था। प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उनका आनन्द लेता रहता। व्याख्यान के पश्चात् २० मिनट से पहले सब दर्बारी विदा हो जाते और आचार्य चलने की तैयारी कर लेते। मैं अपनी "वेगनट" पर सीधा टाउनहाल पहुँचता। व्याख्यान का आनन्द उठाकर उस समय तक घर न लौटता जबतक कि आचार्य दयानन्द की बगधी उनके डेरे की ओर न चल देती।

२५, २६, २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के, पादरी स्काट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुये। विषय प्रथम दिवस, पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार, और तीसरे दिन यह था कि 'मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किए जाते हैं वा नहीं?' पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपात ज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ६ भाद्रपद (१५ से २५ अगस्त) तक ऋषि जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाएँ मैंने देखीं, जिनमें से उन्हीं कुछ एक को यहाँ लिखूँगा जिनका प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आँखों के सामने घूम रही हैं।

मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर, केवल कौपीन पहिरे लट्ठ हाथ में लिये, ३॥ बजे बाहर निकल जाते हैं और ६ बजे लौटकर आते

हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिये कि बाहर जाकर वह क्या करते हैं। दबदब-एकैसरी अखबार के एडीटर भी मेरे साथ हो लिये। ठीक ३॥ बजे बाहर निकल कर आचार्य चल दिये। हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे-धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझसा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न चला कि किधर गये। दूसरे प्राकाल हम अढ़ाई बजे से ही घात में उस जगह छिप कर जा बंठे जहाँ से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्रमूर्ति को आते देखकर हम भागने को तैयार हो गये। वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे एडिटर महाशय भी लुढ़कते पुढ़कते आ रहे थे। बीच में एक आध मील की दौड़ भी रुद्र स्वामी ने लगायी। परन्तु वहाँ मैदान था, मैंने भी उनकी आँख से ओझल न होने दिया। अन्त को पाव मील धीरे २ चलकर एक पीपल के वृक्ष के तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधि में स्थित रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गयी। उठकर दो अंगड़ाइयाँ लीं और टहलते हुए अपने तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये।

एक शनिश्चर के व्याख्यानके पीछे श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे (आदित्यवार को) नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उसी समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुंचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूँगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हाल (व्याख्यान-भवन) खचाखच भर गया परन्तु आचार्य न पहुँचे। पाव घण्टा आध घण्टा भी बीत गया परन्तु बग्घी की घड़घड़ाहट न सुनायी दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्द की विशाल मूर्ति, उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो

उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढ़ती दिखाई दी। मध्य की डाट के नीचे वाली एक ओर की दीवार में लोटा टेककर, ईश्वर-प्रार्थना के लिये बैठने से पूर्व उन्होंने कहा—“मैं समय पर तैयार था परन्तु सवारी न आई। बहुत प्रतीक्षा के पीछे पैदल चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली। इसलिये देरी हो गयी। सभ्य पुरुषो ! मेरा कुछ दोष नहीं है। दोष बच्चों का है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।” यह संकेत खजाञ्ची लक्ष्मीनारायण की ओर था जिनके अतिथि होकर उनकी बेगम बाग वाली कोठी में स्वामी दयानन्द रहते थे। बाबू लक्ष्मीनारायण सरकारी पांच खजानों के खजाञ्ची थे और बरेली में उस समय करोड़पति समझे जाते थे।

एक व्याख्यान में वह पौराणिक असम्भव तथा आचार भ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरी स्काट, मिस्टर एडवर्ड्स कमिश्नर, मिस्टर रीड कलेक्टर, १५ वा २० अन्य अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पंच कुंवारियों की कल्पना पर कटाक्ष किया और एक से अधिक पति रखने वाली द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुनाकर श्रोतागण के धार्मिक भावों को अपील की। स्वामीजी के कथन में हास्यरस अधिक होता था, इसलिये श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हँसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले—“पुराणियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो ! यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।” इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुँह क्रोध के मारे लाल होगये परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही खजाञ्ची लक्ष्मीनारायण को कमिश्नर साहब के यहाँ से बुलावा आया। साहब ने कहा—
 “अपने पंडित स्वामी को समझा दो कि सख्ती से काम न लिया करे। हम ईसाई तो सम्य हैं, वाद विवाद की सख्ती से नहीं घबराते परन्तु यदि जाहिल हिन्दू मुसलमान भड़क उठें तो तुम्हारे पंडित स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे। खजाञ्चीजी यह सन्देश आचार्य तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा करके लौटे। खजाञ्चीजी चाहते थे कि बात छेड़ने वाला कोई अन्य मिल जाय जिससे वह आचार्य की झाड़ से कुछ बच जायें। जब कोई खड़ा न हुआ तो मुझ नास्तिक को आगे किया गया। परन्तु मैंने यह कहकर पीछा छोड़या कि खजाञ्ची साहब कुछ कहना चाह रहे हैं, क्योंकि कमिश्नर साहब ने उनको बुलाया था। अब सारी मुसीबत खजाञ्चीजी पर टूट पड़ी। खजाञ्ची साहब कभी सिर खुजलाते हैं, कभी गला साफ करते हैं। पाँच मिनट तक आश्चर्यित रहकर आचार्य बोले ‘भाई तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नियत नहीं, तुम समय के मूल्य को नहीं समझते। मेरे लिये समय अमूल्य है। जा कुछ कहना हो कह दो।’ इस पर खजाञ्चीजी बोले—‘महाराज ! अगर सख्ती न की जाय तो क्या हर्ज है ? इससे असर भी अच्छा पड़ता है। अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं—इत्यादि इत्यादि।’ बड़ी कठिनाई से अटक अटक कर ये वचन गरीब के मुँह से निकले। महाराज हँसे और कहा—‘अरे ! बात क्या थी जिसके लिये गिड़गिड़ाता है। मेरा इतना समय भी नष्ट किया। साहब ने कहा होगा तुम्हारा पण्डित कड़ा बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायें, यह होगा, वह होगा। अरे भाई ! मैं हीवा तो नहीं कि तुझे खालूंगा। उसने तुझसे कहा, तू सीधा मुझसे कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया ?’ एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला—‘देखा !! यह तो कोई अवतार हैं, मन की बात जान लेते हैं।’

उस शाम के व्याख्यान को कौन सुनने वाला भूल सकता है ? मैंने बड़े २ वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे सादे शब्दों से निकलकर कर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूँ ? उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्व दिवस के सब अंग्रेज (पादरी स्काट के अतिरिक्त) उपस्थित थे। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा—‘लोग कहते हैं कि सत्य को प्रगट न करो, कल-क्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गर्वनर पीड़ा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।’ इसके पीछे श्लोक पढ़कर आत्मा की स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सकें, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य अमर है। फिर गरजते हुए शब्दों में बोले—‘यह शरीर तो अनित्य है इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे।’ फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिहनाद करते हुए कहा—‘किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखलाओ जो मेरे आत्मा को नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता तब तक मैं यह सोचने के लिये भी तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊँगा वा नहीं।’ सारे हॉल में सन्नाटा छा गया। रूमाल का गिरना भी सुनाई देता था।

व्याख्यान में कुछ देर हो गई थी। उठते ही ऋषि दयानन्द ने पूछा—‘भक्त स्काट आज दिखाई नहीं देते।’ पादरी साहब किसी व्याख्यान में भी अनुपस्थित न होते थे, और अलग भी प्रेम से वार्तालाप किया करते थे, इसलिये ऋषि को उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। किसी ने कहा, पास के गिरजे (चेप्ल) में आज उनका व्याख्यान था। सीढ़ियों के नीचे उतरते ही ऋषि ने कहा

—‘चलो भक्त स्काट का गिरजा देख आवें ।’ अभी तीन चारसौ आदमी खड़े थे । वह सारी भीड़ लेकर गिरिजा पहुँचे । वहाँ व्याख्यान समाप्त हो चुका था । श्रोता सौ के लगभग थे । पादरी साहब नीचे उतर आये, स्वामीजी को वेदी (पुलपिट) पर ले गये और कहा कि कुछ उपदेश दीजिये । आचार्य ने खड़े २ ही बीस मिनट तक मनुष्य-पूजा का खण्डन किया ।

एक दिन आचार्य को पता लगा कि खजाञ्चीजी का सम्बन्ध किसी वेश्या से है । उनके आने पर पूछा—‘तुम्हारा वर्ण क्या है ?’ उन्होंने कहा—‘क्या कहूँ, आप तो गुण कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानते हैं ।’ आचार्य बोले—‘यों तो सब वर्णसङ्कर हैं परन्तु तुम जन्म के क्या हो ?’ उत्तर मिला कि खत्री । महाराज बोले—‘यदि खत्री के वीर्य से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे क्या कहोगे ?’ खजाञ्चीजी ने सिर नीचा कर लिया । इस पर महाराज ने कहा—‘मुनो भाई, हम किसी का मुलाहजा नहीं करते हम तो सत्य ही कहेंगे ।’ खजाञ्चीजी ने उस वेश्या को कहीं अन्यत्र भिजवा दिया ।

एक अन्तिम घटना के साथ इस अपूर्व सत्सङ्ग की कथा समाप्त करता हूँ । यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति व तर्कनाशक्ति का सामना करने वाला न रहे । मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था । एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले । पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मोहर लग गई । मैंने कहा—‘महाराज ! आप की तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है, आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती (अस्तित्व)

है। दूसरी बार फिर तैयारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर वहीं दिया—‘महाराज ! आपकी तर्कनाशक्ति बड़ी प्रबल है, आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।’ महाराज पहले हंसे, फिर गम्भीर स्वर से कहा—‘देखो, तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये— यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर में करा दूंगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देगे। अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद्वाक्य उन्होंने पढ़ा था—

नायमास्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

गमेवंपवृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तवुं स्वाम् ॥

—कठ० १।२।२२

हिन्दू देवी का मातृभाव : आर्य सभ्यता की श्रेष्ठता

पिताजी को उन घटनाओं का ज्ञान न था, जिन्होंने मुझे नाच तमाशों से घृणा दिलाई और मद्यपान की आदत कुछ काल के लिये झुड़वा दी। उन्हें यह परिवर्तन पंडित दयानन्द सरस्वती स्वामी के सत्सङ्ग का फल दीख पड़ा, इसलिये यद्यपि वे हरि-हर के निन्दक संन्यासी की बात स्वयं सुनना पाप समझते थे, तथापि पुत्र के कायापलट के लिये उसे घन्यवाद देते थे। तभी मुझे आज्ञा हुई कि स्वदेश जाकर अपनी घर्मपत्नी को विदा कर लाऊँ।

मैं घर पहुँचा। जालन्धर जाकर सम्बन्धियोंसे मिला और तीसरी बार अपनी घर्मपत्नी को बिना मुँह देखे ही विदा करा लाया। तलवब पहुँचकर अपनी अर्धाङ्गिनी से पहली बातचीत हुई। पुराने नाबलों के हवाई किले रखसत हुए, एक नया भाव उत्पन्न हुआ, वह यह कि जिस अबला को अपना आश्रय मिला है

तो उसे गुणवती बनाने के लिये शिक्षा दूँ। उस समय मेरे मन में दया और रक्षा का भाव प्रबल था।

बरेली आने पर शिवदेवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिन का भोजन तो मेरे पीछे करती ही थी, परन्तु रात जब कभी मुझे देर हो जाती और पिताजी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मंगा लेतीं और जब मैं लौटता उसी समय अंगीठी पर गरम करके मुझे भोजन करा पीछे स्वयं खातीं। एक रात मैं रात के आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जी चौक दरवाजे पर छोड़ी। दरवाजे पर ही बरेली के बुजुर्ग रईस मुन्शी जीवनसहाय का मकान था। उनके बड़े पुत्र मुन्शी त्रिवेनीसहाय ने मुझे रोक लिया। गजक सामने रखी और जाम भर दिया। मैंने इनकार किया। बोले—‘तुम्हारे लिए ही तो दो-आतशा खिचवाई है। यह जौहर है।’ त्रिवेनीसहायजी से छोटे सब मेरे मित्र थे, उनको मैं बड़े भाई के तुल्य समझता था। न दो-आतशा का मतलब समझा न जौहर का, एक गिलास पी गया। फिर गप्पबाजी शुरू हो गई और उनके मना करते २ में चार गिलास चढ़ा गया। असल में वह बड़ी नशीली शराब थी। उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा करायें। उस समय तक न तो कभी वेश्या के मकान पर गया था और न कभी किसी वेश्या को अपने यहाँ बुलाकर बातचीत की थी, केवल महफिलों में नाच देखकर चला आता था। शराब ने इतना जोर किया कि पाँव जमीन पर नहीं पड़ता था। एक खूँड मेरे हाथ में था। एक वेश्या के घर में जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को देखकर सब सलाम करके खड़ी हो गईं। घर की बड़ी नायिकाको हुबम हुआ कि मुजरा सजाया जाय। उसकी नौची के पास कोई रुपये देने वाला बैठा था। उसके आने में देर हुई। न जाने मेरे मुँह से क्या निकला, सारा घर

कांपने लगा । नौची घबराई हुई आई और सलाम किया तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा । उसने क्षमा मांगने के लिए हाथ बढ़ाया और मैं नापाक २ कहते हुए नीचे उतर आया । यह सब पीछे साथियों ने बतलाया । नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिये पर जा गिरा और बूट आगे कर दिये जो नौकर ने उतारे । उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था । पुराने श्रुत्य बूढ़े पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया । छत पर पहुँचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किबाड़ बन्द कर लिये और बरामदे के पास पहुँचा ही था कि उलटी होने लगी । उसी समय एक नाजुक छोटी उङ्गलियों वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने उलटी खुल के की। मैं अब शिवदेवी के हाथों में बालकवत् था, कुल्ला करा, मेरा मुँह पोंछ ऊपर का अङ्गरखा जो खराब हो गया था, बेटे २ ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गयीं । वहाँ पलङ्ग पर लेटाकर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठकर माथा और सिर दबाने लगीं । मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम से भरा मुख कभी नहीं भूलेगा । मैंने अनुभव किया मानो मातृ-शक्ति की छत्रच्छाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ । पथराई हुई आँखें बन्द हो गईं और मैं गहरी नींद सो गया रात के शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली । वह चौदह पन्द्रह वर्ष की बालिका पर दबा रही थी । मैंने पानी मांगा । आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ । गरम दूध अंगीठी पर से उतार और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुँह को लगा दिया । दूध पीने पर होश आया ।

उस समय अग्ने जी उपन्यास (नाव्हल्स) मगज में से निकल गये । और गुसाईं * जी के खींचे दृश्य सामने आखड़े हुए । मैंने

उठकर और पास बैठकर कहा—“देवी ! तुम बराबर जागती रही और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।” उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी। शिवदेवी ने कहा—“आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती, अब भोजन करने में क्या रुचि है ?” उस समय की दशाका वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियाँ सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की परन्तु वहाँ उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था—“आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुनाकर मुझ पर क्यों पाप बढ़ाते हो? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं आपकी नित्य सेवा करूँ।” उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

वैदिक आदर्श से गिरकर भी जो सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्य महिलाओं ने किया है, उसी के प्रताप से भारत भूमि रसातल को नहीं पहुँची और उसमें पुनरुत्थान की शक्ति अब तक विद्यमान है—यह मेरा निज का अनुभव है। भारत माता का ही नहीं, उसके द्वारा तहजीब (सिविलिजेशन) की ठेकेदार संसार की सब जातियों का सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्त की पुरानी संस्कृति जागने पर देवियों को उनके उच्चासन पर फिर से बैठाया जायेगा।

स्त्री-औद्योगिक का एक और दृष्टान्त देकर अपनी संसार यात्रा को आगे ले चलूँगा। छावनी के पारसी मद्य-विक्रयी का बिल बढ़ता ही जा रहा था। दूसरे ही दिन उसका लगभग तीन सौ का बिल आ पहुँचा। उस दिन उसे तीन चार दिन की छुट्टी लेकर टाल दिया। मुझे चिन्ता तो थी ही, शिवदेवीजी ने भोजन कराते समय मेरी चिन्ता का कारण पूछा। अब तो कोई बात आपस में गुप्त रह नहीं सकती थी। वेद के उपदेशानुसार मानो

मेरा विवाह ही पिछली रात हुआ था। मैंने सब कुछ स्पष्ट कह दिया। देवी ने कुल्ला करवा के हाथ मुँह धुलवाये और अपना भोजन पाने से पहले ही अपने हाथ के सोने के कड़े उतार दिये। मैं चकित रह गया—“देवी ! यह कैसे हो सकता है ? तुम्हें आभूषित करने के स्थान में तुम्हें आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूँ ?”

इस समय मुझे ठीक संस्कृत कवि की कल्पना के अनुसार दृश्य जँचा और मैंने जान लिया कि पतिव्रता देवी पति की स्वास्थ्य-रक्षा के समय माता, विपत्ति के समय भगिनी और उसे सन्तान-सुख पहुँचाने के लिए धर्मपत्नी का रूप धारण करती है। देवी ने दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा—“एक जोड़ी पिता ने और दूसरी श्वसुर महोदय ने दी थी। इनमें से एक जोड़ी व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है और जब तन भी आपका है तो इसके लेने में क्यों संकोच है ? आपकी चिन्ता दूर करने का यह महँगा सौदा नहीं।” शब्द पंजाबी के थे और उनके अनुवाद में कुछ मुझसे बढ़ाया भी गया होगा, परन्तु भाव यही था। कड़े बेचकर मैं बिल अदाकर चिन्ता रहित हो गया, प्रलोभन से बचने के लिए शेष रुपये देवी की सन्दूकची में रख दिये और मन में पक्का निश्चय कर लिया कि जब कमाने लग जाऊँ तो व्यय किये हुए धन को फिरसे आभूषणों में मिला दूँगा।

चाकरी का अनुभव

‘सर्वं परदशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम् ।’ मनु० ।

पिताजी ने समझ लिया कि अब मैं कॉलिज में पढ़ने के योग्य नहीं रहा। मुझे पुलिस के काम से घृणा है, यह पिता जी जानते थे। कमिश्नर एडवर्ड्स उनके पुराने मेहरबान थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि तहसीलदारी की परीक्षा देकर उस

महकमे में काम करना स्वीकार होगा या नहीं। मैंने स्वीकार कर लिया।

साहब मुझे अंग्रेजी में बातचीत करके प्रसन्न हुए। न केवल मेरा गैल तहसीलदारी के लिए भेज दिया प्रत्युन् बरेली का नायब तहसीलदार तीन महीनों के लिए कर दिया, क्योंकि पक्का नायब छुट्टी पर जा रहा था। चारों ओर से इष्ट मित्रों ने बधाई दी और मैंने स्वीकार की।

अभी नायब साहब के लौटने में १५ दिन बाकी थे। हमारी तहसील के एक पड़ाव पर सेना को रात काटनी थी। वह स्थान बरेली से ८ या दस मील पर था। रसद रसानी के लिए मैं चपरासी जमादार लेकर पहुँचा। फौज गोरों की थी। उन्होंने अण्डे वाले के अण्डे बिना मूल्य दिये लूट लिये। मैंने कर्नल के पास शिकायत की और कहा कि यदि अण्डे बेचने वाले गरीब के दाम उसी समय न चुका दिये गये तो मैं सब दुकानदारों को लौटा दूँगा। कर्नल साहब आग बबूला होकर बोले "तुम ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताखी का मतलब क्या है?" जब मुझे गुस्ताख कहा गया और धमकी दी गई तो मुझसे भी न रहा गया। मैंने उत्तर दिया— "मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूँ। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हों, कर लें।"

इधर कमिश्नर साहब मुझे स्थिर करने की फिकर में थे। बाहर की तहसील में स्थान खाली था, उसे देना चाहते थे। मैंने कर्नलवाली सारी कहानी सुनाकर निवेदन किया कि सरकारी नौकरी से पेट भर गया, अब मुझे क्षमा कीजिए। मैं उसी दिन विदा चाहता था परन्तु कृपालु कमिश्नर एडवर्ड्स ने १५ दिन और रोक कलेक्टर के हुकुम को रद्द करके मुझे बिना किसी दाग के बिदा किया। छुट्टी से लौट नायब साहब को नियम

पूर्वक चार्ज देकर मैं सदा के लिए अँग्रेजों की चाकरी से मुक्त हो गया और जन्मपत्री की यह विधि भी मिलाकर तहसील से घर की राह ली ।

मेरे भविष्य का आंशिक निर्णय

शायद संवत् १८३७ के आरम्भ में ही पिताजी की बदली खुर्जा जिला बुलन्दशहर को हो गयी । जून में पिता जी के पुराने हितैषी मिस्टर सी० पी० कर्माइकेल बुलन्दशहर आये थे । पिता जी उनसे मिलने गये । मैं पिताजी के साथ गया । साहब ने मेरे पहुँचते ही कहा—“मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हें माँग लिया है । तुम्हें १५० से ३५० तक के ग्रेड में ले लूँगा और तुम्हें चार बरस में डिप्टी कलेक्टर बनके निकल जाओगे । मेरे साथ चले चलो, मैंने दो महीनों का अवकाश माँग लिया और उसके पीछे इलाहाबाद प्रयाग पहुँचने की प्रतिज्ञा की । कारमाइकेल साहब अपने आदमियों का पूरा पक्ष करने वाले थे और गोरे काले में कोई भेद नहीं जानते थे । शायद बङ्गाल के प्रसिद्ध गवर्नर लार्ड कारमाइकेल इन्हीं के कुल में से थे ।

× × ×

जुलाई में एक खून के मुकद्दमे की तहकीकात करते हुए पिताजी ने रामायण की कथा सुना घातक से जुर्म का इकबाल करा लिया । मुकद्दमा सेशन सुपुर्द हुआ । सेशन कोर्ट मेरठ में लगता था । पिताजी की मेरठ यात्रा का असर मेरे भविष्य पर बड़ा प्रबल पड़ा ।

मेरठ में वह जालन्धर के लाला डूंगरमल वकील से मिले । मेरे विषय में बातचीत हुई और पिताजी ने निश्चय कर लिया कि पेन्शन पाने पर मुझे वकील बनकर उनके साथ रहना चाहिए और इसलिए चाकरी की गुलामी में मुझे नहीं पड़ना चाहिए । पिताजी स्वयं चाकरी से घबरा चुके थे और अँग्रेजों के न्याय पर उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं रहा था । इधर मैं

सोच ही रहा था कि किसी प्रकार मिस्टर कारमाइकेल के साथकी हुई प्रतिज्ञा से मुक्त हो जाऊँ । अस्तु, पिताजी ने मेरठ से लौटते ही अपना प्रस्ताव मेरे सामने रक्खा । मैंने प्रसन्नता से स्वीकार किया और मुझे जायदाद का प्रबन्धकर्त्ता बनाकर तलवन भेज दिया गया और समझा दिया गया कि पौष १८३७ (जनवरी सन् १८८१ ईसवी)से लाहौर की कानूनी परीक्षा में प्रविष्ट हो जाऊँ । सबसे बड़े भाई पिताजी से जुदा होकर अपना व्यापार करने लग गये थे, इसलिए मैं धर्मपत्नी सहित तलवन पहुँच गया और सारा काम भाई साहब से सँभाल लिया ।

पौष १८३७ से मार्गशीर्ष १८४० तक

(जनवरी सन् १८८७ से दिसम्बर १८८३ तक)

“नाथं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।” संशयग्रस्त के लिए न यह लोक, न परलोक और सुख भी नहीं है ।

पौष संवत् १८३१ (जनवरी सन् १८८१) द्वितीय सप्ताह में ही लाहौर पहुँचकर रहने के लिए मकान की तलाश की । इसमें दो सप्ताह लग गये । लॉ क्लास का नियम था कि ७५ प्रतिशतक व्याख्यान में उपस्थिति हुए बिना परीक्षा में सम्मिलित होने नहीं दिया जाता था । अनुपस्थित होने के लिए छुट्टी लेने की कोई आवश्यकता न हुआ करती थी । मैं जनवरीके तीसरे सप्ताह में प्रविष्ट हुआ, उससे पहले आठ नौ काम के दिन हो चुके थे । प्रविष्ट होकर दो-तीन दिन कानून की पुस्तक देखी, उससे पीछे फिर अन्धे टाइप के अंग्रेजी नावल और काव्य खरीद कर पढ़ना और पुरानी इमारतों में मटरगश्त लगाना शुरू कर दिया ।

दूसरी बार मैं अपनी धर्मपत्नी को साथ ले गया । इससे व्यय तो अधिक हुआ परन्तु पढाई खूब हुई । परीक्षा तक मैंने पूरी तैयारी कर ली । परन्तु अन्त को जोड़ने पर ७५ प्रतिशतक के स्थान में मेरी उपस्थिति लगभग ७० प्रतिशतक निकली ।

एक और कारण मेरे लिए बाधक हुआ। प्रोफेसर महाशय एक मास की छुट्टी पर गये और उनका स्थानापन्न कोई न मिला। यदि उन दिनों लैक्चर बन्द न रहते तो शायद मेरी कमी पूरी हो जाती। परन्तु अब क्या हो सकता था ? मैं निराश घर लौट आया। इस अकृतकार्यता ने मुझे निराशावादी बना दिया।

निराशा के भँवर से मुक्ति

पौष १९३८ (जनवरी सन् १८८२) के आरम्भ में लॉ क्लास के लैक्चरों में शामिल हुआ। जब ८० प्रतिशत से अधिक उपस्थिति हो गई तब इस विचार से लौट आया कि घर से तैयारी करके परीक्षा दे दूँगा। तलवन में पढ़े-लिखों की सङ्गत नहीं मिल सकती थी, इसलिए मैं अधिकतर श्वसुर-गृह जालन्धर में रहने लगा।

जालन्धर में परीक्षा की तैयारी असम्भव देखकर मैं लाहौर चला गया। भाटी दरवाजे के अन्दर मकान किराये पर लिया। पास ही एक चौबारे पर "सर्वहितकारिणी सभा" खुली हुई थी। उसके अधिवेशनों में शामिल होने लगा। वहाँ भाई जवाहिरसिंह और भाई दित्यसिंह ज्ञानी से भेंट हुई। ये दोनों सज्जन आर्यसमाज लाहौर से भी सम्बद्ध थे। भाई जवाहिरसिंह लाहौर आर्यसमाज के मन्त्री व दित्यसिंह माननीय उपदेशक थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के साप्ताहिक जलसों में भी जाने लगा। लाहौर पहुँच कर मद्यपान का अभ्यास भी कम हो गया, सभा समाज में भी जाने लगा परन्तु परीक्षा की तैयारी में जी न लगता। १५-२० दिन कुछ देख-भाल कर परीक्षा में बैठा। दो दिन पीछे ही निश्चय हो गया कि उत्तीर्ण होना असम्भव है। परीक्षा के दिन पूरे करके जालन्धर लौट आया और वहाँ ही परिणाम सुन लिया।

पिताजी पहली छमाही की पेन्शन लेने जालन्धर आए,

तब उन्हें मेरे अनुत्तीर्ण होने का समाचार मिला। मुझे उदास देखकर उन्होंने तसल्ली दी और अपने साथ तलबन ले गये। मेरी धर्मपत्नी भी अपनी तीन चार मास की पुत्री को गोद में लिए सङ्ग चली आई। तीन महीने गृह के आनन्द में व्यतीत हुए। पुत्री का नाम वेदकुमारी रक्खा और उसके गोद लेने में दम्पती को स्वर्ग का सुख अनुभव होता था।

परन्तु संसार द्वन्द्वमय है। सुख में दुःख अवश्य विघ्न डालता है। भाई आत्माराम जी नौकरी से अलग होकर परिवार सहित घर लौट आये। इस प्रकार पिताजी के साथ दो परिवार हो गये। शिवदेवी जी की अवस्था कुछ ऐसी हो गई जिसे देख कर मुझे क्लेश हुआ। परन्तु उस देवी में ऐसी अपूर्व सहनशक्ति थी कि मुझे भी शान्त कर दिया। अब मुझे यह विचार सताने लगा कि मुझे कमाने योग्य बनना चाहिए।

तब मैं अपनी धर्मपत्नी को लेकर, दशहरे के पीछे जालन्धर चला गया। वहाँ आज्ञाकारी शिवदेवी को मन की सारी अवस्था सुनाकर मैंने उसे बतलाया कि मैं नौकरी की तलाश में चला हूँ, इस पर देवी की सम्मति माँगी। वहाँ उत्तर एक ही था—“आप जो उचित समझिये कीजिये। मैं सम्मति देने के योग्य नहीं। मेरा धर्म आपकी आज्ञा का पालन करना है।”

मैंने सब तैयारी कर ली। अंग्रेजों की चाकरी को बहुत गिरा हुआ काम समझता था। हृदय की तसल्ली के लिए यह निश्चय किया कि किसी राजपूताने की रियासत में जाना चाहिए। मैंने लाहौर का टिकट ल लिया और ट्रेन में बैठकर चल दिया। मार्ग में विचार-तरङ्ग ने फिर आ घेरा—“जिस चाकरी को तू गुलामी कहा करता था उसी की शरण लेने चला है। हिन्दोस्तानी रियासतों में तो और भी अधिक दासता है। अभी परीक्षा में दो मास बाकी हैं। यदि बिना परीक्षा दिये भाग

गया तो सम्बन्धी और इष्टमित्र तुझे क्या समझेंगे ? एक बार और हिम्मत कर । इत्यादि-इत्यादि

मियांमीर पहुँचने तक निश्चय कर लिया कि मुख्तारी की परीक्षा अवश्य देनी है । लाहौर पहुँचते ही एक मित्र मिल गये जो मुख्तारी की तयारी कर रहे थे । उनके साथ पाचक भी था । मैं उनके व्यय में शरीक हो गया और परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी । रामरङ्ग और गुलछर सब भूल गये । दिन को भोजन के पीछे छावनी की सड़क पर निकल जाता और चिड़िया घर में कोई एकान्त स्थान देखकर बैठ जाता । शाम तक वहीं पढ़ता और बाहर ही दिसा-फरागत हो डेरे पर लौटता, रात को फिर लैम्प होता और मैं । किसी समय स्काट के उपन्यासों पर आधी रात तक तेल जलाता था, अब आँखें प्रातः दो बजे से छः बजे तक कानून की किताबों की भेट हो रहीं थीं । परीक्षा देकर लौटा और सीधा पिता जी के पास चला गया—कारण यह कि इस बार कृतकार्य होने की पूरी आशा थी ।

परीक्षोत्तीर्ण होने का भाई बालकराम जी ने फिल्लोर द्वारा तार दिया । पिताजी के आनन्द की सीमा न रही । ठाकुरों का शृङ्गार कराया गया, ब्रह्मभोज हुआ और यहाँ तक कि मेरे मीसा हलदूरामजी के आग्रह पर एक विवाह पर आई हुई, रण्डी के नाच की आज्ञा भी पिताजी ने दे दी । तार द्वारा बालकराम जी ने मुझे शीघ्र बुलाया था । मैं जालन्धर होता हुआ लाहौर गया, मुख्तारी का लाइन्सेस लाया और अपना नाम जिला जालन्धर के कानून-पेशा जमात में लिखाकर अदालतों में जाना आरम्भ कर दिया ।

एक विशेष घटना !

एक विशेष घटना का वर्णन सम्बत् १९४० के अन्तर्गत ही करना चाहिए । ऋषि दयानन्द ने चान्द्र १३ कार्तिक दीपमा-

लिका की शाम को अन्तिम समाधि लगाकर अपने कार्य का बोझ आर्यसमाजों पर छोड़ा। देश के सब प्रान्तों में शोक सभाएँ हुईं। कोई भी समाचार पत्र ऐसा न था जिसमें उनके काम और विद्वत्ता की प्रशंसा न निकली हो। जब समाचार पत्रों में यह शोक समाचार मुद्रित हुआ उस समय मैं जालन्धर में था। मेरी प्रेरणा पर शोकसभा पण्डित शिवनारायण वकील के कमरे में की गयी। लाहौर से वक्ता मांगे गये। वहाँ से पण्डित गुरुदत्त और लाला हंसराज भेजे गये। हम सब उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर गये। जब एक पिढ़दा सा एम० ए० क्लास का सुकड़सा हड्डियों का पिंजर दिखाई दिया तो पण्डित शिवनारायण आदि ने कहा कि लाहौर वालों ने हमारे साथ मखौल किया है कि लड़के भेज दिये। परन्तु जब लाला हंसराज उर्दू में और पण्डित गुरुदत्त अंग्रेजी में संशोधक दयानन्द के गुण वर्णन कर चुके तो एक दर्जन से अधिक वकीलों में से किसी का हासला नहीं पड़ता था कि उनके धन्यवाद के लिए चार शब्द बोल दें। अन्त को सब शेखीबाजों को मौन देखकर पण्डित देवीचन्द्र वकील ने चार पंक्तियाँ बोल दीं।

अन्धकार की अन्तिम रात्रि

एक दिन एक बड़े वकील के यहाँ निमन्त्रण था। वहाँ खुला दौर चला। और तो सब अपने-अपने घरों को चले गये, मेरे साथ केवल एक "पाँचो ऐब शायरी" बाँके मुखतार रह गये। उन्हें कच्चे घड़े की चढ़ी हुई थी। बाहर निकलते ही उनका पैर लड़खड़ाया, मैं अपने अम्यासानुसार बराबर होश में था। मेरे साथी का घर शहर की गलियों की भूलभुलैयाँ के अन्दर था। उन्हें घर पहुँचाना मेरा कर्त्तव्य ठहर गया। बग्घी को वहाँ से विदा करके मैं मदमस्त शराबी के साथ शहर के अन्दर घुसा। मेरा एक हाथ साथी की कमर में और दूसरा उसके हाथ को

सहारा दे रहा था। मार्ग की एक गली में मुझसे छुट वह एक घर के अन्दर चला गया। मैं पहुँचा तो वहाँ एक बेइया बैठी थी। मुझे बहुत लज्जा आयी परन्तु मदमस्त को तो घर पहुँचाना था। उसकी गालियाँ सहते हुए भी उसे फिर वहाँ से ढकेला और उसके घर पहुँचा दिया। तब अपने उस समय के डेरे पर लौट आया। जिस मित्र के यहाँ उतरा हुआ था, वह बोतल खोले बैठे थे। अभी रात के आठ ही बजे थे। फिर दौर चलने लग गया, आधी बोतल शेष थी जो दोनों ने समाप्त की और दूसरी बोतल खुल गई। उसी में से अभी एक-एक पेग ही चढ़ाया था कि मेरे यजमान (मेजबान) भी आपे से बाहर होने लगे। मैंने उन्हें पीने से रोक कर सोने को कहा। वह बीच के किवाड़ खोल साथ के कमरे में गये। उनके जाते ही मैंने एक बार और पी ली और दूसरी बार प्याला भरने को सोच ही रहा था कि साथ के कमरे से चीख की आवाज आई। मैं किवाड़ धकेल कर अन्दर पहुँचा तो देखा कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्र के हाथों में छटपटा रही है और वह उस पर पाशविक आक्रमण कर रहा है। यदि मैं दो मिनट और न पहुँचता तो शायद उसके पतिव्रत धर्म की रक्षा न हो सकती। उस समय त्रिजली की तरह मेरी आँखों—मेरी अन्दर की आँखों के सामने गजराणी का पवित्र चित्र घूम गया और मेरी धर्मपत्नी शिव-देवी जी की मानो मूर्ति स्थित होगई। मैंने उस नराधम मित्र के दोनों हाथ पकड़ कर उसे ढकेल दिया। वह गिरा और देवी कांपती हुई अन्दर भाग गई। पिशाच मित्र को जबरदस्ती उसके पलङ्ग पर लिटा कर मैं बाहर आ गया। मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्टि के आगे घूमने लगा और तब से पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिये उसके प्रलोभन से मुक्त

हो जाऊँ। इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक और पर्दा उठा और यति व्यानन्द की विशाल मूर्ति कोपीन लगाये, शरीर में विभूति रमये और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा जैसा मानो महात्मा कह रहे हैं—“क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ?” आँख मली, मूर्ति कहीं सामने न थी परन्तु हृदय कोप उठा। मेरा कमरा सड़क की एक ओर था। सामने किसी दूसरे के घर की दीवार थी, गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लग कर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फेंकी, वह भी दीवार में टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

उठ कर मुँह हाथ धोया और बैठकर सोचने लगा। यदि उस समय निद्रा न आ जाती तो व्याकुलता का कोई पारावार न रहता। परन्तु दयालु पिता की बड़ी कृपा हुई। एक दम नींद आ गई, छः बजे नींद खुली। इसी नींद के अन्दर मानो नये जन्म की तैयारी की और लाहौर पहुँचने के दूसरे दिन से ही जीवन में पूरा परिवर्तन हो गया।



ओ३४

द्वितीय परिच्छेद

प्रकाश का क्रमशः विजय
आचार्य का आदेश पूरा हो रहा है ।

आर्य समाज में प्रवेश :

लाहौर आर्य मन्दिर में पहिली वक्तृता

सम्बत् १९४१ का माघ और आदित्यवार का दिन है । नास्तिकपन के गढ़े से निकल चुका हूँ । धर्म-विषयक गहरे आन्दोलन के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश का पाठ दिन-रात आरम्भ कर चुका हूँ । अनार कली के पास रहमत खां के अहाते में एक तीन कमरों की कोठी के बाँई ओर बैठा हूँ । सत्यार्थप्रकाश का आठवाँ समुल्लास सामने खुला पड़ा है, किन्तु मैं हाथ पर सिर रखे किसी गम्भीर विचार में निमग्न हूँ । इतने में कमरे का द्वार खुला और मेरे मित्र सुन्दरदासजी ने अन्दर प्रवेश किया । उनके पैर की आहट ने मुझे विचार निद्रा से जगा दिया । यह सुन्दरदासजी रावलपिण्डी के राजक्रान्ति के आदोलन में फंसे वकील लाला अमोलकराम के भाई, आर्यजाति की उन्नति के दृढ़ पक्षपाती थे । सुन्दरदास भी जानते थे कि नास्तिक बनने के पश्चात् मेरा अधिक जुके ब्राह्मसमाज की ओर हो रहा है । उन्होंने पूछा—किस

चिन्ता में हैं, कहिये कुछ निश्चय न हुआ?' मेरी ओर से उत्तर मिला—'पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सभासद बन सकता हूँ।' इस उत्तर ने सुन्दरदासजी के मुख की कान्ति को ऐसा उज्ज्वल कर दिया कि उसका तत्काल ही मुझ पर प्रभाव पड़ा।

भाई सुन्दरदासजी के साथ मैं शाह-ए-आलमी दरवाजे से नगर के अन्दर प्रवेश करके सीधा आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचा। संवत् १९४१ के माघ में मैं लाहौर पहुँचकर प्लीडरी परीक्षा की तैयारी कर रहा था। तब से यह नियम था कि प्रत्येक रविवार को प्रातः आर्यसमाज और सायंकाल ब्राह्म समाज के अधिवेशनों में सम्मिलित होता। किन्तु इस दिन कुछ भाव ही और था और आर्य मन्दिर की छत्रि भी कुछ निराली ही दिखाई देती थी। वही दोनों रवाबी (गायक) जिनकी हर सप्ताह ब्राह्म और आर्य मन्दिरों में बिहारीलाल की सङ्गीतमाला तथा नानक व कबीर के ग्रन्थों में से भजन गाते सुनता था, आर्य मन्दिर में सारङ्गी के अलाप और तबले की थाप के साथ भैरवी की तान छेड़ रहे थे—

'उतर गया मेरे मनदा संसा जब तेरा दरसन पायो।'

कैसे समय के अनुकूल शब्द थे, जो मेरे कानों में पड़े।

मैं सामने वाली दीवार के पास बैठ ही रहा था कि आर्यसमाज लाहौर के प्राणदाता स्वर्गीय लाला साईदासजी के कान में भाई सुन्दरदासजी ने कुछ कहा, शायद यह बतलाया गया कि मैं ऋषि दयानन्द की शरण ग्रहण कर चुका हूँ। उस शक्तिशाली मूर्ति को कौन भूल सकता है? जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर विदेशी सभ्यता की लहर ने प्राचीन सभ्यता को छिपाना आरम्भ किया था, उस समय ऋषि दयानन्द के उपदेश पर जिन कुछ महानुभावों ने स्वदेशी का आदर आरम्भ किया, उनमें लाला साईदासजी अग्रणी थे। किसी के शिर पर स्वदेशी पटका, किसी

का कुरता स्वदेशी गबरून का, किन्तु लाला साईंदास सिर से पर तक स्वदेशी रङ्ग में रंगे होते थे ।

लाला साईंदासजी उपासना की चौकी की बाईं ओर बैठा करते थे । उनकी दृष्टि मुझ पर देर से पड़ी थी । भाई सुन्दरदासजी की बात सुनते ही लालाजी ने दो-तीन बार जोर से मुझे अपने पास बुलाने का इशारा किया । ऐसे समय में लालाजी की मोंछों का फड़कना उनके अन्दर एक विचित्र प्रकारके तेजकी सूचना दिया करता था । मैं खिसक कर लालाजी के पास जा बैठा, और उन्होंने बड़े प्रेम से पीठ पर हाथ घर कर आशीर्वाद दिया । उसी समय भाई दित्तसिंहजी ने पञ्जाबी भाषा में बड़ा रोचक व्याख्यान आरम्भ कर दिया ।

पश्चात् भाई जवाहरसिंह जी उठे और मेरे आर्यसमाज प्रवेश के विषय में बहुत कुछ कहकर समाप्ति पर कह दिया कि ये अपने कुछ विचार उपस्थित सज्जनों के समक्ष प्रकट करेंगे । इस घोषणा ने मुझ पर मानों वज्रपात कर दिया । इससे पहिले मैं विद्यार्थियों की वाग्वर्धिनी सभाओं में तो बोला था, न्यायालयों में न्यायाधीशों के सामने मुकदमों में भी वक्तृताएं की थीं, किन्तु सर्वसाधारण के किसी बड़े समूह के सामने व्याख्यान नहीं दिया था, पहिले से कुछ सोचने का भी अवसर नहीं मिला था, इसलिए हैरान था कि क्या बोलूँ । उठते-उठते यही सूझी कि कि अन्दर के भाव प्रकट कर दूँ । मुझे उस समय की वक्तृता का पूरा स्मरण तो है नहीं, किन्तु २० वा २५ मिनटोंमें बँने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि हम सबके कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिए और इसलिये जो ढाल वैदिक धर्म के एक-एक सिद्धान्त के अनुकूल अपना जीवन नहीं रहा है उसे उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिये ।

मुझे याद है कि मैंने समाप्ति पर यह भाव भी प्रगट किया था कि भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता, इस पवित्र कार्य के लिए स्वार्थ त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।

जिस दिन मैंने व्याख्यान दिया उस दिन आर्य मन्दिर में अमृतसर-निवासी मास्टर हीरासिंह जी भी विद्यमान थे। वह लाहौर के ट्रेनिंग स्कूल में अध्यापकों की शिक्षा पाने के लिए गए हुए थे। जब दो-तीन वर्षों के पश्चात् मास्टर हीरासिंहजी जालन्धर अध्यापक बन कर आये, तो उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरी पहली वक्तृता सुनकर जब लाला साईंदासजी अपने घर आए तो उस वक्त मास्टरजी तथा अन्य तीन चार आर्यसामाजिक सभ्यों के सामने उन्होंने कहा—‘आर्य समाज में यह नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आई है। देखें आर्यसमाज का झारती है या डुबोती है।

जालन्धर आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का आरम्भ

लाहौर के आर्यमन्दिर से लौटकर हम सब इकट्ठे डेरे पर आये। मेरे कथन ने मेरे साथियों पर भी असर किया। भोजन के समय भाई सुन्दरदास, महाशय रामचन्द्र तथा महाशय मुकुन्दराम आदि ने यह निश्चय किया कि वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये हम सप्ताह में कम से कम एक बार नगर के किसी भाग में बिना विज्ञापन दिये पहुँचा करें। इस प्रतिज्ञा पर उस वर्ष के बड़े हिस्से में बड़ी तत्परता से अमल होता रहा।

भोजन के पश्चात् कुछ कानूनी किताबें पढ़कर मैं टहल रहा था कि तीसरे पहर की डाक आई। उसमें ‘जालन्धर कन्यामहाविद्यालय’ के प्रसिद्ध वर्तमान प्रधान श्री महाशय देवराजजी का पत्र था। मालूम होता है कि मेरे नास्तिकपन के गड़ेसे निकल कर आस्तिक होने का समाचार भक्तरामजी ने अपने बड़े भाई को लिख दिया था। इन दोनों ने पहले से ही जालन्धर

में आर्यसमाज स्थापित कर छोड़ा था । इस पत्र में देवराजजी ने जो कुछ मुझे लिखा उसका सारांश यह था कि यतः मैं अब नास्तिक नहीं रहा इसलिए मैं जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया हूँ, और उन्होंने स्वयं मन्त्री पद ग्रहण किया है । मैंने पत्र भक्तराम जी को दिखलाया और छटते ही मेरे मुख से निम्न शब्द निकले—

“भाई देवराज भी बड़े भोले हैं । केवल यह सुनकर कि मैं ईश्वरवादी हो गया, उन्होंने कैसे समझ लिया कि मैं आर्यसमाज में भी प्रविष्ट हो गया हूँ । बिना यह निश्चय किए और बिना मेरे परीक्षण के मुझे प्रधान बनाना बड़ा ही आश्चर्यजनक है ।”

मैं तो अभी विचार-सागर में ही गोते लगता रहा किन्तु भाई भक्तराम जी ने जालन्धर सूचना दे दी कि मुझे निःशंक होकर आर्यसमाज जालन्धर का प्रधान बना दिया जावे । मैंने आर्यसमाज का सभासद बनने पर आठवें समुल्लास को समाप्त कर सत्यार्थप्रकाश के पाठ को दो दिनों से विराम दे छोड़ा था, किन्तु जब यह पता लगा कि मुझे निश्चय रूप से एक आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया है तो मैंने फिर नियमपूर्वक प्रतिदिन दो घण्टे ‘सत्यार्थप्रकाश’ के पठन व मनन के लिये अर्पण करना शुरू कर दिया । नवें समुल्लास ने मुक्ति विषय में बहुत से संशयों की निवृत्ति करके मनुष्य जीवन के मरमोद्देश्य के रहस्य को खोल दिया । पश्चात् मैंने दशम समुल्लास को हाथ लगाया । उस समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के विषय ने जीवन में एक और हलचल डाली जिसका सविस्तार वर्णन आवश्यक है ।

साँस भक्षण का परित्याग

लाहौर में जबसे मैं इस बार आया तबसे ही दोनों काल

भ्रमणार्थ बाहर जाया करता। सायंकाल को तो भोजन के पश्चात् अपने कानूनी सहपाठियों के साथ बातचीत करते हुए मैं धीरे २ घूमा करता था, किन्तु प्रगतः नित्य भ्रमण करता, जिसमें थोड़ी दूर तक दौड़ना भी शामिल था। एक दिन होली से चार पाँच दिवस पहिले, मैं दूर से भ्रमण करता हुआ अनुमान ५ बजे अनारकली में पहुँचा। बाहर स्वच्छ वायु का सेवन करते हुए वाटिकाओं के सुन्दर दृश्य देखे थे, अनारकली में सामने से सिर पर माँस का टोकरा दिखाई दिया। टोकरे का उठाने वाला मनुष्य बोझ के दबाव से बचने के लिये भागा जाता था, और टोकरे में भेड़-बकरियों और बकरों की खाल, उधड़ी हुई टांग, बाहर लटकती हुई टांगें एक भयानक दृश्य उपस्थित कर रही थीं। न जाने क्यों उस दिन इस दृश्य ने मेरा दिल दहला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि वह लटकती हुई टांगें, मेरे अन्दर के तिरोहित करुणरस को अपील कर रही हैं। मैं बाल्यावस्था से ही मांसाहारी था, पिताजी क्षत्रिय के लिए माँस भक्षण स्वाभाविक समझते थे। फिर इस आकस्मिक करुणरस का मतलब उस समय कुछ भी समझ में न आया। उस टोकरे की ओर मेरी टकटकी बँध गई। कुछ सोचता हुआ मैं खड़ा हो गया, और उस समय तक टोकरे पर दृष्टि लगी रही जब तक कि वह आँखों से ओझल न होगया। तब धीरे २ पैर बढ़ाते हुए चिन्ता में निमग्न रहमत खाँ के अहाते वाले डेरे में पहुँचा।

स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर 'सत्यार्थ प्रकाश' को हाथ में लिया ही था कि अपना एक और कर्तव्य याद आ गया। सप्ताह में एक रात हमारे ही डेरे के एक बड़े कमरे में सङ्गत समाज (यूनियन क्लब) का अधिवेशन हुआ करता था जिसमें विविध विषयों पर परस्पर विचार होता था। उस रात के अधिवेशन में आरम्भिक वक्तृता मेरी थी। उसकी तैयारी में

प्रातः काल की दृश्य भूल गया। तीसरे पहर तक कानून की पढ़ाई में लगा रहा, जिसके पश्चात् सत्यार्थकाश की बारी आयी। उस दिन दशम समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के विषय का आरम्भ था। ज्यों २ मांस-भक्षण के दोष पढ़ता गया त्यों २ प्रातःकाल का दृश्य मूर्तिमान् होकर मेरे समक्ष खड़ा होता गया। एक २ शब्द ध्यानपूर्वक पढ़ते, भोजन का समय आ पहुँचा। अपने विचार में निमग्न हाथ-पाँव धोकर मैं भी भोजगृह में आ बैठा। अन्य खाद्य वस्तुओं के साथ ही मांस भी कटोरे में आया ही था कि उसे देखकर उस दिन ऐसी घृणा हुई कि काँसी के कटोरे को उठा दीवार पर फेंक मारा। कटोरा टुकड़े २ हो गया। मेरे साथी सब घबराये—'है ! है !

क्या तरकारी में मक्खी पड़ गयी ? क्या था ? ओ मिश्र ! कमवस्तु यह क्या किया ?..... क्या किया ? मैंने सबको रोककर कहा "मिश्र बेचारे को कुछ मत कहो, एक आर्य के मत में मांस भक्षण भी महापापों में से एक है, मैं मांस का अपनी थाली में रखा जाना सह नहीं सकता।" उस समय तो मेरे सब भाई ऐसे प्रभावित हुए कि चुप हो रहे, किन्तु पीछे से कहते रहे कि कटोरा टुकड़े २ करने के स्थान में उसे मैंने केवल उठवा ही क्यों न दिया ? उन्हें तो मैंने कुछ उत्तर न दिया किन्तु मन में समझता था कि मैंने अपने कायर-पन के कारण ऐसा किया। बचपन से पड़े हुए अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शान्ति से काटने की शक्ति किन्हीं बिरले बहादुरों में ही होती है। शाम भोजन बहुत कम कर सका। दूसरे दिन से निरामिष भोजियों की संख्या बहुत बढ़ गयी, क्योंकि होशियारपुर के महाशय रामचन्द्र तथा लाला मुकुन्दराय, दोनों निरामिषभोजी थे। उसके पश्चात् कभी मांस भोजन की रुचि तक नहीं हुई और कुछ दिनों के पश्चात् ही मांस भक्षण से ऐसी

घृणा हुई कि मेरे लिए न केवल उस पंक्ति में बैठना असह्य हो गया जिसमें मांस परोसा जाय, अपितु मांसाहारियों के चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा ।

होली की छुट्टियों के लिए मुझे भाई देवराज जी का निमन्त्रण मिला । मेरे आर्य-समाजी बनने के पश्चात् सभी जालन्धरी भाई मुझसे मिलना चाहते थे । इसलिए मैं होली से एक दिन पहले ही जालन्धर पहुँच गया ।

जालन्धर आर्यसमाज में,

पहिला व्याख्यान

मेरे व्याख्यान का विज्ञापन दिया गया । कपूर्थला राज के वकीलखाने के सामने से जरा आगे चलकर मुरलीमल पुरी की धर्मशाला प्रसिद्ध थी, उसी को किराये पर लेकर आर्यसमाज के अधिवेशन प्रति आदित्यवार को हुआ करते थे । मेरा व्याख्यान भी वहीं हुआ । व्याख्यान का विषय था 'बाल विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य की महिमा ।' भाई देवराज जी की मनोकामना सिद्ध हुई । बाबू मदनगोपाल, बाबा सलामतराय आदि वकील तथा अन्य बहुत से प्रतिष्ठित शिक्षित पुरुष व्याख्यान सुनने के लिए आये । स्थान ऊपर से नीचे तक श्रोताओं से खचाखच भरा पड़ा था । व्याख्यान भी 'कामयाबी' से समाप्त हुआ किन्तु जब व्याख्यान के पश्चात् चौमुहानी पर पहुँचे और कुछ वकील खड़े होकर मुझे 'मुबारकबाद' दे रहे थे, उसी समय देवराजजी के 'सित्त' * ने दूसरी ओर से मुझे बघाई दी 'सुखी' रहो जजमान !

*पञ्जाब में पुरोहित के अतिरिक्त प्रत्येक कुलका एक रोटीबनाने वाला ब्राह्मण लागी होता है, जिसका परिवार विवाहादि संस्कारों पर यजमानों के यहाँ रोटी बनाने का काम करता है। ऐसे लोगों को 'सित्त' कहते हैं ।

देवराज जी दे पुत्र गन्धव दी कुड़माई लालाभवानीदास मुन्सिफ दी पुत्री नाल हो गई है। थुआनु बहुत र बघाइयाँ।' सित्त विचारा अभी बघाई दे ही रहा था कि बाबू मदनगोपाल प्लीडर बड़े जोर से खिलखिलाकर हंस पड़े ! 'वाह महाशय जी मुझ पर तो आपके व्याख्यान का खूब असर पड़ा। वाह ! वाह !! वाह !!!

बाबू मदनगोपाल की हंसी रुकती ही न थी। उनकी हंसी ने केवल 'सित्त' जी को ही अचम्भे में नहीं डाला, प्रत्युत रास्ते चलतों को भी रोक लिया। पाठक हैरान होंगे कि बाबू मदनगोपालजी की हंसी पागलपन की हद तक क्यों पहुँच गई? बात यह थी कि उस समय देवराज जी के बड़े पुत्र चि० गन्धर्वराज की आयु शायद एक वर्ष की थी और लाला भवानदास बी० ए० मुन्सिफ की पुत्री की आयु सवा वर्ष की। मैं और देवराजजी तो इधर बाल विवाह को रोकने और ब्रह्मचर्य का प्रचार करने में लगे हुए थे और उधर उनके पिता राय शालिग्रामजी एक वर्ष की आयु के अपने पोते की सगाई सवा वर्ष की लड़की के साथ करने के शुभ कार्य में निमग्न थे। इस पर किसी दर्शक को जितनी भी हंसी आती, थोड़ी थी। बाबू मदनगोपाल तो हमारी हंसी उड़ाते हुए और मैं तथा देवराजजी बहुत लज्जित और उदासीन होते घर को लौट आये। किन्तु हो क्या सकता था, उस समय मौनावलम्बन ही करना पड़ा।

यहाँ कालक्रम की विधि का अनुसरण छोड़कर मैं इतना लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि जब लड़के और लड़की दोनों की आयु १४ वा १५ वर्ष तक पहुँची और समधी ने विवाह पर जोर दिया तो देवराजजी के दृढ़ रहने पर और यह कहने पर कि मैं अपने पुत्र का विवाह २५ वर्ष की आयु से पहिले कदापि न करूँगा, वह नाता टूट गया और चिरञ्जीव गन्धर्वराज का विवाह पूणे युवावस्था में ही एक सुयोग्या विदुषी कन्या से हुआ।

उपर्युक्त पहिला व्याख्यान देकर मैं फिर वकालत परीक्षा की तैयारी के लिए लाहौर चला गया ।

आर्यसमाज में आरम्भिक अनुभव

लाला साईंदास जी उस समय आर्यसमाज लाहौर के स्वामी समझे जाते थे । वह पब्लिक व्याख्याता कभी थे ही नहीं । समाचार-पत्रों में भी वह प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं लिखते थे । उस समय तक उन्होंने एक उर्दू ट्रैक्ट "एक आर्य" नाम से लिखा था जिसमें कलकत्ते के पण्डितों की ऋषि दयानन्द के विरुद्ध दी हुई व्यवस्था की पड़ताल की गयी थी; लाहौर आर्यसमाज की परिधि से बाहर उनको कोई भी नहीं जानता था । बाहर के लोग राय मूसरराज, लाला जीवनदास और भाई जवाहिरसिंह आदि से अधिक परिचित थे, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी लाहौर आर्यसमाज की—और उसके साथ पंजाब के सारे आर्यसमाजों की, जिनका जीवन इस समय लाहौर आर्यसमाज पर ही निर्भर था—सारी कला के संचालक लाला साईंदास जी ही थे । इस शक्ति तथा अधिकारों को वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईंदास जी से अधिक वास्ता पड़ता था । पब्लिक में बह कभी मुँह न खोलते और यही समझा जाता था कि उनमें वक्त्रवृत्त शक्ति नहीं है, किन्तु जब श्रोताओ की संख्या एक से अधिक न होती उस समय लाला साईंदास जी से बढ़ कर कोई वागीश दिखाई नहीं देता था । इतिहास के वह अवतार थे और विशेषतः ईसाइयों के धार्मिक इतिहास के अतिरिक्त मुसलमानों और सिखों के इतिहास से भली प्रकार अभिज्ञ थे । शायद उन्हीं दिनों स्वर्गीय मिस्टर ह्यूम कांग्रेस की स्थापना के लिए आन्दोलन करने लाहौर में आये थे ।

उन दिनों हम सब इकट्ठे रहने वाले साथियों के अन्दर धर्मप्रचार के लिए बड़ा उत्साह था । भाई सुन्दरदास, मैं, महा-

शय रामचन्द्र तथा मुकुन्दलाल जी नित्य किसी न किसी चोमुहानी पर खड़े होकर एक मास तक सर्वसाधारण को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाते रहे। दुःख की बात है कि छुट्टी से लौटने पर अन्य कामों में फँस जाने के कारण उन पवित्र कामों में वह उत्साह न रहा। इन्हीं दिनों साधु आलाराम के व्याख्यानों के अतिरिक्त लाहौर शहर के मध्य "बावली साहेब" में चौधरी नवलसिंह की लावनिया हुईं जिनके गभाव से कोट-बूट वाले बाबुओं के अतिरिक्त दुकानदारों तथा आर्य जाति के सर्वसाधारण इंग्लिश शिक्षा-शून्य पुरुषों का प्रेम भी आर्यसमाज के साथ बढ़ गया।

पहली आत्मिक हलचल

न हि सत्यात्परो धर्मः लाहौर से मैं बड़े उच्च विचार तथा उत्साह लेकर जालन्धर आया और अभी दो-तीन दिन ही व्याख्यान दिये थे कि मेरे ग्राम से पिताजी के रोगग्रस्त होने का समाचार पहुँचा। इस समाचार को सुनते ही मैं अपने ग्राम तलवन को चला गया। + + +

पिताजी के अपेक्षाकृत नीरोग होने पर भी मैं तलवन ग्राम में ही ठहर गया और उनकी सेवा करने लगा। इतने में ज्येष्ठ की निर्जला एकादशी का दिन आ पहुँचा। स्नान-पूजा से निवृत्त होकर पिताजी अपनी बैठक से घर में आये। यहाँ झञ्झर पानी से भरकर और उसके ढक्कन पर खरबूजा, मीठा और दक्षिणा धर कर सारे घर को सङ्कल्प पढ़ना था। निर्जला एकादशी के दिन जितना जल हमारे हिन्दू भाई पीते हैं उसे देखकर उस अनौखे नामकरण संस्कार पर हँसी आती है। व्रत तो यह है कि एक दिन-रात निराहार, यहाँ तक कि बिना जल के निर्वाह करेंगे और व्रतियों का आचरण यह कि दिन भर खरबूजे खाकर

शरबत पोते-पीते हैजे के शिकार बन जायं ! कैंसी अद्भुत लीला है !!

निर्जला एकादशा का दिन मेरी धार्मिक परीक्षा का पहिला अवसर था । पिताजी ने सङ्कल्प के समय मुझे बुलाने को आदमी भेजा । मैं सामने पहुँच कर खड़ा हो गया और नीचे लिखी बातचीत हुई ।

पिताजी—“आजो मुन्शीराम ! तुम कहाँ थे ? हमने तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा करके सबसे सङ्कल्प पढ़ा दिया है । तुम भी सङ्कल्प पढ़ लो, तब मैं भी सङ्कल्प पढ़ कर निवृत्त हो जाऊँगा ।”

मैं पिताजी से स्पष्ट कहने में डरता था इसलिये पहला उत्तर यह दिया—“पिताजी ! सङ्कल्प तो दिल के साथ सम्बन्ध रखता है, जब आपने सङ्कल्प किया है तो आपका दान है, जिसे चाहें दें । इसलिये मैंने आना आवश्यक नहीं समझा था ।”

पिताजी को मेरे आर्य बनने की खबर मिल चुकी थी । पहिले तो उन्हें कुछ प्रसन्नता हुई थी क्योंकि उनको केवल इतना ही पता लगा था कि मैं नास्तिक से आस्तिक बन गया हूँ । किन्तु जब जालन्धर से मेरे तथा देवराज जी के व्याख्यानों का समाचार उन्हें मिला तो उन्होंने देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी को लिखा था कि हम दोनों को अपने देवी-देवताओं की निन्दा करने से रोकना चाहिए । बीमारी में वह इन सब बातों को भूल गये थे किन्तु आज सब पुराने संस्कार जाग उठे । पिता जी ने मेरे उत्तर में कहा—

“क्या मेरा घन तुम्हारा नहीं ? फिर उसमें से दान देने का तुम्हें अधिकार क्यों नहीं ? और क्या दिल का सङ्कल्प बाहर निकालना पाप है ? तुम ठीक कारण क्यों नहीं बतलाते ?” इतना कहकर पिताजी ने सीधा वार किया—क्या तुम एकादशी

और ब्राह्मण पूजा पर विश्वास नहीं रखते ? क्या बात है ?”

इस स्पष्ट प्रश्न पर निकलने का कोई मार्ग न देख पड़ा, मैंने कहा—‘ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूर्ण विश्वास है किन्तु जिनको आप दान देना चाहते हैं, वे मेरी दृष्टि में ब्राह्मण नहीं हैं और एकादशी के दिन में भी मैं कुछ विशेषता नहीं समझता ।’ मेरा इतना कहना था कि पिताजी आश्चर्ययुक्त होकर मेरी ओर देखने लगे । मैंने आँखें नीची कर लीं । एक क्षण के पश्चात् पिताजी ने दीर्घ श्वास लिया और कहा—‘मैंने तो बड़ी आशा लेकर तुम्हें बड़ी सरकारी नौकरी से हटा वकालत की ओर डाला था । मुझे तुमसे बड़ी सेवा की आशा थी, क्या उस सबका फल मुझे यही मिलना था ? अच्छा जाओ ।’ मैं चुपचाप नीचे उतर आया और सारे दिन शोक-सागर में डूबा रहा ।

दो-तीन दिन तो मैं पिताजी के पास जाने से घबराता रहा और वह मुझे बुलाने से टलते रहे, किन्तु उनके हृदय में मेरे लिये गहरा प्रेम था । एक दिन मुझे स्वयं बुलाकर किसी अपने अंग्रेज मित्र को पत्र लिखवाया । शनैः शनैः निर्जला एकादशी के दिन का दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया । छुट्टियाँ शायद भाद्रपद के तीसरे सप्ताह तक थीं । मैंने सारी छुट्टियाँ पिताजी की चिकित्सा कराने और उनकी सेवा करने में व्यतीत कीं । इन्हीं दिनों मैंने सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय और पञ्च महायज्ञ विधि की पूरी आवृत्ति की और जब लाहौर चलने लगा उस समय तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का आधा पाठ कर चुका था । इस पढ़ने के काम में मुझे एक योग्य शिष्य मिल गया । पंजाब में संस्कृतज्ञों का वैसे ही उस समय अभाव था और फिर ग्राम में तो संस्कृत का काम ही क्या, किन्तु तलवन के देहाती मदरसे का द्वितीयाध्यापक ८) मासिक पाने वाला काशीराम संस्कृत जानता था और इसलिए पिताजी को उनकी

रुचि के अनुकूल धर्मग्रन्थ सुनाया करता था। वही काशीराम मेरे पठन-पाठन में भी सम्मिलित हुआ और जब मैं तलवन से लाहौर लौट गया तो पीछे उसी ने पिताजी की श्रद्धा मेरे मन्तव्यों के ऊपर जमवायी।

दूसरी आत्मिक परीक्षा

(नास्ति सत्य सम तपः)

इस प्रकार, ज्यों-त्यों करके मैंने दो मास से अधिक काट दिये, और लाहौर के लिए प्रस्थान का दिन निकट आ गया। नागौरी बैलों से जुती हुई मञ्जोली तैयार हुई, उसके नीचे और पीछे असबाब रखवा और बंधवाकर मैं पिताजी की सेवा में प्रणाम करने के लिए उपस्थित हुआ। पिताजी ने सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। मैं चलने के लिए उठने लगा। आज्ञा हुई कि अभी बैठ जाओ। फिर भीमा भृत्य को इशारा हुआ। उसने एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रखकर थाली मेरे सामने की। तब पिताजी ने कहा—“जाओ पुत्र ! ठाकुर जी को मत्था टेककर बिदा होओ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र भगवान् के पायक हनुमानजी तुम्हारी रक्षा करें।” मैं इतना सुनते ही सुन्न होगया। काटो तो खून नहीं। कुछ उत्तर न बन आता था, चुपचाप बैठा था। पिताजी ने मेरे मौन का कारण समझा कि मैं आठ आने की भेंट देवता के लिए कम समझता हूँ। भीमा को कहा गया कि अठन्नी उठाकर एक रूपया रख दे। उसने ऐसा ही किया। तब पिताजी ने कहा—“पुत्र ! अब ठीक होगया, देर होती है। ठाकुर जी को मत्था टेककर सवार हो जाओ। तब मुझे अपने ऊपर बड़ा जब्र करके बोलना ही पड़ा। यह नहीं सूझता था कि किस प्रकार बोलूँ कि पिताजी को कष्ट न हो। मैंने कहा—“पिताजी यह बात

वहीं है, किन्तु मैं अपने माने हुए सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ ? हाँ, सांसारिक व्यवहार में जो आप आज्ञा दें, उसके पालन के लिए हाजिर हूँ ।” इतना कह कर मैं चुप हो गया ।

पिताजी के मुख पर कई प्रकार के उतराव-चढ़ाव आये और उन्होंने क्रोध भरे शब्दों में कहा—“क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु-पत्थर समझते हो ?” इस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था । न जाने कसे घृष्टता से मैंने कहा—‘परमात्मा से नीचे अपने लिए मैं आपको ही समझता हूँ, किन्तु हे पिता ! क्या आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान मक्कार हो ?’ यह शब्द बड़े ही करुणापूर्ण स्वर में मेरे अन्दर से निकले थे । पिताजी की जबान भी कुछ लड़खड़ा गयी—“कौन अपनी सन्तान को मक्कार देखना चाहता है ?” मैंने उस समय को जीवन की रक्षा व मृत्यु-प्राप्ति का समय समझा और कहा—‘तब मेरे लिये तो यह मूर्तियाँ इससे बढ़कर कुछ नहीं और यदि मैं उनके आगे भेंट धर कर सिर भुकाऊंगा तो वह मक्कारी होगी ।’ कहने को तो मैंने इतना कह डाला किन्तु उस पर पिताजी के हृदय-वैधक शब्द सुनकर मुझमें कुछ शक्ति ही नहीं रही । “हाँ ! मुझे विश्वास नहीं कि मरने पर मुझे कोई पानी देने वाला भी रहेगा, अच्छा भगवान् जो तेरी इच्छा ?” मैं मानो धरती में गड़ गया पर वहीं के वहीं रहे । दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिताजी ही कुछ बोले । फिर उन्होंने धीरे से कहा—“अच्छा, अब जाओ देर होगी ।” मैंने चुपचाप प्रणाम किया और नीचे उतर कर मझोली पर सवार हो गया ।

मझोली तक पहुँचते २ मेरे मन में कई प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते रहे । प्रधानतया यही विचार मेरे मन में आता था कि जब मैं पिताजी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं, जब

मैं उनकी स्वर्ग-प्राप्ति या मोक्ष का साधन नहीं बन सकता, जिसके लिए उनके मतानुकूल मृतक श्राद्ध तथा तर्पणादि आवश्यक हैं, तब मुझे क्या अधिकार है कि उनके कमाये धन में हिस्सेदार बनूँ ? मुझे चलते समय पिताजी ने पचास रुपये खर्च के लिए दिए थे। मैंने वह रुपए एक कागज में बाँधकर अपने एक सम्बन्धी के हवाले किए और कह दिया कि दूसरे दिन सबेरे वह उस धन को मेरे पत्र सहित पिताजी के आगे पेश कर दे। पत्र में केवल इतना लिख दिया कि "जब मैं आपके मन्तव्य के विरुद्ध मत रखता हूँ तो मुझे कोई अधिकार नहीं कि सुपात्रों के भाग में से कुछ लूँ। जीवन शेष है तो आपके चरणों में अपनी भेंट रक्खूँगा ही।" मैं रुपए देकर चल दिया। अभी एक मील भी माड़ी नहीं गयी थी कि घोड़ा सरपट दौड़ने हुए वही सम्बन्धी आते देखे। मैंने मझोली खड़ी करा दी। घुड़सवार ने पहुँचते ही रुपयों की पोटली मेरे हवाले की और पिता जी का मौखिक सन्देश सुनाया—“तुम प्रतिज्ञा करके गए हो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओं से मुख नहीं मोड़ोगे। यह मेरी सांसारिक आज्ञा है कि यह रुपया ले जाओ और बराबर व्यय के लिए रुपया मुझसे माँगते रहो ?” पिताजी के इस सन्देश ने मेरे हृदय की डाँवाडोल अवस्था को ठीक करने में बड़ी सहायता दी।

लाहौर में परीक्षा की तैयारी

आश्विन संवत् १९४२ के मध्य में (सितम्बर सन् १८८५ की समाप्ति पर) मैं लाहौर लौट आया। हमारे कानूनी प्रोफेसर श्री गुरकर के लाहौर से बदल जाने के कारण उनके स्थान में कारस्टीवन साहब हमारे प्रोफेसर नियत हुए। यह बड़े शान्त स्वभाव तथा जनप्रिय थे। मैंने वकालत परीक्षा की तैयारी फिर बड़े जोर शोर से आरम्भ करदी। मेरे दूसरे साथी भी सब लौट

आये । आर्यसमाज के कामों में यद्यपि मैं विशेष सहयोग देने के योग्य न था तथापि मैं सभी साधारण व असाधारण अधिवेशनों में अवश्य सम्मिलित हुआ करता था ।

पं० गुरुदत्तजी के साथ आत्मिक ऐक्य

संवत् १९४२ (सन् १८८५) तक वकालत की परीक्षा मार्गशीर्ष के अन्त (दिसम्बर के मध्य) में हुआ करती थी । उसी वर्ष के आषाढ़ (जून) मास में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलिज खुल चुका था, श्रीमान् हंसराजजी कालिज की सेवा के लिये जीवन प्रदान कर चुके थे, और मियानी निवासी श्री ला० ज्वाला-सहाय जी के ८०००) के दान ने कालिज का खुलना सम्भव कर दिया था । इन घटनाओं के पश्चात् मार्गशीर्ष के मध्य में (नवम्बर के अन्तिम) शनिवार तथा आदित्यवार के दिन लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हुआ । यह पहिला अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त को मैंने दयानन्द कॉलिज के लिए लाहौर आर्यसमाज की वेदी पर से अपील करते हुए सुना । उसी व्याख्यान से मेरा चित्त पण्डित गुरुदत्त की ओर आकर्षित हो गया और अधिक मिलने से मैंने शनैः २ अनुभव किया कि यही एक आत्मा है जिसके साथ मेरे आत्मिक भाव ऐक्य को प्राप्त हो सकते हैं । जब मैं दूसरे दिन विशेष प्रकार से पण्डित गुरुदत्त से मिलने गया तो उन्होंने भी अपने भावों से यही प्रकट किया कि हम दोनों एक दूसरे को समझते हैं ।

सत्य का प्रभाव

पौष संवत् १९४२ के प्रथम सप्ताह में मैं जालन्धर पहुँचा । पिताजी ने मुझे पहले ही लिखा था कि मेरे जालन्धर लौटने पर वह पेन्शन लेने आवेंगे और मुझे अपने साथ तलबन ले जायेंगे । पिताजी के उतरने का प्रबन्ध मुन्शी कन्हैयालाल की

नयी कोठी में किया गया। जालन्धर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि स्थानीय बार्धसमाज का साप्ताहिक बधिवेशन रात को हुआ करता है। सम्काल तक पिताजी न बाये। रात में उन्हें देखने के लिए एक बादमी बैठकर मैं बधिवेशन में सम्मिलित हुआ। मैंने ईश्वर प्रार्थना के पश्चात् एक भावनामय उपदेश दिया और वेदी से उतर कर बगैरी बैठ-ही था कि मृत्यु ने बाकर पिताजी के पहुँचने की सूचना दी। मैं उसी समय माया और पिताजी की मञ्जोली को रेल के फाटक के पास जा पकड़ा। नमस्कार करके पाद स्पर्श किया। पिताजी ने पूछा—“क्या ! समाज का बधिवेशन समाप्त हो गया ?” मैंने कुछ संकोच से उत्तर दिया—“केवल भजन और बारती रह गयी थी, बापका वाचमन सुनकर भाव आया।” पिताजी ने बड़े प्रेम भरे शब्दों में कहा—“क्या जल्दी थी, समाज का बधिवेशन समाप्त करके ही जाना चाहिए।” मुझे इन शब्दों ने कुछ विस्मित सा कर दिया। कहीं तो पिताजी मेरे तलवन से चलते समय मूर्ति के बाये चढ़ावा चढ़ाने से इनकार करने पर इतने रूठ थे और कहीं यह कृपा और प्रेम ! कुछ समय में न आया किन्तु दूसरे ही दिन सारा भेद खुल गया।

तलवन में ८) पाने वाले जो नाथब मुदरिस थे उनका नाम काशीराम था। वह जन्म के ब्राह्मण और संस्कृत पढ़े हुए थे, किन्तु उन दिनों संस्कृत की पृष्ठताछ कहीं थी ? पण्डित काशीराम का परिवार बड़ा था क्योंकि “दशास्यां पुत्रान्” की मर्यादा के उल्लंघन की सीमा पर पण्डित जी पहुँच चुके थे, और वेतन कुछ भी नहीं बढ़ा। इसलिए इधर-उधर के मनुष्यों से दान लेकर ही उनका यत्किञ्चिन् निर्वाह होता था। पिताजी से उन्हें विशेष सहायता मिलती थी, क्योंकि जब से पिताजी की आँखों पर स्तम्ब रोग का आक्रमण हुआ था तब से धर्म-

ग्रन्थों का पाठ ऊन्हीं से सुना करते थे । ताहोर चाहे समय "सत्यार्थ प्रकाश" तथा "पंच महायज्ञ विधि" मेरी दो पुस्तकें पिताजी की बैठकके कमरेमें छूट गयी थीं । मैं उन दिनों ऋग्वेदादि-शाष्य भूमिका का स्वाध्याय कर रहा था इस कारण उन पुस्तकों के अभाव का मैंने अनुभव नहीं किया । पिताजी ने मेरी इन पुस्तकों को देखकर पण्डित काशीराम से इनका पाठ सुनाने के लिये कहा । जब पण्डित जी सुनाने को उद्यत हुए तो पिताजी ने कहा—“पहिले इनकी देखभाल कर लो तब सुनावो, हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ सुनना नहीं चाहते ।” पण्डित काशीराम जी थे आदमी चतुर, उन्होंने सबसे पहिले ब्रह्मयज्ञ का पाठ अर्थात्सहित आरम्भ किया । ज्यों-ज्यों पिताजी सुनते उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती । जब पण्डित काशीराम ने सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास सुनाया, तब पिताजी ने कहा—“पण्डित जी ! हम तो अविद्या में ही पड़े रहे, हमारा मोक्ष कैसे होगा ? हमने तो निरर्थक क्रियाएँ ही कीं, अब से वैदिक सन्ध्या करेंगे ।” वस फिर क्या था, पिताजी ने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थ कण्ठ करना आरम्भ कर दिया । अब वैदिक सन्ध्या और 'पंचायतन' अर्थात् पाँच देव-मूर्तियों की पूजा साथ ही साथ होने लगी ।

पिताजी की यह मानसिक अवस्था थी, जब वह जालन्धर में मुझे मिले । पिताजी उस समय मुझे फिर बहुत प्यार करने लग गये थे, मानो जो अप्रसन्नता पहले प्रकट की गई थी उसका प्रतिकार हो रहा था ।

मुख्तारी और दूकानदारी

सन् १९४२ के अन्त में मैंने सूदों के चौक में एक दूसरी मंजिल का मकान किराये पर लिया और मुख्तारी का काम जोर-शोर से आरम्भ कर दिया । आर्यसमाजमें भी नाम लेता एक बड़ी मनोरंजक बात थी । मैं था आर्यसमाज का प्रधान और

मुझे हिन्दू समाज की कुरीतियों के विरुद्ध काम करना पड़ता था, किन्तु मैं रहता था लाला वसन्तराय कोहली के मकान में जो उसी वर्ष पौराणिक (सनातन !) धर्म-सभा के मन्त्री बने थे और जिनकी दुकान मेरे मकान के नीचे ही थी। वह बड़ा ही आनन्द-दायक दृश्य था कि जो विज्ञापन नीचे लिखा जा रहा है उसका खण्डन उसके ऊपर तैयार हो रहा है।

जिसकी पहल उसी की जय !

एक पुरानी कहानी है कि दो राजकुमार युवक किसी राजसेना के घुड़सवारों में नौकर थे। दोनों युद्ध की लूटमार समेट घर को लौट रहे थे। रास्ते में दो स्त्रियाँ मिली, उन्होंने इनसे विवाह की याचना की। वे सुन्दरी रमणियाँ दोनों जङ्गी सवारों के साथ विवाह के लिये यह प्रतिज्ञा लेकर उद्यत हुईं कि विवाह के पश्चात् उनके पति नित्य प्रातः स्त्रियों से सात जूते खाया करेंगे। दोनों का विवाह होने पर जब पहिला ही सबेरा हुआ तो उनमें से एक ने उठते ही बिल्ली को अपना रास्ता काटते देखा। तलवार म्यान से झट बाहर हुई और बिल्ली का सिर घड़ से अलग हो गया। यह चमत्कार जब सवार की धर्म-पत्नी ने देखा तो सहम कर रह गयी और दोनों का जीवन धर्मानुसार व्यतीत होने लगा। पन्द्रह दिनों तक दोनों मित्र न मिल सके। जब मिले तो एक दूसरे का हाल पूछा। बिल्ली का सिर काटने वाले ने जब मित्र से सुना कि वह नित्य जूतियाँ खाता है तो अपनी कथा सुनायी। दूसरे मित्र ने अपनी निर्बुद्धिता पर शोक करके प्रतिज्ञा की कि वह भी अपनी पत्नी को धर्मपत्नी बना लेगा। दूसरे ही दिन सवार महाशय तलवार बाँध कर तैयार होगये। इस विचित्र घटना को उनकी जोरू ने आश्चर्य से देखा किन्तु जब मियाँ तलवार खाँ ने तलवार का वार करके बिल्ली को घायल कर दिया तो 'बीबी' ने मुस्कराकर कहा—

“गुरा कुस्तन् रा रोज अव्वल बायब।”

अर्थात् बिल्ली मारने का पहिला ही दिन था। “फठताए क्या होत जब चिडिया चुग गई खेत।”

उपर्युक्त जनश्रुति के चरितार्थ करने का समय मेरे लिए मुस्तारी का काम आरम्भ करते ही आ पहुँचा था। एक ओर तो मुन्शी अमीरखाँ थे और मेरे बड़े-बड़े पदाधिकारी मद्यप मित्र। दोनों के साथ “गुरा कुस्तन” वाला समय समीप आया। मकान अथवा यों कहिए कि कानूनी दुकान का फटरा (साइन-बोर्ड) तैयार कराने की आज्ञा मैं मुन्शी जी को लाहौर से ही भेज चुका था। आप फटरा तैयार कराकर लाये, जिस पर मेरे नाम के साथ मुस्तार के स्थान में स्त्रीगल प्रैक्टिशनर (कानूनी व्यवसायी) लिखा हुआ था। ऐसा करने पर मैं पहिले स्वयं दो-तीन मुस्तारों को शरमिन्दा कर चुका था। मैंने मुन्शी जी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उत्तर मिला कि उन्होंने मेरे भले के लिये ही ऐसा किया था। मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि यदि इस प्रकार की कार्यवाही होगी तो उनका रास्ता दूसरी ओर होगा। मुस्तार शब्द लिखे जाने के लिये मैंने फटरे को लौटा दिया। मुन्शी जी ने एक बार चालाक कोचवान की तरह मुझे सिर काबू करना चाहा और एक प्रस्ताव पेश किया जो मुझे अनुचित प्रतीत हुआ, किन्तु जब देखा कि घोड़ा अड़ियल है और शायद कोचवान को उल्टे मुँह गिरादे तो मुन्शी अमीरखाँ जी ने लगाम को घोड़े की ही गर्दन पर डाल दिया।

इस प्रकार एक विरोधी शक्ति से तो झुटकारा हुआ किन्तु दूसरी ओर मामला बड़ा बेढब था। ११ मार्च संवत् १९४१ (२४ जनवरी सन् १८८५) की रात को मैंने, मद्य की बची हुई बोतल तोड़कर सदा के लिये मद्य को तिलाञ्जलि दे दी थी। लाहौर में विद्यार्थी अवस्था ने मेरी सहायता की। जब कुछ दिन

जालन्धर ठहरा तो आर्यसमाज के कामों की फँसावट ने रक्षा की, किन्तु जब मैं फिर से सम्य समाज में मिला तब परमेश्वर के बिना मेरा और कोई रक्षक न था।

एक दिन प्रातःकाल मेरे एक पुराने मद्य मित्र के यहां दावत थी। मेरे मेजबान एकजीक्यूटिव इन्जीनियर थे। जब उनके शानदार मकान की सजी हुई बैठक में पहुँचा तो दो डिप्टी कलक्टर, एक मुन्सिफ, दो-तीन वकील और उनके हमपेशा एकजीक्यूटिव इन्जीनियर बैठे गप्पें हाँक रहे थे। मुझे स्वप्न में भी यह न सूझ सकता था कि ऐसे सम्य पुरुष दिन दहाड़े शराब डालने का हौसला करेंगे। किन्तु मेरा पहुँचना ही था कि शोर मच गया और चारों ओर से जीवाजें आने लगीं—देखो ! खूब काबू आया है, अब इसके धर्म-वर्म की खबर ले डालो। देखें, कैसे छूटता है ? इत्यादि—” मेरे हाथ पाँव पकड़ लिये और एक महाशय प्याले में शराब भरने लगे। मैंने कहा कि मेरे अन्दर अब शराब डालना असम्भव है। भला शराबी किसी की काहे को सुनने लगे, कइयों ने हाथ पैर थामे और दो ने मुँह खोल दिया। तीसरे ने प्याला उडेलने को आगे किया ही था कि मद्य की दुर्गन्ध ने अन्दर घृणा उत्पन्न की। एकदम उल्टो (कं) हा गई और मेरे पकड़ने वालों के कपड़े खराब हो गये। वे जरा हिले कि मैं छलाँग मार कर बाहर वाटिका में आया। कूप पर जल से भरा डोल पड़ा था, कुन्ली करके सीधा घर का रास्ता लिया। उस दिन से किसी शराबी का हौसला न पड़ा कि मुझे अपने मत में लाने का प्रयत्न करे।

इन दो घटनाओं ने मुझे बहुत सी कठिनाइयों से बचा लिया और मैं निर्विघ्नता से अपने धर्म सेवा काम में लग गया।

एक रंगे सियार से भेंट

फाल्गुन संवत् १९४२ (फरवरी १८८६ ई०)

के पुनः अर्धाङ्ग रोग से पीड़ित होने के कारण मैं अपनी जन्म-भूमि तलवन को गया। उस समय पिताजी की चिकित्सा एक निरञ्जनी साधु कर रहा था, जो मुझे हरद्वार की अर्घकुम्भी पर संवत् १८३६ के वंशाख मास में मिला था। यह साधु पिताजी को स्वर्णभस्म तथा कुछ अन्य वस्तुएँ खिला कर इलाज कर रहा था। यह बड़े से बड़ों को अपशब्दों से याद करता था और प्रसिद्ध कर रखा था कि मेरे पिता का इलाज मन्त्र द्वारा करता है। इसने यह भी चमत्कार दिखलाया था कि उसके पैर को किसी आग की भी आँच नहीं जला सकती।

मैं तलवन पहुँचते ही उसके पास गया और जलते कोयलों क अँगोठी मँगाकर उसे पाँव रखने को कहा। साधु जी सब कुछ ताड़ गये और कड़ककर बोले—‘हम अपने ढङ्ग पर चमत्कार दिखाते हैं।’ मैंने कहा ‘वैसे ही दिखाओ।’ साधुजी ने कुछ मोटे उपले मँगवाये, उन्हें जलाकर जब धुएँ का नाम न रहा और उन पर थोड़ी राख जमा हो गई तो एक उपले की राख में ठोंककर अपने पैर की एड़ी टिका दी। उनका ऐसा करना ही था कि मैंने अपनी एड़ी दूसरे उपले पर उसी बेपरवाही से टिका दी। मैं जानता था यदि बीच में वायु के संसर्ग का स्थान न रहे तो आँच न सतायेगी। साधुजी का चेहरा उतर गया और उनके भक्तों में मेरी घूम मच गयी। तब मैंने साधुजी से कहा कि अब उनका इलाज न होगा। मैं चला आया किन्तु साधुजी ने अब यह कहना तो छोड़ दिया, कि मैं सिद्धि को प्राप्त हूँ। फिर भी इस घटना से अपना ही उल्लू सीधा करना चाहता। वे मेरे पास आये और सोने की भस्मादि दिखा कर कहा—मन्त्र बोलना तो एक ढोंग मात्र था, मैं तो मक्खन में औषधियाँ देता हूँ। यह ठीक था कि साधुजी मारा हुआ स्वर्ण ही मक्खन में खिलाते थे, किन्तु पिताजी की श्रद्धा उन पर से दूर हो गई।

कुछ धन साधुजी की भेंट कर उन्हें छुट्टी दी गई और मैंने एक असिस्टेंट सर्जन को बुलाकर पिताजी का इलाज शुरू करा दिया।

पिताजी का असौम प्रेम !

साधुजी को विदा करके पिताजी ने मुझे एकान्त में बुलाया। बरेली से जब पिताजी सम्बत् १९३६ के अन्त (१८८० के आरम्भ में खुर्रजे बदलकर आये तब बरेली के भीमा नामक युवक को अपना निजी सेवक बनाकर साथ लाये थे। वही इस समय उनकी सेवा में था। भीमा ने आज्ञा पाते ही एक कागज का लपेटा हुआ पुलिन्दा पिताजी के आगे रख दिया और चला गया। पिताजी की आज्ञा से जब मैंने उस पुलिन्दे को खोला तो उसके अन्दर से एक पाचमेंट का पत्रा और एक साधारण पत्र पर लिखा हुआ वसीयतनामा निकला। वसीयतनामे में मेरे तीनों बड़े भाइयों को केवल मकान और जमीन का कुछ भाग देकर शेष सब धन (रोकड़, आभूषणादि) मुझे दिया गया था और कुछ धर्मार्थ कार्य मेरे सुपुर्द किये गये थे। मैं वसीयतनामा पढ़कर इस प्रकार उदासीन बैठ गया जैसे कोई आपत्ति का पहाड़ मुझ पर टूट पड़ा हो। पिताजी को आश्चर्य हुआ। मैंने नम्रता से निवेदन किया कि मैं अपने अधिकार से बढ़कर कुछ भी लेने को तैयार नहीं। पिताजी ने बड़े प्रेम से मुझे समझाया, उन्होंने कहा कि मैं पहले तुम्हारे आर्यसमाज में प्रवेश से असन्तुष्ट हुआ था उससे बढ़कर अब मुझे सन्तोष है और मुझको निश्चय हुआ है कि तुम्हीं मेरी धार्मिक आशाओं को पूरा करोगे। बहुत विवाद के पश्चात् पिताजी से मनमानी भिक्षा की याचना की, पिताजी के वचन देने पर मैंने निवेदन किया "यदि वसीयत कर दोगे तो मैं अपना भाग लेने से भी इन्कार कर दूंगा, किन्तु यदि आप मेरी प्रार्थनानुसार मुझे इस वसीयतनामे को फाड़ देने की आज्ञा दें, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ

कि जिन धर्मकाव्यों के मुझ से पूर्ण कराने का आपका शुभ संकल्प है, उनकी पूर्ति में ही यथाशक्ति अपने जीवन को लगाऊंगा।" पिताजी ने कहा "यह पार्चमेंट पत्र तथा लिखा हुआ वसीयतनामा तुम्हारा माल है, इनके साथ जैसा बर्ताव चाहो करो।" पिताजी की आज्ञा पाते ही मैंने वसीयतनामा फाड़ दिया और पिताजी के चरणों में सिर रखकर उनसे आशीर्वाद ले जालन्धर लौट आया।

इस बार मैंने अपने ग्राम में धार्मिक संशोधन विषय पर व्याख्यान भी दिया था। इसमें तलवन के बड़े २ पुरुष उपस्थित थे। इस व्याख्यान का वृत्तान्त सुनकर पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। पिताजी की सेवा में उस समय मैंने जो मानसिक भेंट रखी थी, मेरे शेष जीवन में यदि कोई अच्छा काम मुझसे हुआ है, तो वह उसी गम्भीर घटना के प्रभाव का परिणाम है। उस घटना के स्मरण-मात्र ने मुझे बहुत बार गहरे गड्ढों में गिरने से बचाया है। काम-क्रोधादि के आक्रमणों से कई बार मुझे पिताजी की उस समय की करुणा तथा प्रेम से पूर्ण दृष्टि के स्मरण ने ही सुरक्षित किया है। माताजी के देहान्त के पश्चात् पिताजी ने मुझे मातृप्रेम से अपनाया था। माता के प्रेम का अभाव उन्होंने मुझे अनुभव नहीं होने दिया था, और मुझे आज इस बात के अङ्गीकार करने में जरा भी संकोच नहीं कि यदि मेरे अन्दर से कभी मातृप्रेम का प्रकाश पुत्री तथा पुत्रियों के लिये होता था, तो उस कीर्ति के भागी माताजी से भी अधिक मेरे पिताजी हैं।

शास्त्रार्थ का पहला अनुभव

पिताजी के रुग्ण होने के कारण मैं प्रत्येक आदित्यवार के साथ एक दिन और मिलाकर उनके दर्शनों के लिये तलवन जाया करता था। एक बार शायद चैत्र (अप्रैल) में, तीन चार दिनों

की छुट्टी थी। मैं तलवन गया था, जब लौटा तो मेरे बँठक पर पहुँचते ही आर्यसमाज के कुछ सभासद मिले। उन्होंने यह बतलाया कि अमृतसर के एक श्यामदास नामी पण्डित ने आफ्त मचा रखी है। वह बारम्बार शास्त्रार्थ के लिये ललकारता है और नियोगादि के विषय में अश्लील शब्दों का प्रयोग कर सर्वसाधारण को भड़काता है। आर्य भाइयों को मैंने बिठाया और शास्त्रार्थ की स्वीकृति का पत्र उसी समय लिखकर उनके हवाले किया। सब सभासद प्रसन्न होकर चले गये। कुछ लिखा-पढ़ी के पश्चात् पण्डित श्यामदास को शास्त्रार्थ का विषय 'भूति-पूजा तथा अवतारवाद का मण्डन' मानना पड़ा और अन्तिम पत्र से तीसरे दिन की तिथि नियत की गयी। आर्यसभासदों में से एक काशीराम थे जो मेरे यहाँ मुंशीगिरी के भी उम्मीदवार थे। मैंने अपने पत्र के साथ उन्हें श्रीमान् लाला साईं दासजी, प्रधान आर्यसमाज लाहौर के पास भेजा और प्रार्थना की कि शास्त्रार्थ के लिये कोई पण्डित हमें दिया जाय।

काशीराम लाहौर से निराश लौटे। वहाँ से लौटते अमृतसर ठहरे। उस समय पंडित घमचन्दजी उक्त आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नामी एक ब्राह्मण पुत्र को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया था। उन्होंने उस विद्यार्थी को काशीरामजी के साथ कर दिया। रात को शास्त्रार्थ था और लाजपतजी मेरे पास दो पहर को पहुँचे। ऋषि दयानन्द कृत भाष्यों में से नियत विषयों पर मन्त्रार्थ सरल करने में लगा दिया। रात को जैसे-तैसे शास्त्रार्थ हुआ। लाजपतजी संस्कृत में बोलते थे। पण्डित श्यामदास ने उपस्थित जनता पर प्रभाव डालने के लिये आर्यभाषा में भाषण आरम्भ दिया। फिर क्या था जब उधर से प्रतिज्ञा भङ्ग हुई तो मैंने स्वयं आर्यभाषा में उत्तर देना आरम्भ कर किया। तब तो पण्डितजी ने इस विषय पर बल दिया कि विद्यार्थी शास्त्रार्थ करे,

किन्तु मेरा उत्तर यह था कि जब दूसरी ओर से स्कृत में भाषण करने की प्रतिज्ञा एक बार छोड़ी जा चुकी है तो शास्त्रार्थ में ही करूंगा। परिणाम क्या हुआ यह मैं नहीं कह सका, किन्तु इतना कह सकता हूँ कि आर्यसमाज का गौरव सर्वसाधारण की दृष्टि में घटा नहीं।

इस शास्त्रार्थ के दो परिणाम हुए। प्रथम यह कि जब दूसरे दिन काशीराम जी ने लाहौर की कथा सुनाई तो मैंने प्रतिज्ञा करली कि आगे कभी अपनी सहायता के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं करूंगा। इस मानसिक सङ्कल्प ने मुझे आर्ष ग्रन्थों के स्वाध्याय की ओर अधिक रुचि दिलाई। इसके पश्चात् के दिनों की 'दिन-पत्रिका' देखने से विदित होता है कि ज्येष्ठ संवत् १९४३ (सन् १८८६) के आरम्भ से ही मैंने मूल वेदों की पुनरावृत्ति आरम्भ कर दी थी। दिन में कई बार वहाँ कुछ न कुछ धर्म सम्बन्धी अध्ययन करता, वहाँ प्रातःकाल सन्ध्या-अग्निहोत्र के पश्चात् कम से कम २० वेद मन्त्रों का पाठ शनैः २ अवश्य होता। वेद भाष्य का देखना भी पीछे आरम्भ किया, तो उसके लिए भी और समय निकला। प्रातः अन्य नित्य कर्मों की समाप्ति पर मूल वेद के पाठ का अभ्यास बहुत देर तक चला। उन दिनों बिना व्याकरणादि जाने भी वेदमन्त्रों में जो उच्च गम्भीर और आवग्यक्त भाव कभी २ अनुभव में आते थे, एक आश्चर्यजनक घटना थी। कई बार मैंने उस समय के प्रसिद्ध पण्डितों के सामने कुछ भाव लेकर जो मूल मन्त्र पेश किये तो उन्हें आश्चर्य होता था और उनमें से कई यह मान लेते थे कि वेदार्थ तक पहुँचने के लिये वेदाङ्गों की सहायता की अपेक्षा मानसिक शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह अवस्था केवल संवत् १८८६ के फाल्गुन मास (१९२१ ईसवी) तक रही। उसके पश्चात् आर्यसमाज के घर युद्ध में अन्य हानियों के साथ सर्वो-

तम स्वाध्याय का भी लोप सा होता गया, और उस स्वाध्याय की भूख बारम्बार चमकने पर भी, उसमें विघ्न पड़ते ही रहे।

इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि जालन्धर नगर निवासियों का ध्यान आर्यसमाज के काम की ओर बढ़े जोर से खींचा, इसके सभासदों पर मतवादियों की ओर से आक्रमण आरम्भ हुए। तपाया हुआ लोहा चोटों से अधिक बढ़ता है, इसी प्रकार आर्य-पुरुषों पर जितने आक्रमण हुए उतने ही उनके हृदय विशाल होते गये। पण्डित श्यामलाल के व्याख्यानों का खण्डन दूसरे दिन से ही आर्यमन्दिर में आरम्भ हो गया। इतनी भीड़ आर्यमन्दिर में पहिले कभी नहीं हुई थी। तीस-पैंतीस सभासद् भी बढ़े और उत्साह से काम होने लगा।

बिरादरी से खारिज की घमकी

इस उन्नति को देखकर कुछ पौराणिक ब्राह्मणों का हृदय सन्तप्त हुआ और उन्होंने थापर खत्रियों के प्रसिद्ध दीवान खाने में आर्यसमाजियों को जाति-व्युत् करने के लिये एक पञ्चायत बुललाई। पञ्चायत की धूम मच गयी और जालन्धर के बड़े २ पण्डित व्यवस्था देने की तैयार हुए। नगर की बिरादरियों के सभासद् बड़े भयभीत थे कि अब कैसे छुटकारा हो। उस समय श्री लाला देवराज जी की धार्मिक श्रद्धा बहुत बढ़ी हुई थी। मुझे साथ लेकर वह एक प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित के यहाँ पहुँचे जिनसे उन्होंने यज्ञोपवीत भी धारण किया था। पण्डित जी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि अपनी एक सम्बन्धिनी स्त्री से उनका घम-विरुद्ध सम्बन्ध है। दूसरे पण्डित, जो नगर की ब्राह्मण-मण्डली के शिरोमणि तथा लोकमान्य समझे जाते थे, किसी अन्य व्यभिचार के दोषी प्रसिद्ध थे। तीसरे जुएबाज थे, इत्यादि। भाई देवराज जी ने मेरे कुछ न्याय विषय पर बातकर चुकने पर

कहना आरम्भ किया—‘पण्डितजी ! आप मेरे गुरु हैं । आप पंचायत कीजिये । किन्तु हमारा प्रश्न होगा कि जो पण्डित होकर इस प्रकार के व्यभिचार दोषों से दूषित हों, पहिले उनको गधे पर सवार कराके देश निकाला दिया जावे, तब हम अपने विषय में किये गये प्रश्नों के उत्तर देंगे ।’

इधर तो लाला देवराजजी ने सोंधियों वाली घमकी दी थी, उधर बहुत से खत्री चौधरी जिनके पोते, दौहित्र, भतीजे, पुत्रादि आर्यसामाजिक थे, उन ब्राह्मण कुलोत्पन्न पुरुषों की सूची बनाने लगे, जो निरक्षर भट्टाचार्य एवं गायत्री मन्त्र से भी अनभिज्ञ थे । परिणाम क्या हुआ, जब पंचायत का समय आया तो पता लगा कि शिरोमणि ब्राह्मण कुलभूषण जी प्रातःकाल की ट्रेन से ही किसी काम के बहाने अमृतसर चले गये और नैयायिक जी जनेऊ कान पर चढ़ा लोटा हाथ में ले जो दस बजे दिशाजंगल को निकले तो शाम तक घर की सुधि ही न ली ।

पिताजी की शिक्षाप्रद मृत्यु

पिताजी दिनों दिन निर्बल होते जाते थे । पीछे उनकी दशा शोचनीय हो गई । मैं तलवन पहुँचा और जाते ही लेटे हुए पिताजी को प्रणाम किया । मुझे देखते ही उन्होंने हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद दिया । मैंने देखा कि मेरे सबसे बड़े भाई गिलास में कुछ पीने की वस्तु लिये खड़े हैं । पिताजी ने कहा—“यदि मुंशी राम कह दे कि इसमें माँस नहीं तो मैं पी लूंगा, वह मेरे भले के लिए भी झूठ नहीं बोलेंगा ।” मैं आश्चर्यित हुआ और अलग ले जाकर भाई साहेबान से असल बात पूछी । उन्होंने बतलाया कि हकीम जी ने चूजे (मुर्गी के बच्चे) का शोरवा अपनी दवाई का अनुपात बतलाया है । भाई साहेब ने वही बनवाया और पिताजी को बिना बतलाये, चने का पानी कहकर पीने को दिया ।

उन्होंने एक घूँट लेते ही फेंक दिया और उसके पश्चात् चने का रस आदि ले जाने पर भी १८ घण्टों तक कुछ भोज्य पदार्थ ग्रहण नहीं किया। मैंने उसी समय परीक्षा करके निश्चय किया कि वास्तव में इसमें अस का कुछ भी अंश नहीं है और गिलास पिताजी के सामने पेश किया। उन्होंने केवल दो शब्द कहे—“पी लूँ?” मैंने उत्तर दिया—“पी लीजिये।” इस पर उन्होंने उसे पी लिया। मैंने देख लिया कि पिताजी का अन्तिम समय ही है। दोपहर के बाद उन्होंने मुझे अपने पास बिठाकर उपनिषदों का पाठ करने के लिए कहा, मैंने ईशोपनिषद् को समाप्त करके कठ का पाठ आरम्भ किया। पिताजी ने इशारे से कान अपने मुँह के पास ले जाने को कहा। हिचकी बोलने नहीं देती थी। शब्द कठिनाई से निकले किन्तु थे स्पष्ट—“वैदिक हवन कराओ।” मेरा मुन्शी साथ आया था। तेज घोड़ी पर उसे भेजा कि जालन्धर से सामग्री लेकर दूसरे दिन तक पहुँच जाय।

दूसरे दिन कुछ अच्छे दिखाई दिये। मुन्शी सामग्री लेकर न आया और पिताजी ने तीन बार पूछा ‘वैदिक हवन कब होगा? शीघ्र होना चाहिए।’ शाम से फिर अवस्था बिगड़ने लगी। आठ बजे मेरे हाथ में नाड़ी थी और वेद मन्त्रों का मैं पाठ कर रहा था। मेरे बड़े चाचा ने गीता का पाठ आरम्भ किया। ९ बजे पिताजी ने प्राण त्याग दिये और नाड़ी बन्द हो गई।

X X X

श्मशान में पहुँचने पर मेरी आज्ञानुसार वेदी बनी और चन्दन की लकड़ी लगाई गई। मन्त्र पाठ करने वाले मैं और मुन्शी काशीराम तथा आहुति डालने वाले केवल मेरे विचार के लोग ही नहीं, प्रत्युत् मेरे ज्येष्ठ भ्रातादि भी थे। उसी समय सामग्री लेकर मेरा आर्यसमाजी मुन्शी पहुँचा। कुछ सामग्री वहाँ

खोली गयी और श्रेष्ठ से उस स्थान पर जहाँ पिताजी का देहान्त हुआ था, सायंकाल को हवन हुआ ।

जब मृतक शरीर को जलाने की तैयारी हुई तब अर्थी के ऊपर के कारचोबी के दुशाले पर महाब्राह्मणों में झगड़ा हो गया । एक कहता था कि केवल मेरा ही अधिकार है । किन्तु दो और उससे मांगते थे । जबकि हमारा सारा परिवार शोक सागर में डूबा हुआ था उस समय इन देवताओं का बाजारियों की तरह श्मशान में झगड़ना मुझे बहुत अनुचित प्रतीत हुआ और मैंने मृतक शरीर को कारचोबी के दुशाले सहित चिता में रख कर भस्म करा दिया ।

ज्येष्ठ भ्राताजी ने गरुड पुराण की कथा रखाई । मैंने उसी समय जुदा उपनिषदों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया । सब सम्बन्धी वगैरह आये थे और रात को इकट्ठे डेढ़ सौ पुष्प भूमि पर शय्या करके सोते थे । इस अवसर पर कइयों ने दस दिनों के अन्दर मेरा विरोध करने का प्रयत्न किया । परन्तु आगे बढ़ने का हौसला किसी का न हुआ ।

पिताजी के देहान्त पर मेरी एक प्रकार से काया पलट हो गई । अन्त समय में उन्होंने मेरी सवाई पर जो विश्वास प्रकट किया, उसने मुझे सत्य पालन की ओर सर्वथा झुका दिया। मैंने दृढ़ सङ्कल्प किया कि पिताजी की पवित्र इच्छा के अनुकूल ही आचरण करना चाहिये । यह इसी का परिणाम था कि जब सारे भाई इस सन्देह में थे कि जो तालियाँ पिताजी के देहान्त से बारहवें दिन भीमा ने उनकी अन्तिम आज्ञानुसार मेरे सामने रख दी थीं, उनसे ताले खुलने पर उन लोगों को भी कुछ लाभ पहुँचेगा वा नहीं, तब मैंने स्वयं उन्हें जमा करके उनकी इच्छानुसार सबको सन्तुष्ट करने के पश्चात् जो बच रहा वही लिया ।

मेलों में वैदिक-धर्म प्रचार

यह शायद पहिली बार था कि जालन्धर में दशहरे मेले पर ईसाइयों के साथ-साथ आर्य जाति की किसी संस्था की ओर से धर्मप्रचार का प्रबन्ध किया गया था । उस समय महाशय भक्तराम बी० ए० मिशन स्कूल के हेडमास्टर जालन्धर आर्य-समाज के उपप्रधान थे । रामलीला का मेला उस सूखे तालाब पर लगा करता था, जिसे अब गांधी मण्डप कहते हैं । उसी तालाब के ऊपर बड़े प्रसिद्ध स्थान पर आर्यसमाज की ओर से खेमा लग रहा था । ईसाई मिशन के मुकाबिले में उन्हीं के स्कूल के हेडमास्टर का अपने हाथों 'ओ३म्' का झण्डा गाड़ना तथा खेमे के खूँटे ठोकना बड़ा ही विचित्र दृश्य था । आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ, मैं भी बोलता था किन्तु श्री देवराज जी के व्याख्यान सर्वसाधारण पर बहुत असर डालते थे । बड़ी बात यह थी कि जालन्धर प्रान्त के सबसे बड़े जमींदार और साहूकार के पुत्र को सादा जीवन व्यतीत करते हुए, धर्म की सेवा में निमग्न देखकर पत्थर दिल भी पसीज कर उस ओर झुकते थे । ईसाइयों का प्रचार उस वर्ष बिल्कुल फीका पड़ गया । जब ईसाई प्रचारक के पास दो तीन आदमी मुश्किल से रह जाते तो वह स्वयं हमारे कैम्प में आ जाता । जालन्धर आर्य-समाज के प्रचारों में एक विशेषता प्रारम्भ से ही रहती थी । उसके काम से किसी भी अन्य मतावलम्बी व्यक्ति को असम्य व्यवहार की शिकायत का अवसर नहीं मिला । जालन्धर आर्य-समाज के उस समय के पदाधिकारियों को यह अभिमान था कि वे असम्य विरोधियों को भी सम्य बनाने में भी कृतकार्य होते हैं ।

दशहरे के पश्चात् हम सबने पारिवारिक उपासना का प्रचार प्रारम्भ किया । प्रत्येक सप्ताह, शायद मङ्गलवार को

सब भाई किसी सभासद के घर इकट्ठे होते। महल्ले वाले स्त्री पुरुष भी आ बैठते। भजन-कीर्तन के पश्चात् ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना और तत्पश्चात् कभी-कभी घर्मोपदेश भी होता था। इस प्रथा के चलाने का सारा यश भी देवराज जी को ही मिलना चाहिए। यही क्यों और भी हृदय पर अधिक प्रभाव डालने वाले कार्यों का आरम्भ श्री देवराजजी के ही अनुकूल हृदय से हुआ करता था।

एक विस्मृत अनूठा घर्मोपदेशक

लाहौर आर्यसमाज में संवत् १९४३ से "आटा फण्ड" बड़े जोर-शोर से चला था। लाहौर से ही अन्य आर्यसमाजों ने भी "आटा फण्ड" चलाने की शिक्षा ली थी। घर्मकार्यों के लिए इस प्रकार आर्थिक सहायता एकत्र करने की प्रथा यहाँ तक चली कि अब तक आर्य प्रतिनिधि सभा ने गिरते पड़ते भी अपने बजट से 'आटा फण्ड' को नहीं काटा। यह 'आटा फण्ड' कैसे चला? संवत् १९४२ की गर्मियों में जब लाहौर आर्य मन्दिर की ड्योढ़ी के ऊपर वाले मकान में साप्ताहिक अधिवेशन हो रहा था, एक साधारण लम्बा दुबला साधु आया और घुटने टैक कर बैठ गया। सत्यार्थप्रकाश की कथा समाप्त होते ही उसने एक मर्मस्पर्शी वक्तृता दी और यह प्रस्ताव किया कि प्रत्येक आदित्यवार को आर्य सामाजिक सभासद चुटकी-चुटकी आटा घर से भिक्षा करके लावें और आर्यसमाज का काम चलावें। इसका प्रचार इतना हुआ कि दयानन्द कॉलेज की आमदनी का यह एक सन्तोषजनक भाग बना। बहुत से घरों में घर्म-घट रख दिष्टे गये, गृह-फूलियाँ प्रातःकाल आटा गूँने से पहले एक मुट्ठी आर्यसमाज के निमित्त निकालकर घर्म-घटमें डालती रहीं।

"यह साधु जिसने ऐसा प्रभाव डाला, कौन था?" जब साधु बोले चुका तो आरती होने पर वह बड़े प्रेम से

मिला। लाहौर आर्यसमाज के प्रधान श्रीसाईं दास जी ने मुझसे साधुजी का नाम पूछा। मैंने बतलाया कि इनका नाम "रमताराम" है और यह कुछ काल से जालन्धर के श्रीमान् सरदार विक्रमसिंह सी, एस, आई. के यहाँ ठहरे हुए है। आर्यसमाज से बड़ा प्रेम रखते हैं और श्री देवराज जी के और मेरे साथ इनका गहरा धार्मिक सम्बन्ध है। रमताराम जी कुछ काल लाहौर में रहे, फिर वहाँ से न जाने कहाँ चले गये। एक बार उनकी उड़ती सी खबर एक स्थान से आयी थी फिर कुछ पता न लगा। रमताराम जी का देवनागरी तथा अंग्रेजी अक्षरों का लेख अत्युत्तम था। स्वामी योगेन्द्रपाल की तरह वह वेद मन्त्रादि लिखते रहते थे। जालन्धर में उन्होंने कभी सर्वसाधारण के सामने वक्तृता नहीं दी। पर लाहौर को उन्होंने हिला दिया था। उनके अन्दर धर्म के लिए बड़ी श्रद्धा थी और उनमें जोश की अग्नि प्रज्वलित रहती थी। रमताराम जी घूमकेतु की तरह आये और वैसे ही चल दिए। न जाने कितने घूमकेतु आए और चले गए जिनको आर्यसमाज में न किसी ने देखा और न पहिचाना। परमात्मा करे कि ऐसे चमत्कारों से भी शिक्षा लेने का पाठ आर्य भाई पढ़ें और अपनी संशोधक शक्ति को बढ़ाएँ।

धर्म-घट एवं रद्दी फण्ड

यह ठीक है कि धर्म-घट रखने का प्रचार लाहौर में पहिले २ स्वामी रमतारामजी ने कराया किन्तु उक्त स्वामीजी इस विचित्र विचार के निर्माता न थे। यह ख्याल पहिले श्री देवराजजी के कल्पनाशील मस्तिष्क से निकला था। उन्होंने जालन्धर आर्यसमाज के मन्त्रित्व के अधिकार से अपनी अन्तरङ्ग सभा में सबसे पहिले यह प्रस्ताव पास कराया कि सब सभासदों

के मकानों में एक २ घड़ा रखा जाय जिसमें प्रातः एक मुट्ठी आटा आर्यसमाज के कामों के लिए डाला जाय। इसका नाम देवराज जी ने ही अपनी विचित्र भाषा में "चाटी सिस्टम" रक्खा क्योंकि आटा रखने के बड़े मुँह वाले घड़े को जालन्धर में 'चाटी' कहते हैं। देवराज जी की कल्पना-शक्ति की यहीं तक समाप्ति न थी। उन्होंने चाटी सिस्टम के साथ "रद्दी फण्ड" भी खोल दिया। इसका मतलब यह था कि सभासदों के घरों में महीने के अन्दर जितनी रद्दी इकट्ठी हो, वह सब आर्यसमाज का चपरासी उठाकर ले जावे और उसे बेचकर एक धन जमा कर लिया जाय। जहाँ तक मुझे याद है इसी "रद्दी फण्ड" की आमदनी से जालन्धर आर्यसमाज के पुस्तकालय के लिए पुस्तकें तथा समाचार पत्र भेगाए जाते थे।

जालन्धर आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव

पौष १९४३ में जालन्धर आर्यसमाज का पहिला वार्षिकोत्सव हुआ, वह कई दृष्टियों से स्मरणीय है। प्रथम तो स्थानीय आर्यसमाज के सब अधिकारियों और प्रबुद्ध सभासदों का स्वयं परमात्मा का गुणानुवाद गाते हुए बाजारों और गलियों में से गुजरना ही एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर रहा था, फिर पंजाब के कुछ श्रीमानों का बहर से सम्मिलित होना, तिस पर भी नौकर-चाकर रखने वालों का धर्म की सेवा के लिये हाथ से मजदूरों की तरह काम करना विशेष प्रभाव डाल रहा था। नित्य प्रातःकाल सारे नगरों से हरिकीर्तन करते हुए आर्य पुरुष आया करते थे, जिसका बहुत ही उत्तम प्रभाव पड़ता था।

जालन्धर नगर में इस वार्षिकोत्सव ने आर्यसमाज की जड़ों को दृढ़ कर दिया। धर्मसभा के बहुत विरोध करने पर भी श्रोतागणकी भीड़भाड़ बहुत बढ़िया रही सर्वसाधारण पर इसका

भी प्रभाव पड़ा कि जहाँ आर्यसमाज की वेदी पर किसी प्रकार के भी व्यक्तिगत अनुचित कटाक्ष नहीं हुए वहाँ धर्म सभा की वेदी से गालियों की बौछाड़ होती रही। इसी वर्ष से अन्तरङ्ग सभा नियमानुसार होने लगी और पारिवारिक उपासना में भी नगर निवासियों का प्रेम बढ़ने लगा। वह समय जब आँखों के आगे आ जाता है तो मन की विचित्र दशा हो जाती है। सप्ताह में ३-४ दिन अवश्य ऐसे आते थे जब कि आयं पुरुष ८-९ बजे रात को परमात्मा की स्तुति-प्रार्थनादि के भजन गाते हुए बाजारों में से निकलते थे। सायंकाल नित्य बहुधा आर्यपुरुष समाज मन्दिर में इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य कर्म करते और साथ ही कुछ ज्ञान चर्चा भी होती। वह ही समय था जब एक दूसरे की शङ्काओं का समाधान होता और क्रियात्मक विचार भी होते थे। जालन्धर में जो कुछ भी हुआ, उसकी बुनियाद उन्हीं दिनों के शुद्ध विचारों पर रखी गई थी।

कुछ नये नट, नाट्यशाला में

इस वर्ष भी कुछ नवीन नटों का मेरे जीवन की नाट्य-शाला में प्रवेश हुआ। उनमें पहिले राजकुमार मियां जनमेजय उस समय के राजा सुकेत 'दुष्ट निकन्दन सेन' के सौतेले भाई थे। काङ्गड़े के पहाड़ में राज परिवारों के सब सभासदों को मियां कहते हैं। यह उपाधि इन लोगों ने मुसलमानी राज के समय धारण की प्रतीत होती है। मियां जनमेजय हम आर्यसमाजियों की सङ्गति से आर्यसमाज के सभासद् बन गये और मेरे साथ उनका पठन-पाठन का विशेष सम्बन्ध हो गया।

इसी वर्ष ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द का मेरे साथ सम्बन्ध हुआ। यह महाशय बिहार प्रान्त के कायस्थ घराने में उत्पन्न हुए थे। २५ वर्ष की आयु में ही घर से उपरत होकर निकल आये और कुछ महीनों में निश्चलदास की पोथी हाथ में लिये हुए घूमते-

धूमते अमृतसर की दिवाली देखकर जालन्धर की गुफा पर आ उपस्थित हुए थे। उस गुफा में शङ्करपुरी योगी महात्मा का निवास था। यह स्थान काचूकटियों का गढ़ बना हुआ था। 'ऐनपुरी' जो सर्वभक्षी और मद्यप था, इस स्थान का अध्यक्ष बना हुआ था। मुझे पता लगा कि धूर्त दुराचारियों में एक सच्चा साधु आकर उतरा है। हम गये तो एक काले २५ वर्ष के युवा साधु को भगवा ओवरकोट पहिने गुफा में "विचार सागर" पढ़ते पाया। एक घण्टे की ही बातचीत ने साधु जी को हमारी ओर आकर्षित कर दिया और वे आर्यसमाज मन्दिर में जाकर रहने लगे।

इस स्थान में ही मैं गुफा वाले काचूकटिये साधुओं का विशेष परिचय अपने पाठकों को देना चाहता हूँ। एक काचूकटिये की दिनचर्या का वर्णन बड़ा ही मनोरंजक होगा, इसलिए अपने देखे अनुसार लिखे देता हूँ। रात के भोजन के पश्चात् अपने नाप की खटिया पर-बैठकर हुक्का पी काचूकटिया सो जायगा। प्रातः उठकर पहिला काम मट्टी के हुक्के को खूब धोकर साफ करना, फिर चिलम तैयार करके हुक्का गुड़गुड़ाना, शौच से निवृत्त होने पर पहिले जूता साफ करना। काचूकटिया जूते से पहिचाना जा सकता है। सप्ताह में दो बार जूते को तेल देना ये अपना धर्म समझते हैं। जूता साफ करके फिर कपड़ों की बारी। यदि साबुन पास नहीं तो बनिए की दूकान पर गये और हाँक लगायी। औ लाला ! दे इक टिक्की साबुन दी। तेरा साबुन गया साड्डे कपड़े दी मँल गई। अर्थात् पुण्य की कोई बात नहीं, एक प्रकार का सौदा है। लाला जी की क्या मजाल कि साधु जी को मना करे, यहाँ तो 'भेख को नमस्कार' है। गृहस्थी से अनौखा किसी प्रकार का कपड़ा क्यों न पहिने हों उसका ही श्राद्ध और तर्पण हिन्दू अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

शायद इसीलिये कदियों को पुलिस के पंजे में जाते हुए देखकर कई हिन्दू बुढ़िया उन्हें दूर से नमस्कार करती हैं। साबुन लगा कर काचूकटिया केवल कौपीन धारण करके सब कपड़ों को साबुन से धोकर सूखने डाल देता है और दूसरा दौर हुक्के का शुरू होता है। हुक्के के तीसरे दौर तक कपड़े सूख गये और ग्यारह पर चोट लगी। तब काचूकटिये को स्नान की सूझती है। पैर हाथ मलने से आध घंटा व्यतीत कर साधुजी तैयार हुए तो सौ विस्वे भोजन लिये कोई श्रद्धालु 'भेख पूजन' तैयार बैठानजर आयगा। यदि कोई न हुआ तो जिस पहिले घर में हाँक लगाई कि 'चल माई तेरी रोटी गई साइडी भुक्ख गई, लेखा बराबर है' वहाँ ही पाँच प्रकार के भोजन तैयार मिलेंगे।

भोजन के पश्चात् हुक्का पीकर वृक्ष तले सो जाना। तीसरे पहर उठकर हुक्के के दम और फरागत और फिर कपड़े डाँटकर सैर। बस, यहाँ फिर नास्तिकपन की दलीलों से आवारा लड़कों को फांसने का समय आता था। यही काचूकटिये के दफ्तर वा समाज वा सत्सङ्ग वा कर्तव्य पालन का समय समझ लो। इस समय किसी-किसी काचूकटिये के हाथ में काला नाव का सा खप्पर उसकी शान को दोवाला करता और किसी-किसी के शिर पर वही शोभायमान होकर उसके अविश्वास की मुस्कराहट के साथ मिल पूरा पश्चिमीय प्रसिद्ध कवि मिल्टन के चरित्र नायक की झलक दिखलाता था। रात को फिर भोजन, हुक्का और अपने नाप की चारपाई और इस दृश्य पर जवनिका गिर जाती है।

स्वाध्याय का अभ्यास

पण्डित गुरुदत्त के थोड़े से ही सत्सङ्ग ने मेरी काया पलट दी। मुझे जालन्धर आर्यसमाज के उत्सव की समाप्ति के दूसरे दिन से ही स्वाध्याय का अभ्यास हो गया। पण्डित गुरुदत्त

द्वे द्वयानेन ग्रंथोभां प्रत्येकं वाच्यं यत्ने नया
 नया भावो ल्या स्थाने द्वयैर्गोचरे धामके पं. १३२१

की यह साक्षी मेरे लिये बहुत प्रेरक हुई कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रत्येक नयी आवृत्ति पर, नये भाव विदित होते हैं। जालन्धर आर्यसमाज में भी जीवन पढ़ने लगा और उसके सब कार्य नियम पूर्वक होने लगे।

वकालत और सगाई का मेल दुस्तर

मेरी मुस्तारी का काम इस वर्ष के आरम्भ में खूब चमका। उस समय जालन्धर में फौजदारी के प्रसिद्ध घडल्लेदार वकील बूढ़े वीची साहब थे। उनको मेरा काम पसन्द आया और कुछ दिनों पश्चात् अपने बड़े मुकद्दमों में सहायता के लिए उन्होंने मुझे अपने साथ रखवाया। बस फिर क्या था, घूम मच गई और मुस्तारी में ही मेरी आमदनी बहुत से वकीलों से बढ़ गयी, क्योंकि मेरे पास दीवानी का भी काम काफी आता था।

किन्तु यह सारी कमाई हुई प्रसिद्धि कुछ ही महिनो के पश्चात् ही अप्रतिष्ठा में बदल गयी। इसका कारण यह था मेरे पास एक मुंशी मुकद्दमा लाया। बही हिसाब से १०००) ६० का साधारण दावा करना था। मैंने बही देखी तो १०००) की बाकी पर टिकट न था, अतः कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलने का एक और सीधा ढङ्ग था, वह भी साहूकार महाशय को बतला दिया। उस समय तो साहूकार महाशय चले गये किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकी पर अपनी ओर से टिकट लगा कर अर्जीदावा लिखा दायर करवा दिया। पहली पेशी के दिन मेरे मुंशी से मिलकर मुस्तारानामे पर मेरे हस्ताक्षर करा लिये।

बड़ी कचहरी से काम करके मुन्सफी से लौटा तो उसी मुकद्दमे के लिए मेरी प्रतीक्षा होरही थी। मुन्सिफ अछरुराम साहब मेरे बड़े कृपालु थे। जवाब दावा मेरे हाथ में देकर कहा

कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर दूँ। मुद्दालेह का जबाबदावा पढ़कर मुझे सन्देह हुआ। मैंने अपने मुक्किल मुद्दई के मुंह की ओर देखा और बही का हिसाब निकाला। बस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहब की सब कारस्तानी है। मैंने मुन्सिफ साहब से कह दिया कि मुकद्दमे में जालसाजी होने के कारण मैं उसकी पैरवी नहीं करूंगा और मुंशी को आज्ञा दी कि २५) प्राप्त किये हुए वापिस करदे। मुन्सिफ ने अंग्रेजी में बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उलटे प्रकार की हो जायगी और मेरी आर्थिक दशा को हानि पहुँचेगी किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया।

मुझे घोका देने वाला मुंशी दूसरे ही दिन चलता कर दिया गया; मेरे पास केवल काशीराम आयंसमाजी रह गये थे। दूसरे मुंशी की आवश्यकता न रही क्योंकि काम ही कम हो गया। उधर काशीराम भी मेरी नौकरी छोड़ने को तैयार हो गये। वेतन मैं उन्हें १०) मासिक देता था किन्तु प्रति मुकद्दमा एक वा दो रुपये ऊपर से लेने पर उनकी आमदनी ३५) वा ४०) रु० तक पहुँच जाती थी। अब भूखों मरने लगे तो कार्यत्व का पक्ष कहाँ तक करते। मैंने मासिक १५) करके उनका कुछ संतोष किया किन्तु मेरी आमदनी ५००) से उतर कर १५०) के लगभग ही रह गई।

वकालत की परीक्षा में रिश्तत

मार्गशीर्ष सक् १९०३ के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर सन् १८८६ ई० के आरम्भ) में मैंने वकालत की परीक्षा दी थी और परिणाम महिनों तक रुका रहा। इसका कारण यह था कि पञ्जाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार मिस्टर लार्पेण्ट ने उस वर्ष दोनों हाथों से लूटना शुरू कर दिया था। तह रोग यहाँ तक बढ़ा कि मेरे कुछ मित्रों ने मुझे पत्र लिखकर लाहौर बुलाया क्योंकि गण्डासिंह

मुझे दूँढता फिरता था कि यद्यपि मैं पास हूँ तो भी बिना (१०००) दिये मुझे भी प्रमाण पत्र से वंचित रहना पड़ेगा। मैं यह दृढ़ सङ्कल्प करके लाहौर पहुँचा कि इस अनाचार का भण्डा फोड़ कर रहूँगा किन्तु मेरे पहुँचने से पहिले ही हिन्दार के प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणि ने गण्डासिंह की खूब खबर लेकर सर विलियम रेंटिंगन (उस समय के वाइस चान्सलर) के यहाँ दुहाई जा मचायी। वाइस चांसलर ने उसी समय साथकाल को परिणाम की सारी फाइल संभाल ली। लाला चूड़ामणि भाग्यशाली थे कि पहल उनकी ओर से हुई। विश्वविद्यालय सभा ने अकेले लाला चूड़ामणि को पास करके बाकी सबको फेल कर दिया और मैं भी बलवे की भीड़ में निरपराध बालक की तरह गोली का शिकार हो गया।

एक ओर तो अपने पेशे में सचाई से काम लेने का परिणाम यह हुआ कि (५००) से (१५०) की आमदनी रह गई और दूसरी ओर इतने परिश्रम का फल यह वज्रपात। ऐसे निराशाजनक समय में जालन्धर धर्मसभा में पण्डित दीनदयालु जी का पौराणिक मतपोषक के रूप में आना और व्याख्यान देना मेरे लिए नए आशाओं का केन्द्र सिद्ध हुआ। जब पण्डित दीनदयालु जी ने जालन्धर धर्म सभा की ओर से नौहरियों के ठाकुरद्वारे के आँगन में आर्यसमाज के मन्तव्यों का खण्डन आरम्भ किया उस उस समय मैं अपने जन्म स्थान तलवन में था। सम्बत् १९५४ का शायद ज्येष्ठ मास था। मेरे पास आदमी पत्र लेकर गया जिसमें लिखा था कि आर्य सभासदों को नगर में मुंह दिखाना कठिन हो रहा है।

जालन्धर पहुँचकर मैंने भोजन पीछे किया सर्वप्रथम पण्डित दीनदयालु जी के नाम शास्त्रार्थ का चलेञ्ज लिखकर मन्त्री काशीराम के द्वारा भेज दिया और साथ ही अपने पत्र की नकल

उक्त पण्डित जी के हस्ताक्षरों के लिए भेजदी । ५॥ बजे अपने बहुत से आर्य भाइयों को, जो कई दिनों से मुँह छिपाये फिरते थे, साथ लेकर मैं व्याख्यान मण्डप में जा पहुँचा । मेरे पहुँचते ही धर्म सभा के प्रधान श्री लाला हरभजराय जी बहुत सभ्यों सहित उठ खड़े हुए । पण्डित जी के कान में कुछ कहा । पण्डित जी कुछ संभले—और बलिहारी है उनकी योग्यता की, कि मेरी एक घण्टे की उपस्थिति में उनको सिवाय वैराग्य के और कोई विषय ही न सूझा ।

पण्डित जी के व्याख्यान की समाप्ति पर एक आर्यसभा-सद ने ऊँचे स्वर से कह दिया कि दूसरे दिन से पण्डित दीन-दयालु जी के व्याख्यानों का उत्तर आर्यसमाज मन्दिर में दिया जाएगा । जिस प्रकार हमारे प्रधान यहाँ आए हैं उसी प्रकार उन्हें भी पधार कर सुनना चाहिए । जोशीले सनातनियों ने शोर मचा दिया—“हमारी सभा में क्यों बोल रहे हो, अपने यहाँ बोलो इत्यादि” इस पर उत्तर मिला—“हमने सूचना दी है, सुनने का हौसला न हो तो मत आना ।” सर्वसाधारण खिल-खिला कर हँस पड़े और सभा विसर्जित हुई । सारे नगर में ढोल पिट गया “यह आर्य बड़े जबर्दस्त हैं, दूसरे के घर पहुँच कर खबर ले डालते हैं ।

भला कोई पूछे कि पहले क्या हुआ था और अब क्या हो गया । किन्तु दुनिया भेड़िया-घसान है, जिधर एक भेड़ चल पड़े उसी के पीछे शेष भेड़ें भी चल पड़ती हैं । और सचाई को कोई पूछता नहीं जब तक उसके फैलाने का प्रयत्न न किया जावे ।

आर्यसमाज की ओर से विज्ञापन लग गए जिनमें व्याख्यान का विषय रखा गया—“चाऊ-चाऊ का मुरब्बा” । इस विचित्र शीर्षक को देखकर सर्वसाधारण ऐसे उत्सुक हुए कि समाज

मन्दिर की छत और दीवारें तक मनुष्यों से भर गयीं । पण्डितजी के व्याख्यान क्रमबद्ध किसी विशेष पर नहीं थे, इसलिए उनका नाम यही रखकर उनके उत्तर दिए गए ।

उस समय पण्डित दीनदयालु जी बिना कोई भेंट लिये और बिना व्याख्यान दिए ही विदा हो गए । आर्यसमाज भी कुछ घाटे में न रहा क्योंकि उसे इस समय ३० के लगभग नए सभासद् मिले । किन्तु सबसे बढ़कर लाभ मुझे हुआ । चांऊ-चाऊ के मुरब्बे का मजा सर्वसाधारण को चखाने के दूसरे दिन ही, एक सरदार मुझे एक बड़े मुकदमे में (१०००) फीस पर नियत करके (५००) नकद दे गए । मुझे आश्चर्य हुआ कि दूसरी ओर जालन्धर के सबसे बड़े दो वकीलों के होते हुए इस भोले सरदार ने मुझ मुस्तार की क्यों शरण ली किन्तु यह आश्चर्य मेरे मुन्शी के ठीक कहानी सुनाने पर दूसरे आश्चर्य में परिवर्तित हो गया । सरदार साहब वकीलों को देखभाल कर करना चाहते थे । कचहरी में जाकर सब वकीलों की वक्तृताएं सुनी । अभी कुछ निश्चय नहीं किया था कि आर्यसमाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान सुनने पहुँच गए । मेरी वक्तृता पर वह लट्टू हो गए और दूसरे दिन ही मुझे जा सम्भाला ।

आमदनी बढ़ने का पुनः आरम्भ होते ही पण्डित गुरुदत्त के सत्सङ्ग का प्रभाव फिर दूर होने लगा । हाँ, सामाजिक संशोधन की ओर ध्यान अधिक खिंचा । मेरी धर्म-पत्नी कुछ थोड़ा लिख पढ़ सकती थीं, उनको पढ़ाने तथा पदों आदि की कुरीतियों से निकालने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया । इस समय मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी की आयु ७ वर्ष की और उससे छोटी अमृतकला की (जिसका नाम उस समय हेमन्तकुमारी था) अनुमान ४ वर्ष की थी ।

बम्बई की पहली यात्रा

विक्रमीय सम्वत् १९४४ की ग्रीष्म ऋतु में मेरी धर्म-पत्नी ने अपने धर्म-ग्रन्थों के पाठ के अतिरिक्त मेरे अन्य विचारों में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया था और अपनी बड़ी पुत्री को स्वयं शिक्षा देना शुरू कर दिया था। भूठे पदों के बन्धन भी उन्होंने तोड़ दिए थे और बच्चों सहित मेरे साथ भ्रमण के लिए भी जाया करती थीं। यह समय था जब मेरी धर्म-पत्नी के भ्राता भक्तराम की इंग्लैण्ड यात्रा की तैयारी होने लगी।

भक्तरामजी को बम्बई से जहाज पर चढ़ाने उनके भाई बालकराम और मैं गये थे। बम्बई में हम सब दीवान मथुरा-दास जी के पास रिटायर्ड जज महाशय कंसट जी (खुरशद जी) मानिक जी के यहाँ उतरे। ये महाशय आठ बार सारे भूमण्डल की यात्रा कर चुके थे और बड़े देशभक्त तथा जाति सेवक थे। ७५ वर्ष की आयु में आँखों की ज्योति कुछ कुछ कम हो जाने पर भी कभी उदास नहीं होते थे। मैंने उनका मुख सदा हसता और माया खुला देखा। प्रातःकाल "आशा" और सायंकाल 'कल्याण' अलापते इस बूढ़े को सुनकर श्रुति पर जादू का असर होता और फिर आत्म-त्याग कितना ! अपने जन्मभर की कमाई की सारी बचत से एक कोठी बनाई थी, उसे एक लाख में बेचकर रुपया तो "पारसी कन्या विद्यालय" के अर्पण कर दिया और स्वयं उसी मकान के नये मालिक के किरायेदार बनकर रहने लगे। इन्हीं जज मानिक जी की पुत्री मिस मानिक जी उक्त पुत्री पाठशाला की सेवा के लिए मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहीं। उस समय मिस मानिक की आयु ५० के लगभग थी। जब मानिक ने मुझे अपनी प्राचीन रागविद्या से पुनः प्रेम कराया।

इसी बार पहिले पहिल मैंने महाशय छब्बीलदास लखनूभाई के दर्शन किए जो ऋषि दयानन्द जी के अनन्य भक्त

थे । और जिन्होंने ऋष को आज्ञा को शिरोधार्य करके अपनी ही भतीजी का विवाह निर्घन श्याम कृष्ण वर्मा के साथ कर दिया था । उस देवी के भी मैंने उन्हीं के रमणीक भवन में दर्शन किये थे जो समुद्र के किनारे पर मनोहर छवि दिखा रहा था ।

एक बात लिखना मैं भूल गया । कुछ पारसी महाशयों ने हमारे विलायत जाने वाले मित्रों को सहभोज दिया था । उस समय की एक घटना मुझे स्मरण है । भोजन के पश्चात् हमारे मेजमान के युवक पुत्र ने बैंजो (Banjo) बजाना आरम्भ किया और उनकी धर्म-पत्नी एक अंग्रेजी गीत गाने लगी । मैंने प्रार्थना की कि कोई स्वदेशी गीत गाया जाय । इस पर गुजराती कहरवा छिड़ गया । मैंने फिर कहा कि मेरा मतलब पारसी गीत से था क्योंकि पारसियों की भाषा पारसी होनी चाहिए । इस पर हमारे मेजमान ने उत्तर दिया—'हम सताए हुआँ को जिस भूमि ने अपनाया हमारा वही देश है । हम हिन्दू हैं और इस स्थान की मातृभाषा गुजराती है ।' इसपुरानी कहानी से सिद्ध होता है कि दादा भाई निरोजी और अन्य पारसी महानुभावों के अन्दर देश-भक्ति का अंकुर कुछ नया नहीं था, उसको बुनियाद शायद भारतवर्ष में पारसियों के आने की तिथि से ही पड़ चुकी थी ।

हमारे बम्बई छोड़ने से पहिले दिन आर्यसमाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान हुआ । शायद मैंने ईश्वरोपासना विषय में कुछ कहा था, क्योंकि मुझे स्मरण है कि बम्बई आर्यसमाज के एक पुरजोश सभासद ने बाहर आकर कहा—'क्या ! आप जानते हैं कि बम्बई वालों का ईश्वर कौन है ? मूर्ति वाली जो चाँदी है, वही इनका इष्टदेव है ।' जब वे महाशय चले गये तो लोगों ने मुझे बतलाया कि उक्त महाशय मूर्तिपूजा का खण्डन तो बड़ी प्रबल युक्तियों से करते हैं परन्तु घर ठाकुरजी का सिंहासन रखा हुआ है ।

एक बात बात मुझे बम्बई के सम्बन्ध में और याद है। जब मैं घर लौटने के लिये रेलवे स्टेशन पहुँचा तो वहाँ एक पारसी महाशय पहिले से मौजूद थे। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे हार पहनाया और कुछ केले भेंट किये। मैं कुछ विस्मित सा हुआ तो उन्होंने कहा—‘महाशय ! आप विस्मित क्यों होते हैं ? मैं स्वामी दयानन्द का मतानुयायी तो नहीं हूँ पर उनकी गोकर्णानिधि का भक्त हूँ। आर्यसमाज स्वामीजी के जिस उपदेश को भूला हुआ है, उसका अनुकरण कर रहा हूँ।’ यह कहकर उन्होंने गोरक्षा विषय के अपने ट्रैक्ट और अपील दीं और बतलाया कि वे गवर्नमेण्ट से गो हत्या हटाने के लिये निवेदन करना चाहते हैं। मेरे पास अब वह विज्ञापन नहीं है इसलिये कह नहीं सकता कि वह महाशय इस समय के प्रसिद्ध गो भक्त श्रीमान् जस्सावाला ही थे वा अन्य कोई सज्जन।

जालन्धर लौटकर मैंने पहिले की अपेक्षा अधिक नियमानुकूल काम करना आरम्भ कर दिया।

एक उदार डिप्टी कमिश्नर

वकालात की परीक्षा अभी सिर पर काल की तरह खड़ी थी। प्रातःकाल खूब भ्रमण करके लौटता और फिर कानून की पुस्तकों के पीछे लग जाता। मैं प्रायः छावनी की सड़क पर जाया करता था, जहाँ एक दिन मुझे सामयिक डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोट साहब मिल गये। वे भी भ्रमण करने जाया करते थे। नित्य मेरा और उनका साथ होने लगा। धर्म विषय पर बहुत बातचीत होने लगी क्योंकि कर्नल साहब स्वतन्त्र विचार वाले आस्तिक थे। एक दिन बातचीत में उन्हें मालूम हुआ कि मैं आर्यसमाजी हूँ। यह सुनते ही कर्नल हार्कोट खड़े हो गये और बोले—‘आप और आर्यसमाजी ! आप तो बड़े धार्मिक आदमी

हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।' मैंने उत्तर दिया कि मैं केवल आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत् स्थानीय आर्यसमाज का प्रधान भी हूँ। तब साहब बोले—'परन्तु लाहौर आर्यसमाज तो एक पोलिटिकल संस्था है, जालन्धर आर्यसमाज चाहे न हो।'—तब कर्नल साहब को आर्यसमाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि हम लोग अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष बनाना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इस पर साहब बड़े उदार भाव से बोले—'फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।' * उन्होंने कहा कि यदि भारत निवासी हमसे अधिक श्रेष्ठ मनुष्य बन जावें तो फिर हमें स्वयं बोरिया बंधना उठाकर चल देना पड़ेगा।

उपर्युक्त घटना से पता लगता है कि उस समय भी हमारे गोरे हाकिम आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

यह सन्देह कैसे फैला ?

आर्यसमाज के विषय में पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। इस विषय में लाहौर के पुराने अंग्रेजी के मासिक 'आर्य' (The Arya) में भी ईसाई पादरियों के ऐसे अनुचित लेखों का वर्णन है। इस समय जो कुछेक ईसाई पादरियों का उदार वर्ताव आर्यसमाज के साथ है उसे देखकर भी जो ईर्ष्या की अग्नि साधारण पादरियों के दिलों में धधक उठती है उससे मेरे इस विचार को पुष्टि मिलती है कि गरीब हिन्दुओं को वाग्बुद्ध में सदा पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी मिलने लगीं तब वे ओछी करतूसों पर उतर आये और सरकारी अधिकारियों को यह विश्वास दिलाना

*Then there will be no justification for us to stay here.

आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्नमेंट को है।

वकालत की अन्तिम परीक्षा

वकालत की परीक्षा संवत् १९४४ के मार्गशीर्ष पौष (दिसम्बर १९०७) में होनी चाहिए थी। मैंने अपने काम के साथ-साथ उसकी तयारी भी शुरू कर दी और जब लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव समीप आया तो मैं परीक्षा की तयारी करके सब पुस्तकादि साथ ले लाहौर को चल दिया। २६ और २७ नवम्बर उत्सव के लिए नियत तिथियां थीं। २७ नवम्बर आदित्यवार को प्रातः १० बजे मेरे बड़े पुत्र हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। उस समय मैं आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में बैठा हुआ पण्डित गुरुदत्त का वह अपूर्व व्याख्यान सुन रहा था जिसने वैदिक धर्म के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों में खलबली डाल दी थी। तीन सहस्र से अधिक जनसंख्या और सन्नाटा ऐसा कि सुई गिरने का शब्द भी सुनाई दे। छोटा सा शरीर किन्तु मुख पर चन्द्र की कान्ति और सूर्य के तेज की शोभा, गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि निकलती है "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" — इत्यादि। बराबर चार मन्त्रों का ऋग्वेद मण्डल १। सूक्त ३२। में से पाठ होता है। फिर एक-एक शब्द का सरल, जन साधारण के समझने योग्य अर्थ होता है (इन्द्र) सूर्य कैसे (वृत्र) बादल को उठाता है, वह कैसे सूर्य को छिपा लेता है, और फिर इन्द्र का वृत्र के साथ कैसे युद्ध होता है और फिर इन्द्र अपने वज्र से कैसे वृत्र को मार गिराता है। यह दृश्य खींचकर ऋषि दयानन्द के जीवन का चित्र श्रोतागण के सामने लाया जाता है। ऋषि की शक्तियों का वर्णन करके उनके महान् आत्मत्याग की घटना का चित्र जब वक्ता खींचता है तो सैकड़ों आंखों से आंसुओं का तार बँध जाता है। मुझे सुधि न रही कि मैं पृथ्वी पर हूँ। वक्ता के

शब्द कानों को सुनाई देते बन्द हो जाते हैं, आँखें पोंछकर देखता हूँ तो रूप्यों की वर्षा हो रही है। दरवाजे पर एक ग्रामीण अघेड़ जंगी जवान दान की प्रेरणा कर रहे हैं, हैं तो सिविल के नौकर किन्तु दिखते जङ्गी जवान ही हैं। ये भाई निहालसिंह हैं जो आर्यसमाज के लिए शिक्षा माँगने वालों में पुराने अग्रणी थे। तार वाला उन्हें एक तार देता है जिसका लिफाफा लेकर भाई जी मेरी ओर चल पड़ते हैं। तार खोलता हूँ तो यह शुभ समाचार है कि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है। भाई जी शुभ समाचार सुनते ही झोली आगे कर देते हैं—“कुछ दिलवाइयें”, जब मैं से निकाल कर (१००) का नोट उनके हवाले करता हूँ और भाई जी वहीं से ऊँचे स्वर में दान का हाल सुनाकर उसके साथ एक चुटकड़ा जोड़ देते हैं ‘ईश्वर करे, हमारे प्रधानों के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे नित्य दान मिले।’

वाषिकोत्सव के पीछे अभी दो दिन ही ठहरा था कि बहुत से वकालत के उम्मेदवारों की दरखास्त पर परीक्षा की तिथियाँ दो मास आगे जा रही। लोगों के घर घी के दिये जले किन्तु मेरे यहाँ अँधेरा हो गया। तीसरी बार तो परीक्षा को तैयारी की, अब चौथी बार तैयारी कैसे होगी—यह चिन्ता थी।

४ माघ संवत् ३९४४ (१७ जनवरी सन् १८८८ ई०) को मैं वकालत को परीक्षा देने लाहौर की ओर फिर चला, रास्ते में गुरुदासपुर आर्यसमाज के वाषिकोत्सव पर उतरा। मुझे उस समाज की दशा देखकर बड़ा कष्ट हुआ। मेरी दिन-पत्रिका (डाफरी) में लिखा है “सायंकाल का गुरुदासपुर वहाँ के आर्यसमाज के वाषिकोत्सव में सम्मिलित होने को पहुँचा। इस समाज की दशा बहुत शोचनीय है। सब अविकारी हैं तो घनाढ्य किन्तु सब शराबी, कनाना और शिकारी हैं। इसलिए समाज की सेवा करने के स्थान में वे उलटे हानिकारक हो रहे हैं।

इन्हीं शराबी-कवाबी वकीलों में से सवा दो वर्ष के पश्चान् एक ने जो करतूत जालन्धर प्रान्त में की थी उसे यहाँ ही भुगता देना ठीक है । मैंने बड़े परिश्रम से फिल्लौर में आर्य-समाज की स्थापना की । प्रधान और मन्त्री को मज्ज मांस की फैलावट से निकाल कर वैदिक धर्म का सच्चे भक्त बनाया था । हमारे मन्त्री जङ्गलात के महकमे में एक बड़े ओहदेदार थे । उनके एक गुरुदासपुरी वकील मित्र (ऊपर लिखे आर्यसमाजी शराबियों में से एक) होलियों में फिल्लौर आ पहुँचे और न केवल हमारे स्थानिक मन्त्री को गिराकर किराये के समाज मन्दिर में शराब ही ढुलाई प्रत्युत् मन्त्री और प्रधान के मना करने और बिगड़कर चले जाने पर भी वेश्या को बुलाकर वहीं मुँह काला किया । तीसरे दिन मैं एक मुकदमे की पैरवी में फिल्लौर पहुँचा तो मेरे मित्र सैयद आबिददुसैन तहसीलदार ने सारा हाल कह सुनाया । वेश्या ने फौजदारी में अर्जी दी थी क्योंकि शराबी वकील उसे बिना कुछ दिये रात की रेल में ही भाग गया था । सैयद साहब ने हमारे मन्त्री और प्रधान को बदनामी से बचाने के लिये अपने पास से पाँच-दस रुपये देकर अर्जी फड़वा दी । मैंने सय्यद साहब की कृपा को धन्यवाद दिया किन्तु उनसे कहा कि ऐसा करने में उन्होंने पाष किया है । उनके लिये भी मेरा यह उत्तर नया ही था, क्योंकि वे बड़े चकित से प्रतीत हुए । किन्तु मैंने क्या किया ? उसी समय सायंकाल व्याख्यान देने का ढिंढोरा पिटवा दिया और वैदिकधर्म के महत्व का सन्देश उपस्थित सज्जनों को सुनाकर अन्त में घोषणा कर दी कि आर्य अधिकारियों के पतित हो जाने से अब फिल्लौर में कोई आर्यसमाज नहीं है ।

यह शायद पहिला ही अवसर था कि मैंने आर्यसमाज की सेवा की बदौलत एक शत्रु खड़ा कर लिया । फिल्लौर के प्रधान

और मन्त्री ने अन्त को अपने किये का प्रायश्चित्त किया और मुझे मिलते रहे। किन्तु गुहदास के वकील साहब उसी दिन से मेरे विरोधी होगये। मेरे विरोधी तो हुए किन्तु आर्यसमाज का पिण्ड उनसे छूट गया और अपनी पौराणिक जाति के महामान्य लीडर बन गये।

२४ माघ (६ फरवरी) को मेरी परीक्षा शुरू हुई और २६ माघ (११ फरवरी) को समाप्त हो गई। प्रश्नपत्रों के उत्तर मैंने अच्छे लिखे थे और परिणाम भी अच्छा ही निकला। कुछ दिनों के पश्चात् जालन्धर समाचार पहुँचा कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूँ।

फिर जालन्धर में

६ फाल्गुन (१८ फरवरी) को जालन्धर लौट आया उन दिनों मुझे पिता से मिली हुई भूमि में एकान्त निवास के लिये मकान बनवाने और एतदर्थ उस भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने तथा उसके कुछ भाग में वाटिका लगाने की धुन लम्बी हुई थी। इसी के प्रबन्ध के लिए एक निर्धन सम्बन्धी को कुछ वेतन पर नियत रखा था। फाल्गुन के मध्य (फरवरी मास के अन्त) में मैं उसी काम की देखभाल के लिये अपनी जन्मभूमि तलवन में चला गया।

आर्यसमाज के सम्बन्ध में इस महीने एक ही घटना हुई जिसने उसे अनपढ़ों में प्रचार के लिए एक पुरुषार्थी सेवक दिया। लुधियाने का चिरञ्जी एक बांका पहलवान था। वह आर्यसमाजी होकर बैतुलबाजी किया करता था। एक दिन प्रचार में राह, केतु आदि की पूजा का खण्डन करता था कि एक ब्राह्मण ने अपने यजमान से लाया हुआ दान सामने किया और कहा— 'यदि हिम्मत है तो ले।' बहादुर चिरञ्जीव ने उतरने में बँधे

चावल नकदी सब ले लिया और चल दिया। ब्राह्मण हक्का-बक्का रह गया और अपना माल माँगने लगा। चिरञ्जीव घुतकार कर चल दिया। ब्राह्मण ने पण्डित लक्ष्मोसहाय मजिस्ट्रेटके यहाँ दावा दायर किया। वे ब्राह्मण थे। चिरञ्जीवलाल को केंद का दण्ड मिला। मेरे पास उसी समय आदमी भागा आया। लुधियाने की अपीलें उन दिनों जालन्धर के सेशनजज के यहाँ होती थीं। मैंने अपील की और चिरञ्जीवल बरी होकर मेरे पास पहुँच गया।

धर्म प्रचार की धुन

वैशाख संवत् १९४५ के दूसरे (अप्रैल १८८८ के अन्तिम) सप्ताह में फिर अपने ग्राम तलवन में गया। अपने पुत्र के नामकरण संस्कार को केवल अपने दूसरे भाइयों के आग्रह पर रोके हुए था। उनकी इच्छा थी कि मैं उसका नामकरण अपने जन्मभूमि के गृह में करूँ। इसलिये मैं १४ वैशाख (२७ अप्रैल) को तलवन पहुँचा। जालन्धर के दो आर्य भाई भी साथ गये थे और लुधियाने से चिरञ्जीवलाल पहुँच गया। हमारा कुलाचार यह था कि बालक को चूड़ाकरण से पहिले (जो तीसरे वर्ष होता है) कपड़े न पहिनाये जायें। हमारे सबसे बड़े चाचा जीते थे, वह कट्टर सनातनी और क्रोधी थे। मेरे भाइयों को भय था कि कहीं वे कुछ उपद्रव न सड़ा करें किन्तु मैंने उनको भी बुलवा भेजा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ जब कुलाचार के विरुद्ध उन्होंने अपने हाथों से बालक को सिले हुए कपड़े पहिनाये और उसका नाम हरिश्चन्द्र रखा। मैंने अपने जीवन में प्रायः देखा है कि यदि निरभिमान होकर सरलता से बर्ताव किया जाय और बिना दूसरों को चिढ़ाये अपने मन्तव्य पर दृढ़ता दिखाई जाय तो कट्टर से कट्टर विरोधी की दृष्टि में भी मनुष्य माननीय बन जाता है।

तलवन में इन दिनों चिरञ्जीवलाल की बंतुलबाजी की घूम रही। जालन्धर लौटते हुए रास्ते में नकदोर में प्रचार हुआ। चिरञ्जीवलाल ही मेरा सबसे बड़ा विज्ञापन था। वह इस प्रकार कि मुझे उस स्थान में बैठकर जहाँ मैं व्याख्यान देना चाहता, चिरञ्जीवलालबाजार में चला जाता, जिस दुकानदार का ऊँचा मूढ़ा देखता वहीं खड़े होकर अपनी सिंहगरज से एक बेंत सुनाता, फिर कहता—प्यारया, मूढ़ा कुछ चिर लई दे तो होर बैतां सुनावां।” वहाँ इनकार कब था, मूढ़े पर खड़े होकर बेंतों द्वारा लच्छेदार खण्डन होने लगा। जब ५० एक आदमी जमा हो जाते तो चिरञ्जीवलाल मूढ़ा उठाकर २० कदम आगे हो जाता और मूढ़े पर चढ़कर फिर स्वर अलापता। जब १०० हो जाते तो पचास कदम आगे ही चलकर पिड़ जमाया। इसी प्रकार जनसंख्या बढ़ाते-बढ़ाते चार-पाँच सौ मेरे सामने लाकर खड़े कर दिये और अपने श्रोताओं से कहा—“हुण विदवानां दियां गल्लां सुनो, देखो कहीं अमृत वर्षा है।” लोग सब बैठ गये और मेरा व्याख्यान प्रारम्भ हो गया।

दिनचर्या

जालन्धर लौटकर मैंने वकालत के काम में जहाँ नियम पूर्वक आरम्भ किया वहाँ जीवन सुधार की ओर भी अधिक ध्यान खिंच चला। प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर मैं भ्रमण करने जाता था। उसी समय थोड़ा दौड़ भी लेता था। यह प्रातःकाल का व्यायाम था, इसमें एक घण्टा लगता। फिर स्नान करके सन्ध्या-अग्निहोत्र, जिसके पश्चात् गो-दुग्ध पीता और पत्रों के उत्तर देने में लग जाता। यह अम्यांस मुझे उसी समय से है कि तुच्छ से तुच्छ और व्यर्थ पत्र को काम की टोकरी से तब तक अलग न किया जावे, जब तक उसका उत्तर न भेजा जाय।

एक विचित्रता मुझमें और भी थी, जो अब तक है। जब तक भोजन पर पड़ा नित्य का काम समाप्त न हो जाय तब तक मन प्रसन्न नहीं होता। आठ बजे समाचार-पत्र भी पढ़ निवृत्त हो मुकदमे वालों को बुलाया जाता और पौने दस बजे उनका सब काम तैयार। मुझे १०-१२ मुकदमों की तैयारी में भी इससे अधिक समय कभी न लगा। फिर भोजन करके कचहरी। कचहरी से अपना सारा काम समाप्त होते ही मैं घर को चल देता, अन्य वकीलों की तरह शिकार की प्रतीक्षा में बार-रूम में न बैठा रहता।

सायंकाल या तो बग्घी में लम्बी सैर को चला जाता या म्युनिसिपल वाटिका में टेनिस के लिये ठहरता। भोजन के पश्चात् कुछ भाई मेरे मकान पर आते जिनके साथ नित्य सायंकाल ईश्वर प्रार्थना होती। इसके पश्चात् कुछ धर्मचर्चा होकर सब लोग विदा होते और मैं दस और कभी-कभी ग्यारह बजे तक पढ़ता रहता। इन दिनों ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के साथ मैंने इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध विकासवादी लेखक हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ किये थे।

राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध

ज्येष्ठ १९४५ में पहिले पहल मेरा सम्बन्ध नेशनल पोलिटिकल काँग्रेस के साथ हुआ। प्रयाग के पायोनीयर और लाहौर के ट्रिब्यून का मैं बहुत पुराना ग्राहक हूँ इसलिये नेशनल काँग्रेस के त्रिषय में सब कुछ पढ़ता रहता था, किन्तु इस वर्ष पहिले पहिल पंजाब में यह विचार हुआ कि काँग्रेस कमेटियाँ प्रत्येक जिले में बनाई जावें

हमारे मित्र कालीबाबू जालन्धर और होशियारपुर का ठेका लेकर हमारे पास पहुँचे। और जगहों में तो रईस लोग

काँग्रेस का नाम सुनकर कानों पर हाथ धरते थे, किन्तु लाला बालकराम के प्रेरे हुए जालन्धर के आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्युनिसिपल कमिश्नर, जमीदार, सेठ साहूकार सभी काँग्रेस कमेटी की बुनियाद डालने के लिये इकट्ठे हो गये ।

१७ ज्येष्ठ संवत् १९४५ (३१ सन् १८८५ ई०) के 'द्रव्यून' में काँग्रेस सम्बन्धी सम्मेलन का हाल छप गया । वकीलों के कमरे में धूम मच गई । उन दिनों सर सय्यद अहमद खाँ व्यवस्था पत्र काँग्रेस के विरुद्ध निकल चुका था । जालन्धर में भी एक अलीगढ़ पार्टी खड़ी हो गई थी जिसके मुख्य नेता वहाँ के एक नये मुँडे हुए वकील थे । इनके बाप-दादा ने कभी गो माँस का स्पर्श भी नहीं किया था, किन्तु अलीगढ़ के पक्षपात का पहिला परिणाम यह हुआ कि इन्होंने गो माँस खाया । किन्तु सृष्टि-नियम भी विचित्र है । गो-माँस खाते ही इनके हृदय-शूल उठा और उनके घर वाली ने भी उस शूल को पाप का फल बतलाया—अस्तु । अलीगढ़-पार्टी को काँग्रेस पार्टी वालों ने खूब छेड़ना शुरू किया, परिणाम यह हुआ कि अलीगढ़ियों ने सब मुसलमान सभ्यों को, दो के अतिरिक्त काँग्रेस के पक्ष से जुदा कर लिया । दो पक्षपातहीन मुसलमान भाई जिनकी ओर मैंने इशारा किया है, श्री ख्वाजा शाह मुहम्मद साहेब वकील और श्री परीरजादा खाँ साहेब मुख्तार थे । ये दोनों सदैव मेरे मित्र रहे और इनके लिये मेरे मन में बड़ा ही आदर का भाव था ।

कर्त्तव्य क्षेत्र में

मेरी डायरी से पता लगता है कि मई १८८८ ई० वैशाख (ज्येष्ठ संवत् १९४५) में ही मैंने वर्णव्यवस्था पर एक लघु-पुस्तक लिखनी आरम्भ करदी थी ।

२० ज्येष्ठ संवत् १९४५ (३ जून सन् १८८६ ई०) का दिन विशेष स्मरण के योग्य है । जो बड़ा मकान मैंने आर्य प्रतिनिधि

सभा पंजाब की सेवा में अर्पण कर दिया है और जिसे बेच कर सभा ने २० हजार रुपये गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा कर दिए हैं उसकी आधारशिला उसी दिन रखी गई थी ।

संवत् १९४५ (सन् १८८८) को ग्रीष्म ऋतु में ही आर्य धर्म प्रचार के लिए हमारे कपूर्थला राजधानी पर घावे आरम्भ हुए । पहिली बार १६ आषाढ़ (३० जून) को, जब मैं आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिवेशन के लिए लाहौर जाने की तैयारी कर रहा था, कपूर्थला से एक आर्य भाई व्याख्यान का निमन्त्रण देने आये । मैं लाहौर के स्थान में उन्हीं के साथ चला और कपूर्थले पहुँच कर चिरंजीवलाल को बाजार में भेज दिया, जहाँ उसने अपनी खड़ी बोली की बतों द्वारा हलचल मचा दी । चिरंजीवलाल की वैतुलबाजी ने ही विज्ञापन का काम दिया जो दूसरे प्रातः को व्याख्यान के लिए था ।

दूसरे दिन (आदित्यवार को) प्रातःकाल ४ बजे से वर्षा का आरम्भ हुआ । मेरी डायरी में लिखा है “भाई देवराज मूसलाघार वर्षा में ही भोगते हुए साढ़े छः बजे पहुँचे । कैसा महान् आत्मसमर्पण ! ८ बजे के पश्चात् कुछ बादल उड़े । देवराज जी ने बड़ी जन उपस्थिति में नई सराय के अन्दर व्याख्यान दिया । मैंने मूर्तिपूजा विषय पर मास्टर पोल्होमल के साथ शास्त्रार्थ किया । लाला घूमामल जी की बगधी में हम जालन्धर लौटे । जालन्धर समाज मन्दिर में मैंने ईश्वरोपासना के पश्चात् सत्यार्थ-प्रकाश की कथा की ।

अशांति में शांति

जुलाई के महीने में ही मेरे सबसे ज्येष्ठ भ्राता का एक मुकदमा था । एक मुसलमान ने उन पर मस्जिद का कुछ स्थान अपने तबेने में मिला लेने का झूठा अभियोग चलाया । जब तवेला बन रहा था तो मुसलमान ने धमकी दी कि यदि उसको

२००) न दिये तो वह धार्मिक भावों के आक्रमण करने के दोष में दावा कर देगा। भाई साहेब ने मेरी सम्मति पूछी। मैंने उन्हें कहा कि झूठे की घमकी की परवाह न कर सत्य पर आरुढ़ रहना चाहिए। मेरी इस सम्मति का यह फल हुआ कि बेचारे दो तीन महीने तक अभियोग में घिसटे फिरे। मैंने कानूनी पेरवी तो की किन्तु जब सनातनी ब्राह्मण मजिस्ट्रेट को मुसलमान ने घमकी दी कि वह उन पर हिन्दू का पक्षपात करने का दोषारोपण करेगा तो मजिस्ट्रेट ने बिना सबूत के ३०) जुर्माना कर दिया। डिविजनल जज के यहाँ भी यही सिद्ध हुआ कि दावा झूठा है और वह भी भाई साहेब के ही कब्जे में रही किन्तु मुझे उन दिनों बड़ा मानसिक कष्ट रहा। मेरी डायरी से पता लगता है कि जून और जुलाई के आषाढ-श्रावण महीनों में चित्त बड़ा अशान्त रहा, किन्तु २८ जुलाई (१२ श्रावण) को जब लाहौर गया तो उस बड़े नगर से अशान्ति के स्थान में शान्ति लाया। मेरी डायरी में लिखा है—पण्डित गुरुदत्त को मिला। मुक्ति विषय में उनके साथ बहुत बातचीत हुई। सर्व मुख्य नियमों में उनकी मेरे विचारों के साथ सहमति है। दूसरे दिन आदित्यवार को लाहौर आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। उपस्थिति ३०० से अधिक थी। वहाँ से लाला साईंदास के मकान पर पंडित गुरुदत्त सहित गया, जहाँ सामाजिक नियमों पर परस्पर विचार होता रहा। त्रिगु गुरुदत्त को मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।”

कन्या महाविद्यालय जालन्धर स्थापना का सङ्कल्प

जिस संस्था का नाम इस समय कन्या महाविद्यालय जालन्धर है उसके संस्थापन की कथा बहुत ही साधारण किन्तु शिक्षाप्रद है। जिस समय का मैं वृत्तान्त लिख रहा हूँ, उस समय जालन्धर में एक पहाड़ी वृद्ध स्त्री रहती थी, जिसे 'माई

लाडो' कहकर लोभ पुकारते थे । जो कुछ भी अक्षराम्यास हिन्दी का हिन्दू महिलाओं का था, वह इसी माई की कृपा का परिणाम था । मेरी धर्मपत्नी ने भी इसी माई से कुछ पढ़ा था । इस माई को कुछ विशेष लालच देकर ईसाइयों ने अपनी पुत्री पाठशाला में रख लिया । यह अपनी शिष्य स्त्रियों की लड़कियों को लिहाज-मुलाहजे के दबाव से ईसाई पुत्री पाठशाला में ले जाया करती थी । इसी प्रकार मेरी बड़ी पुत्री को भी उन्हीं की पाठशाला में बैठाया गया । २ कार्तिक, संवत् १९४५ (१९ अक्टूबर १८८८) की डायरी में लिखा है "कचहरी से लौटकर जब अन्दर गया तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीखकर आई थी, सुनाने लगी । 'इकबार ईसा, ईसा, बोल, तेरा क्या लगेगा मोल । ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया,' इत्यादि । मैं बहुत चौकन्ना हुआ । तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखायी जाती है । निश्चय किया कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिए ।"

सद्धर्म प्रचारक का जन्म

इन्हीं दिनों एक दूसरे बड़े काम की बुनियाद डालने का विचार उपस्थित हुआ । धर्म-सेवा के लिये जहाँ अन्दरसे उत्साह उत्पन्न होने लगा वहाँ साथ ही साथ साधन भी प्राप्त होने लगे । इन्हीं दिनों में से एक दिन राज-मजदूरों को साप्ताहिक वेतन बाँटना था, पास फूटी कौड़ी न थी । बड़ी चिन्ता मे था कि तीसरे पहर तक (१३०) की आमदनी हो गयी । मेरी डायरी में लिखा है—'मनुष्य को कभी निराश न होना चाहिए, परमात्मा पर हृद विश्वास रखना चाहिए, मुझे इन दिनों अपने विचार सर्व साधारण तक पहुँचाने के लिये किसी साधन की आवश्यकता पतीत होने लगी । आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्मा ने मार्ग

दर्शा दिया और ऋषि-उत्सव के दूसरे दिन ही 'सद्धर्म प्रचारक' साप्ताहिक उर्दू पत्र के निकालने का विचार दृढ़ हुआ। दूसरे ही दिन पच्चीस २ रूपयों के १६ हिस्सेदार पैदा हो गये और प्रेस का सामान क्रय करने की सूझने लगी। सभी जालन्धरी हिस्सेदार आये थे। इस समय से चैत्र सम्बत् १९४६ के अन्त तक सब प्रबन्ध होता रहा और १ वैशाख १९४७ को प्रचारक का पहिला अङ्क निकला।

1690

लाहौर आर्यसमाज का बारहवां वार्षिकोत्सव

हम लोग लाहौर आर्यसमाज मन्दिर को एक तीर्थ स्थान समझते थे और बड़ी श्रद्धा से वहाँ के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होते थे। इस उत्सव के लिये दो बजे की ट्रेन से लाहौर चल दिये। सारा प्रातःकाल भजनों में बिताया। जिस स्टेशन पर रेल पहुँचती, हमारे भजनों को सुनने चुपचाप सब खड़े हो जाते।

इस उत्सव में ही मास्टर दुर्गाप्रसाद जी का सोलह संस्कारों पर व्याख्यान सुनकर मेरा प्रेम उनके साथ अधिक होगया था। किन्तु सबसे बढ़कर पण्डित गुरुदत्त का व्याख्यान था जिसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है—“इस व्याख्यान की क्या उपमा दूँ? ऋषि दयानन्द के उपदेशों के पश्चात् यही एक व्याख्यान सुनने में आया है।”—यह उत्सव इसलिए भी स्मरणीय रहेगा कि मैंने पहिले पहल पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान के पश्चात् ६ मार्गशीर्ष, सम्बत् १९४५ (२५ नवम्बर १८८८) के ११ बजे से हुक्का पीना छोड़ दिया था। १० मार्गशीर्ष (२६ नवम्बर) की डायरी में लिखा है कि सारा दिन तम्बाकू नहीं पिया। ११ मार्गशीर्ष (२७ नवम्बर) को लिखा है “तम्बाकू छोड़ने से बड़ा लाभ होगा। अभी पता लगता है कि बहुत सी मुस्ती दूर होगी।” कुछ दिन पीछे ही भूख अधिक लगने लगी।

लाहौर से लौटकर मैं अपने ग्राम तलवन में गया। इन दिनों ही सांसारिक ऐश्वर्य तथा सांसारिक मान के संचय करने का विचार यद्यपि शिथिल हो चुका था किन्तु पर्याप्त धन संग्रह करके मानसिक शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के विचार दृढ़ हो रहे थे। इसीलिये जहाँ जालन्धर वाले बंगले के नक्शों में उपासनालय के साथ २ पुस्तकालय के बड़े कमरों की बुनियाद रखी गयी थी, वहाँ विचार के लिये एकान्त निवासार्थ ग्राम से दूर अपनी भूमि पर वाटिका तथा आश्रम बनाने का काम भी हो रहा था। तीन दिवस जन्मभूमि में धर्म प्रचार कर तथा नई वाटिका की हरियावल देखकर जालन्धर लौट आया।

ब्राह्ममुहूर्त में हरिकीर्तन

यह स्वयं सिद्ध सच्चाई है कि जिस समय आराम लेकर सब इन्द्रियाँ स्वस्थ होती हैं उस समय (ब्राह्ममुहूर्त में) मनुष्य के आत्मा पर बुराई वा भलाई दोनों का प्रभाव प्रबल पड़ता है। इसी सच्चाई को अपना पथदर्शक मानकर कुछ जालन्धरी आये हाथों में एकतारा ले चार बजे प्रातः घर से निकलते और आशा के शक्तिदायक अलाप के साथ वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति और ईश्वर-स्तुति के भजन गाना आरम्भ करते थे। हमारे काम का ढङ्ग यह था कि मुहल्ले वा गली के बीचों बीच खड़े होकर एक भजन पूरा करते और एकतारा पर स्वर छेड़ते आगे चल देते। जहाँ तक मुझे याद है पाँच वर्षों तक हम लोग अपने वार्षिकोत्सव से डेढ़-दो महीने पहिले ऐसा ही अमल करते थे। कई बार हमारे साथ लाहौर ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध सभासद् लाला काशोराम तथा बाबू अविनाशचन्द्र मजूमदार भी सम्मिलित हुआ करते थे। प्रातःकाल के हरिकीर्तन के समय भी कभी २ विचित्र घटनाएँ होतीं। कभी किसी माता को कहते सुनता—बेचारा

बड़ा भला फकीर है, केवल भजन गाता है, माँगता कुछ नहीं। और जब फिर दरवाजा खोलकर उसके निकलते २ मैं चल देता तो आवाज आती—'ऐ भाई ! खैर लेजा !' किन्तु जब मैं लौट कर भीख के लिये आंचल फँलाता, तो देवी को विस्मित देख कर बतला देता कि मैं आर्यसमाज का भिक्षु हूँ और इसलिये फेरी डालता हूँ कि नर-नारी धर्म पिपासा बुझाने के लिये आर्य-मन्दिर में एकत्र हों। कई देवियाँ तो हमें भिखमंगे समझ कर ही अनाज, पैसा, दुअन्नी, चौअन्नी, आंचल में डाल जातीं। मुझे याद है कि एक सबेरे की भीख की कमाई १०) से कुछ अधिक मैंने उत्सव निधि में दी थी। वे दिन कैसे स्वच्छ और सुन्दर थे, और उन्होंने मेरे आत्मा की उन्नति में क्या किया, उसे स्मरण करके कभी २ हृदय मुग्ध हो जाता है। और मुझे पश्चात्ताप होता है कि ऐसी शान्तिदायक सेवा से पृथक् होकर क्यों पत्थरों से टकराने का कठिन काम पकड़ लिया ?

जालन्धर आर्यसमाज का तीसरा वार्षिकोत्सव

यह उत्सव मेरे लिये सदा स्मरणीय रहेगा। पहिला कारण तो यह है कि उसी उत्सव पर सबसे पहिले नगर-कीर्तन की शान्ति का मैंने अनुभव किया। नगर-कीर्तन क्या था, सारे नगर-निवासियों के लिये प्रेम और शान्ति का सन्देश था। बाजे के साथ 'ओ३म्' का झण्डा लिये जालन्धर के एक प्रसिद्ध रईस, उनके पीछे पण्डित गुहदत्त संन्यासीमण्डल सहित वेदमन्त्रों की अमृत वर्षा करते जा रहे हैं, और उस साधुमण्डल के पीछे गृहस्थों के कई दल हरि-यशगान करते हुए जा रहे हैं। आं ! आं ! ऊं ! ऊं ! का अलाप बलाप कुछ नहीं और ना ही बाँह हिलाने से काम, किन्तु नगर-निवासियों पर प्रभाव ऐसा, कि सारे बाजारों में शान्ति का राज्य दिखायी देता था।

दूसरी स्मरणीय बात उतारे के स्थान में पहुँचकर सब भाइयों का सन्ध्या करना था जिसके पश्चात् सबसे इकट्ठे होकर हवन किया। फिर स्वामी स्वात्मानन्द जी ने सन्ध्या की विधि और उसके लाभों पर व्याख्यान दिया और बहुत रात जाते तक आर्य भाई संन्यासी महात्माओं तथा पण्डित गुरुदत्त जी से धर्म-विषयक निर्णय करते रहे।

सन्यासियों को सन्ध्या-अग्निहोत्र में सम्मिलित होते देव मुझे सन्देह हुआ था। मैंने पण्डित गुरुदत्त जी से अपनी शङ्का प्रकट की। पण्डित गुरुदत्त जी ने कहा कि जो संन्यासी, महात्मा, योगी हैं और सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त, अल्पाहारी तथा उच्चकोटि के साधन सम्पन्न हैं उनके लिये इन बन्धनों से सर्वथा मुक्ति का विधान है। किन्तु जो संन्यासी दिन रात गृहस्थों की सेवा में लगे हुए सब प्रकार के भोजन-छादन में कँठे हुए हैं उन्हें दो कान-संध्या तथा अग्निहोत्र करना ही उचित है। इसी समय उन्होंने श्वेताश्वतरोपनिषत् का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया था:—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं धर्मप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्म योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥

शायद यहीं कारण है कि पण्डित गुरुदत्त के संतसंग में रह कर सब संन्यासी महात्मा दोनों काल संध्या करते हैं जिस अवस्था में उनसे कम साधना वाले अन्य पुरुष सन्ध्या करने में अपना अपमान समझते हैं। तीसरी विशेषता यह थी कि इस उत्सव ने स्वसाधारण को निश्चय करा दिया कि आर्यों में वैदशास्त्र के जानने वाले प्रगल्भ विद्वान् विद्यमान हैं। बाल-विधवा के विवाह को पण्डित गुरुदत्त जी ने ऐसी प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया कि करतारपुर (जिला जालन्धर)

के एक प्रसिद्ध साहूकार ने अपनी बालविधवा पुत्री के विवाह कर देने का दृढ़ संकल्प धारण किया। भाई देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी भी उसी समय से बाल-विधवा विवाह के पक्षपाती हुए थे।

पण्डित गुरुदत्त का गुरुत्व

उसी दिन राय रामदयालुजी इंजिनियर ने दूसरे दिन के लिये भी पण्डित जी को उनके साथियों सहित भोजन का निमन्त्रण दिया और प्रार्थना की कि पण्डित जी का एक व्याख्यान अवश्य कराया जावे क्योंकि पहिला व्याख्यान अधूरा छूटने से शिक्षित दल को शान्ति नहीं हुई। पण्डित जी ने उत्तर में कहा "मुझे कोई नई बात सुनाने के लिए सूझी नहीं फिर कैसे कह सकता हूँ कि व्याख्यान दूँगा वा नहीं।" इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वक्ता जान ब्राइट (John Bright) की नाई पण्डित गुरुदत्त बिना आवश्यकता और अनुभव के बोला नहीं करते थे। अस्तु ! जलसे में पढ़ूँच, एक ओर खड़े हो गये। एक पण्डित मूर्तिपूजा का खण्डन कर रहे थे, देर तक सुनने के पश्चात् पण्डित जी ने कहा—“लीजिये ! अब जनसाधारण के लिये सन्देश सूझ गया, अब आपका जी चाहे तो नोटिस दे दीजिये।” पण्डित गुरुदत्त ने शनैः २ भूमिका उठाकर परमात्मा का निरूपण किया और फिर आत्मा के साथ उसके सम्बन्ध का चित्र खींच निराकार पूजन के मण्डन में ही मूर्तिपूजा का खण्डन कर दिया। फिर जब जनता के लिये प्रेम के भाव से प्रेरित होकर कहा—

‘मुझे बड़ा कष्ट होता है, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि मेरे पिता के ही पुत्र, मेरे ही भाई, चेतन के पुत्र होते हुए, जड़ का पूजन करते हैं।’ तो उस समय लोगों के दिल भर आये। वजीर कर्म सिंह की, अन्य सामग्री के अतिरिक्त, एक

मन से कम बोझ की मूर्तियां न होंगी जिनका वह नित्य पूजन किया करते थे। उन्होंने राय शालिग्राम से कहा—“कल से मैं मूर्तिपूजा कदापि न करूंगा।”

पण्डित गुरुदत्त चौमुखी चलते थे:—

१३ पौष (२८ दिसम्बर) को रात को मैं भाई देवराजजी के यहाँ ही सोया था। १४ पौष (२९ दिसम्बर) को प्रातःकाल स्नान, सन्ध्या वन्दनादि से निवृत्त होकर पण्डित गुरुदत्त जी को उनके नियत स्थान में न पाया, पूछने पर पता चला कि पण्डित जी दो बजे से ही स्नान करके एकान्त स्थान में दरवाजे बन्द कर अपनी योग क्रिया में निमग्न हैं। ८ बजे जब किवाड़ खुले तो मुझसे एकान्त में बातचीत हुई। मैंने पण्डितजी से पूछा तो पता लगा कि जब तक एकान्त में न्योली कर्म न करलें तब तक वे अपना अभ्यास नहीं कर सकते। मैंने निवेदन किया कि यदि पूरा अभ्यास जारी रखते हुए बढ़ाना है तब तो व्याख्यान, लेखादि का कार्य बन्द कर देना चाहिये और यदि यह काम जारी रखना है तो अभ्यास को साधारण अवस्था में लौटाकर कुछ काल वहीं स्थित करना चाहिये। पण्डितजी मेरे साथ सहमत होते हुए बोले “मुन्शीराम जी ! जानता मैं भी सब कुछ हूँ किन्तु एक ओर तो अभ्यास का आनन्द नहीं छोड़ा जाता और दूसरी ओर जब सज्जन पुरुष आ घेरते हैं तो उन्हें कोरा जवाब देना मेरी शक्ति से बाहर हो जाता है।” मैं इस सरल उक्ति का क्या उत्तर दे सकता था ? किन्तु कभी २ रात को एक सर्द आह दिल से निकलती है, और हृदय पुकार उठता है ‘हा ! गुरुदत्त के मुख मित्रो ! तथा अन्धे श्रद्धालु भक्तो ! यदि तुम जानते कि अपने पूज्य पण्डित जी को दो-दो बजे रात तक पठन-पाठन और शक्य-समाधान के लिये जगाकर तुम उन्हें मौत के मुँह में धकेल रहे हो तो तुम्हें कितना अनुताप होता ?’ किन्तु इसमें

भी शायद परमपिता की ओर से हमारे लिये शिक्षा भी जिसे यदि हम समझते तो कृतार्थ हो जाते।

१४ पौष (२६ दिसम्बर) के सबेरे की दो घटनाएं मुझे याद हैं। भाई देवराज के कचहरी वाले कमरे में तीन खिड़कियों वाले ऊँचे चबूतरे पर संन्यासी मण्डल बैठा हुआ है और उस बड़े दालान के एक ओर एक चारपाई पर पण्डित गुरुदत्तजी लेटे हुए हैं। उनका एक चेला (चौधरी रामभजदत्त) चारपाई की पाटी पकड़े नीचे बैठा है। गुरु-शिष्य में कुछ गोष्ठी हो रही है। अकस्मात् मेरा बुलावा होता है। 'मुन्शीराम जी ! इधर आइये।' मैं जाकर चारपाई पर बैठ जाता हूँ कहिये, क्या आज्ञा है ?" पण्डित जी ने प्रश्न पूछा—“सच कहिये, क्या एक आदमी वकालत करते हुए कन्सेन्शस (Conscientious, पुण्यात्मा) रह सकता है ?” मेरे उत्तर में एक पल की देर न थी—“मेरा अनुभव यह है कि नहीं रह सकता।” इस पर पण्डित जी ने अपने शिष्य से कहा “देखो, जिनका तुमने दृष्टान्त दिया था, जब वे भी मानते हैं कि एक धार्मिक मनुष्य के लिए यह पेशा ठीक नहीं तो तुम मुस्तारी का ख्याल क्यों नहीं छोड़ देते ? तुम स्वयं शिक्षा ग्रहण कर कहीं शिक्षक बनो, इस प्रकार तुम सैकड़ों युवकों को सदाचारी बना सकोगे।” रामभजदत्त ने अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर सिर झुका दिया और उसी समय से मुझे इस युवक के साथ विशेष प्रेम हो गया। प्यारे गुरुदत्त ! यदि तुम्हें अकाल मृत्यु का प्रास न बनना पड़ता तो न जाने वीर रामभजदत्त सांसारिक प्रलोभनों से सुरक्षित किस उच्च पद को प्राप्त होता।

पं० छज्जूराम की सत्यनिष्ठा

इस वार्षिकोत्सव पर बहुत से नए सभासद आर्यसमाज

को मिने । पण्डित छज्जूराम वकील इसी समय आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए थे । वे चार-पाँच महिनों के पश्चात् ही आर्यसमाज से पृथक् हो गए किन्तु उनके बिछोड़े ने भी आर्यसमाज जालन्धर के गौरव का प्रमाण दिया । पण्डित छाजूराम और सब सिद्धान्तों में तो आर्यसमाज के साथ सहमत थे, परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने में उन्हें संकोच था । उनका त्याग-पत्र १० वैशाख १९४६ विक्रमी के 'सद्धर्मप्रचारक' में छपा है । शिक्षाप्रद होने के कारण मैं उसका अनुवाद यहाँ देता हूँ—'आप मेरा नाम आर्य-समाज के रजिस्टर से खारिज करवा दीजिए । संक्षिप्त कारण इस प्रार्थनापत्र का यह है कि मैं तीसरे नियम पर पूरे तौर पर विश्वास नहीं रखता और मैं यह नहीं चाहता कि जब तक मेरा पूरा विश्वास न हो, अपने आपको भी आक्षेपों का लक्ष्य बनाऊँ और समाज की सुकीर्ति बढ़ाने का साधन होने के स्थान में उलटा प्रभाव डालूँ । मैं यह भी प्रगट करना चाहता हूँ कि यद्यपि एक नियम पर मेरा विश्वास नहीं है परन्तु मैं बहुत से अन्य विषयों में आर्यसमाज के सभासदों के साथ सहानुभूति रखता हूँ और और रखता रहूँगा ।' कंसा-स्वर्णिम समय था, जब इस प्रकार सचाई का राज्य था, और कहाँ आज का समय कि दुराचारी और आपापन्थी आदमी भी मुँह छिपाकर समाज से पृथक् होने के स्थान में अपना जत्था खड़ा करके समाज में दनदनाते और 'उलटे कोतवाल को डांटने वाले चोर' के सदृश समाज को कलंकित करते रहते हैं ।

इसी समय मेरे दो बड़े भाई और कुछ अन्य सम्बन्धी आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए जिसके कारण मुझे वैदिक सिद्धान्तों पर चलने में अधिक सुगमता हो गयी ।

एक अन्तिम लाभ इस उत्सव का एक जैन साधु का आर्य-धर्म में प्रवेश था । पूजमोनी रिख (पूज्यमुनि ऋषि)

नकोदर में रहता था। मेरे दो व्याख्यान सुन उसकी रुचि वैदिक धर्म की ओर बढ़ी, अपने दल में ही शास्त्रार्थ करके जालन्धर में आ गया २ पौष (२८ दिसम्बर) को दो बजे दिन के उसका प्रवेश संस्कार करके नाम 'ब्रह्मचारी ऋषि' रखा गया।

इस प्रकार यह वार्षिकोत्सव मेरे लिए अनगिनत आक्षी-वर्दों की वर्षा करके समाप्त हुआ।

सत्यार्थ प्रकाश की कथा

जहाँ धर्म-प्रचार के लिये इन दिनों में बाहर जाया करता था वहाँ आर्य जाति की प्राचीन कथा-विधि को पुनर्जीवित करने का विचार भी मेरे अन्दर काम करने लगा। १० ज्येष्ठ संवत् १९४६ (२४ मई सन् १८८३) से सूदों के चौक में सत्यार्थ प्रकाश की कथा का आरम्भ किया गया। जब पहिले दिन कथा-कार बनकर मैं आसन पर बैठ आर कथा शुरू की तो केवल २०, २५ आर्य भाई ही मेरे सामने बैठे हुए थे। बाजार का चौगान बड़ा था, इसलिए दूकानें दूर-दूर थीं। दूकानदार दूकानों पर हुक्के गुड़गुड़ाते रहे और हमारी दरी पर न आये, किन्तु जब मैंने ऊँचे स्वर से वेद मन्त्रों को पढ़ कर उनकी व्याख्या पंजाबी बोली में आरम्भ की तो शनैः शनैः गुड़गुड़ी हाथ में लिये बहुत से लाला लोग मेरे समीप आ बैठे। दूसरे दिन उपस्थिति १०० के लगभग थी और चार दिनों के पीछे दो ढाई सौ तक पहुँच गई। लोग बड़ी श्रद्धा से हमारी धर्म-कथा सुनने लगे और हुक्का आदि का उस स्थान में लाना बन्द कर दिया। इस प्रकार एक मास से अधिक कथा की शृङ्खला चलकर बन्द हो गई।

एक आर्यवीर परीक्षा में

जिस सूदों चौक में कथा होती थी वहीं जालन्धर धर्म सभा के मन्त्री की दूकानें थीं। उनकी दूकान लाला शालिग्राम

आर्य (वर्तमान प्रसिद्ध गुरुकुल काँगड़ी के भण्डारी) के भाइयों के पास किराये पर थी। घर्म सभा के मन्त्री का नाम लाला वसन्तराम था। उन्होंने भण्डारी जी के भाइयों से कहा कि यदि वे अपने भाई को आर्यसमाज से अलग न कर लेंगे तो उनसे दूकान छीन ली जायगी। भाइयों ने मिन्नतें कीं, समझाया कि आर्यसमाज में जाना छोड़ दें, परन्तु बहादुर शालिग्राम ने एक न सुनी। घर छोड़कर समाज मन्दिर में डेरा लगाया परन्तु फिर भी निर्दयी घमसमाजी ने दूकान खाली करा ही ली। तब भाई शालिग्राम को फिर घर ले गये। घमसमाजी ने तो समझा था कि जब अपनी पेंठ की दुकान से अलग होंगे तो इनका अनाज न बिकेगा और यह सब भूखों मरेंगे। परन्तु मारने वाले से रक्षा करने वाला ज्यादा बलवान् होता है। उस समय न बिका हुआ गेहूँ कुछ दिनों के बाद बड़े मँहगे भाव बिका और शालिग्राम के भाइयों को दुगुना लाभ हुआ जिसे उनकी श्रद्धा भी आर्यसमाज और वैदिक घर्म पर बढ़ गयी।

श्री पूर्णानन्द जी का प्रवेश

श्री पूर्णानन्द जी भी आर्यसमाज में उन्हीं दिनों प्रविष्ट हुए। किस प्रकार अपने देश सिन्ध से लड़कपन में ही ये निकले, किस प्रकार साधुवेश में विद्या प्राप्ति का प्रयत्न करते रहे और अन्त में किस प्रकार यह जालन्धर पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित देवीचन्द्र जी से विद्याध्ययन करने लगे, इन सब प्रश्नों का उत्तर पं० पूर्णानन्दजी ने पीछे दिया। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि जब आर्यसमाज जालन्धर शहर का पहला वाषकात्सव मनाया जा रहा था तब मैंने एक युवक साधु को दीवार पर लगे वेद मन्त्रादि की अशुद्धियों पर कटाक्ष करते देखा। पूछने पर पता लगा कि इस युवक साधु का नाम 'टीकमानन्द' है। जालन्धर की पढाई से असन्तुष्ट होकर इस युवक

साधु ने काशी का रास्ता लिया। वहाँ वैशाख संवत् १९०६ के उत्तरार्द्ध (सन् १८८६ ई० के मई मास के आरम्भ) में आर्य-समाज के उपदेशक स्वामी रामानन्दजी का व्याख्यान कामादि-कल लाइब्रेरी हाल में सुनकर साधु टीकमानन्द ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। इससे पहिले कई साधु आर्यसमाज में सम्मिलित हुए थे परन्तु किसी ने भी आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन में अधिक रुचि न दिखाई थी। इस नये साधु ने मत परिवर्तन करते ही स्वामी रामानन्द से प्रार्थना की कि वे उसकी पढाई का प्रबन्ध कर दें। स्वामी रामानन्द ने टीकमानन्द को 'पूर्णानन्द' तो बना दिया किन्तु उनके आर्षग्रन्थ पढ़ने का काशी में प्रबन्ध न करा सके। तब आर्यसमाजों में उपदेशक विद्यालय का आन्दोलन करते हुए दोनों संन्यासी महोदय ज्येष्ठ के आरम्भ (मई मास के अन्त) में जालन्धर पहुँचे और ३ ज्येष्ठ (२७ मई) के सायंकाल दोनों के व्याख्यान आर्यसमाज मन्दिर में हुए।

उपदेशक क्लास के सम्बन्ध में—

जब १९ वैशाख संवत् १९४६ (२ मई सन् १८८६ ई०) को स्वामी रामानन्द जी अपने नये शिष्य पूर्णानन्द जी को लेकर जालन्धर आये थे तब उन्हीं दिनों वहाँ "द्वावा उपदेशक मण्डली" खोलने का विचार पक्का हो चुका था। इस मण्डली के दो विभाग सोचे गये थे—'एक सङ्गीत-मण्डली' और दूसरी 'उपदेश मण्डली'। १३ ज्येष्ठ (२७ मई) को स्वामी रामानन्द ने बाल संन्यासी टीकमानन्द के 'पूर्णानन्द' बनने का हाल सुनाया और पूर्णानन्दजी ने भी कुछ कहा। स्वामी रामानन्द ने काशी में उपदेशक पाठशाला खोलने का विचार प्रकट कर मुझसे सहायता माँगी। मैंने उन्हें कहा कि काशी तो पौराणिकों का गढ़ है, उपदेशक पाठशाला का चलना कठिन है, क्यों न लाहौर में प्रयत्न किया जाय जहाँ दयानन्द कॉलेज से भी अच्छी सहायता

मिल सकती है। स्वामी रामानन्द जी को मेरी सम्मति पसन्द आयी और वे लाहोर चले गये। वहाँ पण्डित गुरुदत्तजी तथा उनके सहायकों ने भी सम्मति दी और उपदेशक क्लास की अपील पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। स्वामी रामानन्द जी पूर्णानन्द जी को साथ लेकर ५ आषाढ़ (१६ जून) की दोपहर की रेल से मेरे पास लौट आये। स्वामी रामानन्दजी तो चन्दा जमा करने चल दिये किन्तु पूर्णानन्द जी को सन्तोष न हुआ। वे एक दिन भी व्यर्थ गँवाना नहीं चाहते थे। उसी समय पता लगा कि स्वामी पूर्णानन्दजी के एक पुराने परिचित विद्वान् कपूरथले में पढाया करते हैं। स्वामी पूर्णानन्द जी पढ़ने के लिए उन्हीं के पास जाने को तैयार हो गये। इस प्रकार जिनके टेढ़े प्रश्न पर उपदेशक क्लास का आन्दोलन आरम्भ हुआ वह तो विद्याध्ययन के लिए अलग जा बैठे और सारा बखेड़ा मेरे गले पड़ गया।

यहाँ पर स्वामी रामानन्द जी के विषय में इतना ही लिखकर समाप्त करता हूँ कि उपदेशक क्लास के लिए बहुत साधन एकत्र करा तथा पर्याप्त मासिक लिखाने के पश्चात् उक्त स्वामी जी बीमार हो गए। उनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गई कि सिविल सर्जन नैं भी रोग असाध्य कहकर इलाज छोड़ दिया तब मेरे मित्र राजकुमार जनमेजय के पुराने हकीम शेरअली के इलाज से स्वामी जी उठ बैठे।

पण्डित गुरुदत्त के अंतिम दिवस

सन् १९४६ का बड़ा भाग मैंने पण्डित गुरुदत्त जी के सत्सङ्ग तथा दूर से ही उनकी सेवा में बिताया। मैं लिख चुका हूँ कि अन्तु मत्तों ने श्रद्धा-सम्मान गुरुदत्त को दिन रात घेर कर उनके स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया था। साथ ही विरोधी

लोग मांस का झगड़ा छेड़ कर अहिंसक गुरुदत्त का बड़ा कष्ट देते थे और वह सब कुछ सहते थे ।

✓ इस सम्बन्ध में एक कहानी बड़ी मनोरंजक है जिससे गुरुदत्त की वाक्चतुरी का पता लगता है । एक बार एक एम० ए० महाशय जो एक बड़े सरकारी पदाधिकारी थे और साथ ही प्रेमचन्द रायचन्द स्कालर* भी, पण्डित गुरुदत्त के पास आकर बोले—“पण्डितजी आयुर्वेद का क्या बनाओगे ? सुश्रुत में तो मांस-भक्षण की खुली आज्ञा है ।” उत्तर मिला—“कुछ है तो, परन्तु क्या आप सुश्रुत के उपदेशानुसार आचरण करोगे ?” एम० ए० महाशय चकित होकर पूछने लगे—“क्या आप मांस भक्षण को ठीक मानने लग गये ?” उत्तर मिला—“ठीक मानने लगा या नहीं, इससे कुछ प्रयोजन नहीं । परन्तु यदि मांस खाना हो तो उत्तम ही खाना चाहिए । सो सबसे उत्तम मांस मनुष्य का ही है । मनुष्यों में से भी यदि एम० ए० का हो तो अत्युत्तम और फिर प्रेमचन्द रायचन्द स्कालर का कहीं मिल जाय, तो सोने पर सुहागा । अतीव उत्तम भोजन होगा ।” एम० ए० महाशय नमस्ते कहकर रफूचक्कर हो गये ।

उन दिनों एक ओर तो पण्डित गुरुदत्त को क्षय-रोग का प्रारम्भ था और दूसरी ओर उनके विरुद्ध विचित्र प्रकार के प्रवाद फैलाये जा रहे थे । कभी कहा जाता कि वह दयानन्द कालिज के प्रिंसिपल-पद के अभिलाषी हैं, कभी कहा जाता कि भगवे धारण कर लिये हैं और गुरु बनना चाहते हैं, कभी यह गप्प उडाई जाती कि वह सारे उपदेशकों को वश में करके मन-मानी चलाना चाहते हैं । बड़ी बात यह थी कि जिन लाला साईं दास जी ने बड़े यत्न से गुरुदत्त को आर्यसमाज का रत्न बनाया था, जिनका सचमुच गुरुदत्त के साथ पिता पुत्र का

* Premchand Raychand Scholar

12/1/24
 लाला साईं दास जी के पुत्र गुरुदत्त जी के अहिंसक आचरण का विवरण
 उद्धृत किया है जो मासिक १ १९२५ में उनके भावनात्मक प्रति मासिक
 उत्तर में प्रकाशित हुआ था। (१९२५)।

सम्बन्ध था, उनको लोग बराबर भड़काते थे। एक वार शायद ज्येष्ठ, १९४६ के अन्त में लाहौर पहुँच कर यह सब बातें सुनीं। पण्डित गुरुदत्तजी के पास गया और अपनी प्रकृति के अनुसार उनसे सीधे प्रश्न पूछे।

गुरुदत्त जी के पास होकर मैं लाला साईंदास जी की सेवा में गया और उनको सब कुछ सुनाया। फिर मैंने कहा "लाला जी ! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता पुत्र में लोग तो द्वेष फैलाने का प्रयत्न करते हैं, आप क्यों नहीं स्वयम् गुरुदत्त से स्पष्ट बातचीत करते।" श्री लाला साईंदास जी को मेरी बात पसन्द आयी और वह मेरे साथ पण्डित गुरुदत्त के मकान को चल दिये। यदि उस दिन पण्डित गुरुदत्त घर होते तो शायद आर्यसमाज का इतिहास ही बदल जाता, परन्तु वह बाहर भ्रमण को चले गये थे। मैं जालन्धर को चला आया और जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त, मित्रों के अनुरोध पर मरी पर्वत पर सर्दार उमरावरसिंह मजीठिया के अतिथि बनकर चले गये थे।

पण्डित गुरुदत्त की अकाल मृत्यु !

मरी पर्वत से, हितैषियों के रोकते हुए भी, पण्डित गुरुदत्त अपने प्रिय समाज में से एक (पेशावर आर्यसमाज) के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए। ऐसे कर्मवीर के लिये विश्राम के कुछ अर्थ ही न थे। पेशावर से अधिक बीमार होकर लाहौर लौटे।

सम्बन्ध १९४६ के अन्त तक मैं पण्डित गुरुदत्त की शारीरिक अवस्था के कारण कोई और काम न कर सका। लाहौर में पहुँचते ही जालन्धर से हकीम शेरअली को इलाज के लिये भेजा गया था। उनकी औषध का अद्भुत चमत्कार, पण्डित

गुरुदत्त की जालन्धर के लिए तैयारी, कुपथ्य के कारण फिर बीमार होना, फिर पण्डित जनार्दन की चिकित्सा और उससे निराश होकर फिर अंग्रेजी इलाज, रोग का भयानक रूप धारण करना और "शान्ति सरोवर में स्नान" की उत्कण्ठा पूर्वक विद्या तथा बुद्धि के अवतार गुरुदत्त का प्राण त्याग करना, ऐसी घटनाएँ हैं जिनका वर्णन हो नहीं सकता। यद्यपि पण्डित गुरुदत्त का जीवन लिखा जा चुका है परन्तु उनके पवित्र जीवन से जो शिक्षा ली जा सकती है उसका अन्तरीय सार अब तक सर्वसाधारण के सामने नहीं आया। वह सार सर्वसाधारण के सामने रखा हुआ, निस्सार ही सिद्ध होगा, क्योंकि ऐसे महान् आत्मा के साथ सम्बन्ध हुए बिना उनके जीवन का वास्तविक रहस्य प्रकट नहीं होता।

जालन्धर प्रान्त में शास्त्रार्थों की धूम !

जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव से लगभग २२ दिन पहिले मण्डी के राजा विजयसेन जी ने जालन्धर आकर यह इच्छा प्रकट की कि आर्यसमाज और सनातन धर्म सभा के मन्तव्य, दोनों के प्रसिद्ध व्याख्याताओं द्वारा सुने। १६ मागशीष १९४६ के दिन यह प्रसिद्ध धर्म-चर्चा आरम्भ हुई, जिस दिन श्री राजा साहब आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित हुए। राजा साहब पौराणिक थे इसलिये पटियाले के प्रसिद्ध राजपण्डित श्री कृष्णशास्त्री सजा साहब को सहायता देते रहे और प्रश्नों के उत्तर में, स्वामा पूर्णानन्द तथा श्री देवराज जी देते रहे। राजा साहब ने बहुत विषयों में आर्यसमाज के मन्तव्यों से सहमति प्रकट की और भोलेपन से कहा—“आपको सब बात हम मान लेंगे परन्तु मूर्तिपूजा न मानेंगे।” इधर से उत्तर मिला—“महाराज ! देखिये कौन किसको मना लेता है !” दूसरे दिन पण्डित

आर्य-मुनि तथा पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि वेद में साकार पूजा का विधान है वा निराकार पूजा का। इस शास्त्रार्थ का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ और नगर में धूम मच गयी।

५ चैत्र सम्वत् १९४६ (१८ मार्च १८९०) को पण्डित गुरुदत्त का देहान्त हुआ। शोक-सभा में सम्मिलित होने के पश्चात् चिरकाल तक मैंने लाहौर के दर्शन न किये। पण्डित गुरुदत्त के जीवन से दिव्य आत्मिक ज्ञान उपलब्ध करने जाया करता था और श्री लाला साईं दास के अनुभव से शिक्षा प्राप्त किया करता था, परन्तु पण्डित गुरुदत्त के बिछोड़े का दुःख अभी कम नहीं हुआ था कि ३० ज्येष्ठ सम्वत् १९४७ (१३ जून १८९० ई०) को लाला साईं दास भी ५१ साल की आयु में इस भौतिक शरीर को त्याग गये। अतः अब लाहौर के साथ कोई विशेष लगाव न रहा।

कन्या विद्यालय की स्थापना

सम्वत् १९४८ में बड़े उपयोगी कामों में लगा रहा। 'प्रचारक' के कुछ अङ्कों में आर्य पुत्री पाठशाला के न खुलने पर अपने ऊपर फटकार डालने के पश्चात् आखिर वह कन्या पाठशाला खुल गयी जिसे आज हम "कन्या महाविद्यालय" के रूप में देखते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म-प्रचार में भी अत्यन्त उत्साह से भाग लिया।

इसी वर्ष मांगशीर्ष में श्री पूर्णानन्द जी ब्रह्मचारी ने ब्रह्मानन्द को साथ लेकर द्वावा गुरुदासपुर उप-प्रतिनिधि सभा की ओर से बिना वेतन प्रचार आरम्भ कर दिया। श्री पूर्णानन्द जी तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी ने उस समय से जिस प्रेम से जीवन पर्यन्त वैदिक धर्म का प्रचार किया उसका वर्णन बड़ी विस्तृत पुस्तक में ही आ सकता है। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी तो वर्षों तक पंजाब में धर्म प्रचार करने के पश्चात् काशी जा

(१२७)

विराजे और वहाँ से वैदिक धर्मोपदेशक मण्डली बनाकर निकलने का शुभ विचार था परन्तु उनकी आयु थोड़ी ही थी। योगाम्यास करते हुए, सीमासे अधिक परिश्रम के कारण पहिले मस्तिष्क में विकार हुआ और फिर उनका देहान्त हो गया।

कुम्भ पर वैदिक धर्म-प्रचार

संवत् १९४८ के कुम्भ प्रचार के लिए राजकुमार जनमेजय तथा अपने मुंशी को साथ ले मैं हरिद्वार पहुँचा। उसका प्रबन्ध मेरे सुपुर्द किया गया था परन्तु मुझे हरिद्वार से चार-पाँच दिनों के बाद ही लौटना पड़ा क्योंकि मेरे पुत्र की बीमारी का समाचार तार द्वारा मुझे पहुँचा। मेरे पहुँचते ही ईश्वर की असीम कृपा से वह नीरोग हो गया।

कुम्भ की समाप्ति पर सब संन्यासी, महात्मा मेरे गृह पर जमा हुए। स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द सभी महाशयों के व्याख्यान हुए। परन्तु जब एक म्यान में दो तलवारोंका ठहरना कठिन है तो एक स्थान में इतने में वीतराग संन्यासियों का शान्ति से ठहरना कैसे सम्भव हो सकता था? स्वामी पूर्णानन्द तो काशी पढ़ने के लिये चले गये, स्वामी आत्मानन्द जी को अपने व्याख्यानों की प्रशंसा की चिन्ता हुई। इसी प्रकार यह मण्डल उस समय छिन्न-भिन्न हो गया।

दो से एक रह कर नये युग में प्रवेश !

सहघर्मिणी के साथ मेरा शनैः शनैः अदृष्ट सम्बन्ध हो चुका था। शिवदेवी जी से कभी विछुड़ने का खयाल तक न आता था और उन्होंने "वैदिक संस्कार-विधि" का पाठ करके यह धारणा दृढ़ की थी कि पति से कभी वियोग न होना चाहिए। श्रावण के अन्त (अगस्त के मध्य भाग) में उन्हें पाँचवीं

सन्तान उत्पन्न होते समय बड़ा कष्ट हुआ। चिकित्सा की सहायता ली गई। लड़की का जन्म लेते ही देहान्त हो गया। देवी इससे बहुत निर्बल हो गयीं।

१२ भाद्रपद संवत् १९४८ (२८ अगस्त सन् १८६१ ई०) की शाम को दस्त और व्रमन आरम्भ हुए। डाक्टर सारी रात पास रखकर मैं जागता रहा। तीन बजे प्रातःकाल दस्त बन्द हो गये। समझ लिया कि अब नीरोग हो गयी है। १३ भाद्रपद (२९ अगस्त) के दिन और रात आराम रहा। १४ भाद्रपद (३० अगस्त) को आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में समाचार आया कि फिर दस्त शुरू हो गये। घबराहट कुछ-कुछ कम हो रही थी। डाक्टरों को सम्मति के लिये बुलाया गया। एक डाक्टर ने वहाँ ही डेरा लगाया। माता ने आकर शाम से ही गोद में ले लिया। देवी के भाई पास थे। बहुतेरा इलाज किया परन्तु काल के आगे किसी का वश न चला। नौ बजे रात के जब माता थोड़ी देर के लिए अलग हुई तो पुत्री वेदकुमारी से अपना कलमदान मांगा। पर्चे पर कुछ लिखा और उसके निचले खाने में रख दिया। एक बजे जब मैं दवाई पिलाने लगा तो हाथ जोड़कर प्रणाम किया। जब दवाई पिला चूका तो माता को धीमे स्वर से कहा—'मुझे से बड़े अपराध हुए हैं। जिनकी मुझे सेवा करनी थी, वे मेरी सेवा कर रहे हैं।' माता ने प्यार दिया। भाई देवराज ने कहा "बीबी जी भजन सुनोगी" कहा हूँ—देवराज जी ने आरम्भ किया—'प्रभुजी ! भट धरू' क्या मैं तेरे" देवी लव हिलाती रहीं, बोल नहीं सकती थीं, भजन समाप्त हुआ। माता ने रोकर पूछा "बच्चे किसके सुपुर्द कर चली हो" उत्तर मिला आप ही पल जायेंगे।"

मुझे देवी बाबूजी कहकर सम्बोधन किया करती थीं। ४॥ बजे मैं बाहर डाक्टर से कुछ सलाह करने गया। २० मिनट

पीछे बुलावा हुआ। मुझे देखते ही दो बार कहा—“बाबूजी ! बाबूजी !!” मैंने भुक्कर नब्ज हाथ में ली। लव हिलते थे। एक बार स्पष्ट “ओ३म्” का उच्चारण मैंने सुना और फिर माता की गोद में प्राण त्याग दिये। श्मशान-भूमि में वैदिक विधि से मृतक शरीर का अन्त्येष्टि-संस्कार कराके परमात्मा से शान्ति के लिए प्रार्थना की गयी।

देवी ने चार सन्तान छोड़े १. वेदकुमारी १० वर्ष। २. हेमन्तकुमारी जिसका यज्ञोपवीत संस्कार के समय नया नाम रखा गया—“अमृत कला” ६ वर्ष। ३. हरिश्चन्द्र ४ वर्ष। ४. इन्द्र २ वर्ष। इनमें से इन्द्र उस समय भी ज्वर और दस्तों से पीड़ित था और छः मास पहिले भी उसे निमोनिया हो चुका था। मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी ने इन सबको संभाल लिया।

दूसरे दिन प्रातः मैंने देवी का सामान संभालना शुरू किया। बड़ी पुत्री ने कलमदान लाकर बतलाया—“माता जी ने एक कागज लिखकर इसमें रक्खा था।” मैंने कागज निकाला। उसमें लिखा था—बाबू जी ! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जायेगी, फरन्तु इन बच्चों को कभी मत भूलना। मेरा अंतिम प्रणाम स्वीकार करो। यह उन पंजाबी वाक्यों का अनुवाद है जो देवी ने देवनागरी अक्षरों में लिखे। वे वाक्य मेरे हृदय पर अङ्कित हो गये। रात को सब बच्चों को सुला कर मैंने एक घण्टे तक परमात्मा से बल के लिए प्रार्थना की और यह दृढ़ व्रत धारण किया कि बच्चों के लिए माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूंगा। यह मेरे वर्तमान बच्चे बतला सकते हैं कि मैंने अपने इस सङ्कल्प को कहाँ तक पूरा किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द के उपदेशों और वैदिक धर्म के आदेशों ने सम्बन्धियों, मित्रों और हितचिन्तकों

द्वारा सामने घरे प्रलोभनों से मुझे बचाया; परन्तु देवी के अन्तिम सन्देश ने मेरे अन्दर मातृभाव का सञ्चार करके मुझे इस योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूँ जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है ।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश की तय्यारी

अक्टूबर में पंजाब के समस्त आर्यसमाजों की प्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया । उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा । वह सार्वजनिक जीवन हो गया और इसलिये अपनी जीवन-यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहीं समाप्त करता हूँ । आश्रम इसे कह नहीं सकता, क्योंकि वैदिक ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ मेरा स्पर्श तक न हुआ था । फिर गृहस्थ भी अवैदिक ही रहा । हाँ, इससे आगे मैंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की तय्यारी आरम्भ कर दी थी । उस तय्यारी में ६ वर्ष व्यतीत करके किस प्रकार मैंने वान-प्रस्थाश्रम में प्रवेश किया और उस आश्रम धर्म के पालन में मुझे कहीं-कहीं ठोकरें लगीं इसके वर्णन का समय अभी नहीं आया । तब चौथे आश्रम में प्रवेश का वर्णन अभी बहुत दूर है ।



◆ तृतीय परिच्छेद

स्वामी श्रद्धानन्द

[संक्षिप्त जीवन रेखायें]

वैदिक सभ्यता के प्रति अनुराग

पंजाब प्रान्त में मांसाहार का अधिक रिवाज है। ऋषि दयानन्द द्वारा मांसाहार का प्रबल विरोध किये जाने पर भी बहुत से आर्यसमाज के सभासद अपनी निर्बलता के कारण मांस का त्याग न कर सके। लाला मुन्शीराम इसे सहन न कर सकते थे उन्होंने मांस-भक्षण का विरोध व्याख्यान एवं अपने पत्र द्वारा किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक विरोधी पक्ष खड़ा हो गया। परन्तु संसार को युद्ध-स्थल समझने वाले मुंशीराम सत्य सिद्धान्त के लिये किसी की परवाह न करते थे। आर्य प्रतिनिधि सभा में मुंशीराम जी से सहमत व्यक्तियों का जोर था, अतः आप आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान बनाये गये।

◆ स्वामी श्रद्धानन्द की आत्म कथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' उनके धर्म पत्नी की मृत्यु के प्रकरण पर धारक विराम ले लेती है। उनकी जीवन कहानी के वे सुनहले पृष्ठ जो आर्य समाज की महान् उपलब्धियों और भारत की स्वाधीनता के गौरवमय इतिहास के निर्माण में सहायक बन सके विस्तार से लिखे जाने शेष हैं। तृतीय परिच्छेद के रूप में अपने शब्दों में हम यहाँ उसका सार-संक्षेप दे रहे हैं। -बन्नादेक

(१३२)

ऋषि दयानन्दजी की स्मृति में 'दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज' बनाया गया था, परन्तु उससे संस्कृत शिक्षण का कार्य वैदिक पद्धति पर न हो सका। आपको इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि वेद-प्रचार का काम खूब चले। पहले तो आपने योग्य उपदेशक रखकर धर्म-प्रचार का काम कराया। पं० लेख-राम जी और स्वामी पूर्णानन्द जी इस कार्य में प्रमुख थे इस प्रकार चार वर्ष तक निरन्तर वेद-प्रचार का काम होता रहा लाला मुंशी राम केवल इतने से सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने वैदिक शिक्षणालय खोलने का विचार किया जिससे आश्रम-पद्धति और गुरु शिष्य-परिपाटी का पुनः प्रचार होकर संयमी जीवन का आदर्श तैयार हो सके। ऋषि दयानन्द और प्राचीन ऋषियों के मतानुसार गुरुकुल बस्तियों से दूर होने चाहिये, जहाँ कम से कम २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचरी सादा जीवन बिताते हुए वेदों का अध्ययन करें। भोग-विलास में ग्रस्त और पश्चिमीय सभ्यता से चकाचौंध वाली दुनिया में इस प्रकार के मंसूबे रखना निस्सन्देह एक आश्चर्य की वस्तु थी।

गुरुकुल की स्थापन

स्वामीजी को ईश्वर पर अटूट विश्वास था। अतः वह सब कार्य ईश्वर विश्वास से ही करते और प्रभु सफलता प्रदान करते। आपने जब महर्षि के अमर ग्रंथ सत्यार्थ-प्रकाश में पढ़ा कि विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए तो आपने गुरुकुल स्थापना का दृढ़ संकल्प कर लिया। उस समय सबने उनको इस बात का विरोध किया परन्तु स्वामीजी की दृढ़ता एवं पवित्र विचारों से प्रभावित होकर २५-११-१८६८ को आयं प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल स्थापना का प्रस्ताव पास कर दिया और स्वामी जी ने अपने अनर्थक प्रयत्नों से सन् १६०२ में गुरुकुल की स्थापना कर दी।

आप घर से निकले और प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक तीस हजार रुपया एकत्रित न कर लूंगा, घर न लौटूंगा। आपने समस्त देश का भ्रमण किया। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर स्थान-स्थान पर व्याख्यान दिये। रुपया प्राप्त हुआ। परन्तु कार्यकर्ताओं की चिन्ता थी। कहां से त्यागी वानप्रस्थों और विद्वान् सदाचारी गृहस्थ प्राप्त किये जायें-जो अपना उद्देश्य सेवा ही बना लें ? सबसे पहले आपने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया और सेवा-कार्य के लिए स्वतन्त्र हो गये। त्यागी व्यक्तियों को सहयोगी भी मिल जाते हैं। लाला शालिग्राम (जालन्धर) ने आजन्म अविवाहित रहने का व्रत लिया था। लाला मुन्शीरामजी के दो मित्र पं० गङ्गादत्त और विष्णुमित्र थे। इस प्रकार मुन्शीरामजी ने इन तीनों व्यक्तियों के साथ काम शुरू कर दिया। अब सवाल यह था कि पढ़ने वाले कहां से आवें ? कौन माता-पिता अपने बच्चों को नये परीक्षण में एक लम्बे समय के लिये जङ्गलों में भेजने का साहस कर सकता है ? इसके लिए भी सबसे पहले लाला मुन्शीरामजी आगे बढ़े। आपने अपने दोनों पुत्रों—हरिश्चन्द्र और इन्द्र को गुरुकुल में प्रविष्ट किया। शीघ्र ही कुछ अन्य मित्रों ने भी अनुकरण किया और अपने पुत्र दिये। आरम्भ में गुजरांवाला में ही १०-१५ बालकों को लेकर शिक्षण-कार्य आरम्भ किया गया। परन्तु यह स्थान उपयुक्त न था। आप भण्डारी शालिग्राम के साथ स्थान की तलाश में निकले।

हरिद्वार के निकट काँगड़ी ग्राम में नजीबाबाद जिला बिजनौर के मुंशी अमनसिंह जी की जमींदारी थी। आपने गुरुकुल के लिए अपनी सारी जमींदारी दान दे दी। काँगड़ी ग्राम के निकट भारी जङ्गल था, चींटों और बाघों का हर समय भय था। लाला मुन्शीराम जी सहित २६ गुरु-शिष्यों ने संवत् १२५६ में इस स्थान में प्रवेश किया। बाद में जङ्गलों को सफ करके

वहाँ ब्रह्मचारियों के रहने के लिए आश्रम (गुरुकुल) बनाया गया। लाला मुन्शीराम जी का विचार था कि अधिष्ठाता और अध्यापक सभी बभ्रुभवी वानप्रस्थी रहे जायें। परन्तु इसकी पूर्ति होनी कठिन देखकर आपने उन सदाचारी गृहस्थों को इस कार्य में लवा लिया जो सादा जीवन जीकर गुरुकुल के उद्देश्य से सहानुभूति रख सकते थे। लाला मुन्शीराम जी बड़े विचारशील थे, प्रत्येक कार्य से पूर्ण लाभ उठाना एवं उसे सब तरह से उपयोगी बनाना जानते थे। प्राचीन षाठ-विधि में आपने कुछ समय पश्चात् प्राश्चात्य विज्ञान और अंग्रेजी भाषा की भी व्याख्या कर दी।

किसी ने बहुत ठीक कहा है कि उपदेश देने से स्वयं उपदेष्टा का पेश करना कहीं अधिक उत्तम है। वकालत के पेशे से आपको पहले भी हिचक थी, क्योंकि इसमें उन्हें प्रायः सत्य से विमुक्त होना पड़ता था। वे वकालत छोड़ने के लिए समय की लक में थे, तुरन्त वकालत को तिलाञ्जलि दे गुरुकुल को अपना जीवन अर्पण कर दिया। इस प्रकार सत्य का जीवन अपनाकर आपने सत्य के प्रचार करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। आपके त्याग इतने महान् थे कि आपको जनता ने 'महात्मा' पद से विभूषित किया और आगे आप 'महात्मा मुन्शीराम जी' कहलाये।

गुरुकुल का प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा के हाथ में था। परन्तु इसकी शिक्षा-पद्धति के कारण यह राष्ट्रीय रूप धारण कर चुका था। राष्ट्रीय और सामाजिक नेता गुरुकुल में प्रायः आते रहते थे। सरकार की दृष्टि भी इस संस्था पर पड़ी। बड़े-२ सरकारी पदाधिकारी गुरुकुल देखने आने लगे। गुरुकुल के जो वार्षिक उत्सव होते थे, उन पर स्वयं सेवकों द्वारा ही प्रबन्ध करवाया जाता था। सरकार से कोई सहायता नहीं ली गई।

आपके साहस और कार्य की धूम सारे भारत और बेश-बेस्तातर में मच गई। बङ्गाल, बिहार, मद्रास, गुजरात प्रान्तों के नेताओं से आपका बड़ा मेल हो गया था। अन्य प्रान्तों में भी विद्यार्थी और सहयोगी पर्याप्त संख्या में मिले।

लार्ड मेकाले की शरारत भरी शिक्षा-पद्धति के उत्तर में गुरुकुल प्रणाली का प्रारम्भ आश्चर्यजनक और गौरवपूर्ण था। काश, हमारे गुरुकुल और उनके व्यवस्थापक इस विद्रोही सन्त की भावना को समझ पाते ! अंग्रेज सरकार गुरुकुल को एक राजद्रोही संस्था समझती थी !

निर्भयता की मूर्ति महात्मा मुन्शीराम जी !

महर्षि स्वामी दयानन्द के उपदेश एवं उन के ईश्वर विश्वास ने महात्माजी में अद्भुत साहस एवं निर्भीकता उत्पन्न कर दी थी। उनका सारा जीवन उनकी निर्भीकता का परिचय देता है।

आर्यसमाज वर्ण व्यवस्था को जन्म से नहीं अपितु गुण कर्म और स्वभाव से मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार महात्मा जी ने अपनी सुपुत्री अमृतकला का विवाह डा० सुखदेव जी एवं तत्पश्चात् अपनी दूसरी सुपुत्री तथा दोनों सुपुत्रों के विवाह भी जाल-पात के बन्धन तोड़कर किये थे, जिसके कारण आपके सब सम्बन्धी एवं मित्र आपसे रुष्ट हो गये थे और आपका बहिष्कार भी किया था। परन्तु महात्मा जी उनसे भयभीत नहीं हुए।

कठिन-कठिन परीक्षाएँ !

समय-समय पर आपकी परीक्षाएँ होती रहीं जिनमें आपने महान् साहस का परिचय दिया। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को छोड़े की सलाह और धनुर्विद्या का अभ्यास करते देहान्तर्ह सरकारी अधिकारियों को सन्देह हुआ कि-पता नहीं क्या कर्-

यन्त्र सरकार के विरुद्ध रचाये जा रहे हैं। सन् १९०६ में सरकार की आर्यसमाज पत्र बड़ी क्रूर दृष्टि रही। इन्हीं दिनों लाला लाजपतराय जी निर्वासित कर दिये गये। सरकारी नौकरियों में भी आर्यसमाजियों पर कड़ी नजर रक्खी गई। बहुत-से आर्य नेताओं ने यह सिद्ध करना चाहा कि आर्यसमाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु आपने लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर स्पष्ट शब्दों में लाला लाजपतराय पर विश्वास प्रकट किया और कहा कि "लालाजी आर्यसमाज के सदस्य हैं तथा आर्यसमाज लालाजी का है।" सरकार की गीदड़-भभकियाँ आपको तनिक भी भयभीत न कर सकीं।

तीसरी परीक्षा आई। पटियाला राज्य में आर्यों पर विद्रोह का मुकद्दमा चला। आर्यसमाजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन पर अत्याचार हुए। महात्मा मुन्शीराम को खबर लगी। आप गुरुकुल सम्भालते ही बकालत छोड़ चुके थे। आपने पुनः बकालत की इजाजत ली। स्वयं पटियाला में आसन जमाकर मुकद्दमे की पैस्वी की। आया हुआ व्यर्थ का सङ्कट टल गया और राज्य के निवासियों ने शान्ति का सांस लिया।

इसी प्रकार गढ़वाल में दुर्भिक्ष पीड़ित भाइयों की सहायतार्थ गुरुकुल से ब्रह्मचारियों सहित वहाँ पहुँचे और उनकी सहायता की। उन दिनों आपके पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' में किसी स्वयं सेवक का लेख गढ़वालियों की सामाजिक कुप्रथाओं एवं कुरीतियों के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ। गढ़वालियों ने स्वामी जी का बहिष्कार करने के हेतु गढ़वाल की राजधानी में एक सभा का आयोजन किया, आपके कई मित्रों ने कहा कि आपका जीवन सङ्कट में है अतः उन्हें गढ़वाल से चले जाने का परामर्श दिया परन्तु स्वामी जी निश्चिन्त समय से १५ मिनट पूर्व सभा-

पति के आसने के समीप सभा मण्डप में जा बैठे । आपकी शान्त मूर्ति का दर्शन करते ही गढ़वाली भाइयों का क्रोध शान्त हो गया ।

महात्मा मुन्शीराम से स्वामी श्रद्धानन्द बने !

आपने १५ वर्ष तक गुरुकुल की सेवा की । १९७४ वि० (सन् १९१७) में आपने संन्यास ले लिया और स्वामी श्रद्धानन्द कहलाये । आपने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की भेंट कर दी, संन्यास धर्म के अनुसार ऐषणाओं से मुक्त होकर अपना जीवन व्यतीत करने लगे । आपने गुरुकुल को भी त्याग दिया, अपना उस पर कोई ममत्व न रक्खा, यद्यपि आपने खून पसीना एक करके उसे तैयार किया था । आपने इसके पश्चात् भारत की राजधानी देहली में आसन जमाया और हिन्दू जाति के सुधार-कार्य में जी जान से लग गये । इनके पहुँचने से पहिले देहली में कोई जागृति न थी । भारत की राजधानी होते हुए भी देहली नगर पिछड़ा हुआ था, आपने उसे समय के साथ चलाने का पर्याप्त प्रयत्न किया ।

कांग्रेस में प्रवेश

जब महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह किया और स्वामी श्रद्धानन्द जी को पता लगा कि भारतीयों को अफ्रीका में बड़े कष्ट दिये जा रहे हैं तो उन्होंने गुरुकुल-वासियों की ओर से अफ्रीका के सत्याग्रहियों की सहायता के लिए एक राशि भेजी, जिसे गुरुकुल-वासियों ने अपने भोजन में से बचाकर और मजदूरी करके इकट्ठा किया था । उसी समय से आपका महात्मा गांधी जी से प्रेम-सम्बन्ध हुआ और अन्त तक रहा । गांधी जी की 'महात्मा' गांधी के रूप में प्रसिद्धि का शुभारम्भ भी आपके द्वारा ही हुआ था ।

मेरी छाती में संगीने झोंक दो ।

पंजाब के इतिहास में 'मार्शल ला' (फौजी कानून) की घटना विशेष स्मरणीय है जिसके कारण सारे पंजाब में आतङ्क छाया हुआ था। अभी तक बहुत-से निरीह प्राणी अण्डमान की जेलों में पड़े सह रहे थे। रोलट एक्ट भारतीयों पर थोपा गया था। देहली में भी इसके विरुद्ध आन्दोलन के नेता स्वामी श्रद्धानन्द थे। ३० मार्च १९१९ को जिस समय टाउन हाल के गोदाव में गोरखों की संगीनें, झण्डूकें और मशीन-गनों तैनात थीं, वीर संन्यासी श्रद्धानन्द निर्भयतापूर्वक ४० हजार व्यक्तियों की भारी भीड़ के साथ जूटस का नेतृत्व करते हुए घण्टाघर के नीचे पहुँचे। गोली छूटते ही आप आगे बढ़े। छाती तानकर वे गर्जकर बोले, "निर्दोष जनता पर गोली चलाने से पहले मेरी छाती में सज्जीत झोंक दो!" इतना कहना था कि गोरखों का खौलता हुआ रक्त ठण्डा पड़ गया। आपने अनुपम साहस का उदाहरण पेश करके सम्पूर्ण भारत को वीरता और निर्भयता का सन्देश दिया।

हिन्दू मुसलिम एकता

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू-मुसलिम एकता की प्रशंसा मूर्ति थे। जिस समय अलखत के कारण मुसलमानों के दिल दहल रहे थे, आप में उन्होंने पूर्ण विश्वास प्रकट किया। ऐतिहासिक जामा मस्जिद के मन्च से आपके अमृत वचनों को उन्होंने सुना। जामा मस्जिद में हिन्दू और मुसलमान बिना किसी भेद-भाव के जमा थे और यह आर्य कर्मरक्षी 'त्वं हि नः पिता वसो' यह वेद-मन्त्र उच्चारण करके प्रखर सहयोग का सन्देश सुना रहा था।

अलियामबाबा साहब : अमृतसर अधिवेशन

सौभ ही महात्मा रामजी द्वारा असहयोग आन्दोलन

चलाया गया। पंजाब में असहयोग की अग्नि देहली से भी अधिक भड़क उठी। जनरल डायर ने निष्पाप, शान्त भारतीयों पर पंजाब के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्वामी जलियानवाला बाग में गोली-वर्षा कर दी। पंजाब में भारी आतङ्क छा गया। सन् १९१९ के अन्तिम महीने में भारतीय राष्ट्रिय महासभा का उत्सव अमृतसर में होने वाला था। किसका साहस हो सकता था कि वहाँ जाकर अधिवेशन की तैयारियाँ करे? पंजाब में लगभग ४० हजार वीर जेलों में बन्द थे। वीर सन्यासी श्रद्धानन्द पंजाब पहुँचे और निर्भय सिपाही की तरह लोगों के घरों में ढाढस बँधाने लगे। आपने आपद्ग्रस्त जनता की बड़ी सहायता की। परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि लोग कांग्रेस का नाम लेते भी डरते थे। कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर हो सकेगा—ऐसा कोई भी न सोच सकता था।

परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द अग्निपुत्र थे। विपरीत परिस्थितियोंमें राहबनाना उनका स्वभाव था। अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के इतिहास में अमृतसर अधिवेशन बहुत महत्वपूर्ण है। इस अधिवेशन में मानो तिलक युग का अवसान और गाँधी युग का उदय हुआ। जलियाँ वाला कांड के बाद समूचे देश में विशेष रूप से पंजाब में जो दमन चक्र चला, उसे देखते हुए केवल स्वामी श्रद्धानन्द ही थे जो उस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष बने। राष्ट्रीय महासभा के मञ्च से स्वामी श्रद्धानन्द ही पहले स्वागताध्यक्ष थे जिन्होंने अपमा भाषण हिन्दी में दिया। पराधीन राष्ट्र में इन जैसे स्वाधीनचेता युगपुरुष कम ही होते हैं।

सन् १९१६ तक कांग्रेस अंग्रेजी-शिक्षित भातृकों की एक जमात थी। कांग्रेस के इतिहासमें यह पहला ही स्वर्णिम अवसर था कि एक सन्यासी ने इसका सफल नेतृत्व किया।

सर्व प्रिय नेता

१० दिसम्बर १९२२ का दिन अविस्मरणीय है। स्वामी जी ने अमृतसर में अकाल तख्त से भाषण दिया और गुरु के बाग में सिक्खों के साथ गिरफ्तार हुए, मियांवाली जेल में कारावास की सजा भोगी। हिन्दू-मुस्लिम, सिख सभी स्वामी जी को समान रूप से प्रिय थे।

अछूतोद्धार का काम

जाति के एक अङ्ग को हिन्दुओं ने अछूत समझकर बड़ा अपराध किया था। हिन्दू जाति का अछूतों के प्रति व्यवहार शोभास्पद न था। महात्मा गान्धी जी ने भी इस तथ्य को समझा और नागपुर कांग्रेस में अछूतों का मामला पेश किया गया। अछूतोद्धार कांग्रेस के आदर्श में सम्मिलित कर लिया गया। स्वामी श्रद्धानन्दजी को इतने से ही सन्तोष न हुआ, उन्होंने देहली आकर स्वतन्त्र रूप से काम करना आरम्भ कर दिया।

आपने देखा कि देहली के आस-पास के गाँवों में ईसाई लोग चमारों आदि जातियों को तरह-तरह के प्रलोभन देकर अपने अन्दर लेने की चेष्टाएँ कर रहे हैं। आपने अपना सारा ध्यान इसी समस्या पर लगाया।

सचमुच दलितोद्धार की दिशा में किया गया आपका कार्य अद्वितीय है। कांग्रेस मञ्च से स्वामी जी के ये शब्द अमर हैं—

‘आज से वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिये अछूत नहीं रहे अपितु हमारे भाई बहिन हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे।’ इस पर महात्मा गांधी ने ‘यङ्ग इण्डिया’ में लिखा—“स्वागत समिति के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी का भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सच्चाई का नमूना था।”

(१४१)

महान् बलिदायी

महात्मा गांधी के उपरान्त उस समय केवल स्वामी श्रद्धानन्द थे जो जननेता के रूप में आदरणीय रहे। पं० मदन मोहन मालवीय, ला० लाजपतराय, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन, श्रीमती सरोजिनी नायडू, हकीम अजमल खां, डा० अन्सारी, श्री सी० एफ० एन्ड्रूज आदि तत्कालीन सभी राज-नैतिक एवं सामाजिक नेतागण स्वामीजी को पूज्य भाव से मानते थे। बहुत कम लोग जानते हैं कि पं० मोतीलाल नेहरू और स्वामी श्रद्धानन्द इलाहाबाद में कालिज में सहपाठी थे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में वे व्यक्ति जो भारत की एकता, अखण्डता एवं स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते थे, शूल की तरह खटकते थे। जातीय एकता एवं राष्ट्रीय अखण्डता के पुजारी स्वामी श्रद्धानन्द जी को ब्रिटिश सरकार ने कभी सहन नहीं किया। 'फूट डालो तो राज्य करो' की नीति का उन्होंने अनुसरण किया, साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया और अन्त में यही साम्प्रदायिकता स्वामी जी की हत्या का मूल कारण बनी।

२३ दिसम्बर १९२६ का दिन भारत के इतिहास में पीड़ा और क्षोभ का दिन है। वर्षों के परिश्रम और थकावट ने स्वामी श्रद्धानन्द को अस्वस्थ बना दिया। देश के लाखों व्यक्ति स्वामी जी के स्वस्थ होने की कामना कर रहे थे। इसी दिन एक धर्मान्ध व्यक्ति 'अब्दुल रशीद' ने स्वामी जी को गोलियों का निशाना बनाया। स्वामी जी के इस बलिदान की खबर सुनकर देश का जनमानस सौ-सौ आंसू रो उठा। राष्ट्रनायक नेहरू के शब्दों में—

'१९२६ के अन्त में यह वर्ष एक भारी दुःखद दुर्घटना से सन्तान्धकारमय हो गया। इस दुर्घटना से सम्पूर्ण भारत का कोप हुआ।'

स्वामी श्रद्धानन्द जी की याद अति ही १९२२ की दशावधि के सामने खड़ा हो जाता है। सरकारी विधियों और करों की तैयारी में हैं—स्वामी छाती खोलकर उसका सामना करते हैं और कहते हैं—'तो चलाओ गोलियां।' उनकी याद औरता और कौन मुग्ध नहीं हो जाता? मैं चाहता हूँ कि उस संन्यासी का स्मरण हमारे अन्दर सदैव वीरता और बलिदान के भावों को भरता रहे। —सरदार बल्लभ भाई पटेल

श्रद्धया सत्यमाप्यते

श्रद्धानन्द की भारत को देने उनकी सत्य में श्रद्धा है। श्रद्धानन्द यह नाम ही उनकी उस भावना का परिचायक है। उनके लिए सत्य और जीवन एक हो गये थे—सत्य ही जीवन था और जीवन ही सत्य था। उनकी मृत्यु उनके निर्भीक अतथक युद्धों के अमर चित्रों को आलोकित करती हुई एक प्रकरण निरूपण की तरह हमारे सामने आती है। —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

स्वामी श्रद्धानन्द जी का उत्कृष्ट उदाहरण युवक पीढ़ियों के लिये स्फूर्ति का स्रोत होगा, जो सदा उनमें आत्म-त्याग तप-सहिष्णुता और कष्ट सहन की भावना का विकास करने वाला होगा।

—पं० मदनमोहन मालवीय

स्वामी श्रद्धानन्द में निर्भीकता की आश्चर्यजनक साक्षात्कृत कद, शाही शकल, संन्यासी के वेश में बहुत उम्र हो जाने पर भी बिल्कुल सीधी चमकती हुई भाँड़े, और चेहरे पर जो अस्वस्थता की कमजोरियों पर आने वाली चिड़चिड़ाहट का अभाव था, उसी आत्म-संयमन में उनका सर्वोत्तम तस्वीर बन गया था।

—श्रीमती सुमित्रा देवी

॥ ओ३म् ॥

वैदिक सिद्धान्त की पुस्तकों का

सूची पत्र



स्वामी सोमानन्द

प्रकाशक

विद प्रचारक मण्डल

रामजस रोड, ६०/१३ कसोलबाग, नई दिल्ली-१

बिक्री केन्द्र—४८३, निकट लाहौरी गेट,

खारी बावली, दिल्ली-६

वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में निवेदन

प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। धर्म प्रचार के लिए अधिक से अधिक साहित्य वितरण करें। इसी उद्देश्य से वेद प्रचारक मण्डल की स्थापना की है। पुस्तकों की जानकारी के लिए सूची-पत्र भेजा जाता है। इसमें प्रत्येक प्रकार के साहित्य की जानकारी होगी। साहित्य के द्वारा ही प्रचार होता है। हमें दूसरों से भी कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आज इसाई किस प्रकार भारत के प्रत्येक प्रांतों की भाषाओं का साहित्य वितरण कर रहे हैं। इसके विपरित हमारा साहित्य ग्रन्थ-कार में पड़ा है। जबकि आज से पचास वर्ष पहले कितने ही आर्य विद्वानों ने साहित्य प्रकाशन करके जनता में जागृति उत्पन्न की। आपसे आर्थना है हमारे यहां की ४६० की सौ पुस्तकें तथा ८६० की सौ पुस्तकें अधिक से अधिक मंगाकर अपने क्षेत्र में वितरण करें। १०६० मासिक का साहित्य मंगाने वाले वेद प्रचारक मण्डल के सदस्यों की श्रेणी में सुमार किये जायेंगे, उनको वेद प्रचारक मण्डल की छपी प्रत्येक पुस्तक तथा वेद प्रचारक मासिक पत्र वगैर मूल्य-भेजा जायेगा। तथा मण्डल के कार्य की जानकारी भी दी जायेगी। इस सूची के प्रति-रिक्त जो भी साहित्य मंगायेगा भेजा जायेगा। नम्र प्रार्थना है पुस्तकों की मांग पत्र के साथ अधिक से अधिक मनीऑर्डर अवश्य भेजें इसका कारण है कि डाक व्यय इतना हो गया है जिसके कारण वगैर अग्रिम प्राप्त हुए पुस्तकें भेजने में असमर्थ हैं। फिर १० रुपये की वी. पी. पर रजिस्ट्री ६५ पैसे लगता है। वहीं ११ रुपये या २१ रुपये की वी. पी. होने पर डाक खर्च लगभग चार गुना हो जाता है। इसलिए पुस्तकों के मांग पत्र के साथ-रुपया भेजने में आपका ही लाभ है।

वेद प्रचारक मासिक पत्र के सदस्य बनें। (वार्षिक शुल्क 5) इससे आपको समाजिक राजनैतिक धार्मिक ज्ञान प्राप्त होगा बहुत ही प्रगति-शील पत्र है।

आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट की पुस्तकें

- सत्यार्थ प्रकाश स्थूलशर 20) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका 16)
- आर्य संस्कार विधि 6) उपदेश मन्जरी 3)
- आर्याभिविनय 8) विशुद्ध मनुस्मृति 40)
- दयानन्द लघु ग्रन्थ संग्रह (चौदह लघु पुस्तकों का संग्रह) 10)
- दयानन्द वेदार्थ प्रकाश 10) दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह 24)
- उपनिषदभाष्य 10) ब्राह्मण मन्त्र व्याख्या भाषा सूची 7)
- महर्षि दयानन्द जीवन चरित्र (पं. लेखराम कृत) 50)
- चतुर्वेद मन्त्रानुक्रमणिका 10) जीवन ज्योतिष 24)
- षष्ठदर्शन पदानुक्रमणिका 10) यजुर्वेद देवतार्थ सूची 4)
- मनुस्मृति (सम्पूर्णा समीक्षा युक्त 80) योगदर्शन भाष्य 40)
- दयानन्द दिग्विजयाकं 20) वैदिक कोशः— 100)
- दयानन्द ग्रन्थमाला (तीन भाग) 80) पैप्लाद संहिता 100)
- विषय सूची 2) सृष्टि संवत् (परिवर्धित संस्करण 1)
- हिन्दुराज्य 10) वैदिक मनोविज्ञान 3)
- खतरे की घण्टी 2) यथार्थ वेदान्त 1)
- भजन संगीत सागर 4) वेदों में अनित्य इतिहास नहीं 1)
- सत्यार्थ प्रकाश बडा आकार 6) गोकर्णानिधि 25) पैसे
- आर्योद्देश्यरत्नाला 20) पैसे व्यवहारभानु 30) पैसे
- सत्यार्थ प्रकाश कवितानुवाद 3) सहकारी सम्मति 2)
- खुनी इतिहास 4) शैतानी 10)
- विश्वास घात 3) त्रिपुलव 15)

श्री राम प्रसाद वेदालंकार की

अमूल्य पुस्तकें

प्रार्थना सुमन	1-45	कीर्तन चैन की नींद	.60
वेद सुधा भाग 1	1.50	बिदुरजी की दृष्टि में	1)
महान बिदुर के महान	1)	वेदसुधा भाग दो	1.50
विनय सुमन भाग 1	1.30	प्रार्थना प्रदीप भाग 1	1)
प्रार्थना प्रसून भाग 2	1.15	प्रार्थना प्रसून भाग 2	1.25
विनय सुमन भाग 2	1)	अनन्त की ओर	1.20
वैदिक पुष्पांजली भाग 1	2.25	वैदिक गृहास्थाश्रम	1-25
" " " 2	3)	प्रभात वन्दन	1.20
" " " 3	2.40	शयन विनय	1.50
" " " 4	2.40	वेदोपदेश भाग 1	1.30
वैदिक रश्मियां भाग 1	1.15	विनय सुमन भाग 3	.95
बिदुरजी दृष्ट भाग 2	1.40	वैदिक आदर्श भाग 1	2-25
वैदिक संख्या	1.25	वैदिक रश्मियां भाग 2	1.10
वैदिक रश्मियां भाग 3	1.30	वरदा वेदमाता	1.50
यम नियम	1.10	जीवन गाथा	1.10

कविराज हरनामदास बी० ए० की विख्यात पुस्तकें

विवाहि आनन्द	6)	पत्नी पथप्रदर्शक	6)
भोजन द्वारा स्वास्थ्य	6)	स्वास्थ्य साधन	6)
गर्भवती प्रसूता	6)	पुत्री शिक्षा	6)

सरदार यशवन्त सिंह की पुस्तकें

आर्य-संगीत रामायण	24)	आर्य संगीत महाभारत	24)
संगीत हरिश्चन्द्र	6)	संगीत अमरसिंह सठौर	6)
संगीत श्रवण कुमार	6)	" बालसहीद हकीकतराय	12)
" वीर अमिन्त्यु	6)	" पृथ्वीराज	12)
दयामन्द	10)	दीवहितो की बातें	4)
नित्यकर्म	5)	अमिन्त्यु	6)

महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत पुस्तकें

सत्यार्थ प्रकाश

जगत प्रसिद्ध पुस्तक है जिसके अध्ययन से ज्ञान की वृद्धि होती है मनुष्य को ऐतिहासिक सामाजिक ज्ञान होता है । अज्ञानी ज्ञानवान बन जाता है इस पुस्तक के द्वारा समाज में मान प्राप्त होता है । पुस्तक में वेद पुराण दर्शन, मनुस्मृति, कुरान बाईबिल बौद्ध जैन ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त होगा । पृष्ठ संख्या 450 । मूल्य 6) डाक खर्च अलग ।

संस्कार विधि 16 संस्कार जो मनुष्य के जीवन के अंग हैं विस्तार पूर्वक पुस्तक में दिये हैं मूल्य 6) रुपये ।

ऋग्वेदाडी भाष्य भूमिका

इस पुस्तक में चारों वेदों के प्रत्येक विषय के मन्त्र देकर समझाया गया है । पुस्तक में हर विषय पर प्रकाश डाला गया है जैसे विमान विद्या तार विद्या । मूल्य 16 रुपये ।

बौद्ध, जैन मत प्रकाश

बहुत ही अमूल्य पुस्तक है बौद्ध जैन ग्रन्थों का अध्ययन करके पुस्तक का निर्माण करा है इसके अध्ययन से बौद्ध जैन धर्म की पूरी जानकारी हो जायेगी पृष्ठ संख्या 100 । मूल्य एक रुपया ।

पुराण अडी प्रकाश

इस पुस्तक में पुराणों में क्या है किसके बनाये हुए हैं कब कब बने हैं कूठ क्या है, सच क्या है बहुत सी कथाएं भी हैं । मूल्य तीन रुपये ।

सन्सुक्त धर्म 2)

अक्षित जायरी 6)

सुगन्धित फूल 5)

बहती दिवारे 4)

राक्षसपति 2)

सत्यधर्म प्रकाश 6)

ब्रह्मचर्य ही जीवन 10)

गले का अमिना 4)

दोष की शोका 3)

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी जी की पूरी जीवनी किस प्रकार बंदिस्टरी पास करके अफ्रीका निमन्त्रण पर गये। वहां जाकर भारतवासियों पर जो बर्ताचार हो रहे थे उनके विरुद्ध सघर्ष करना गोरे टोमियों का उक्त पर भयानक अत्याचार वहां से सफलता प्राप्त करके भारत आना यहां पर असहयोग आन्दोलन चलाने से लेकर स्वराज्य प्राप्ति तक की पूरी जानकारी दी है। पुस्तक में स्थान-2 पर चित्र भी दिये गए हैं पृष्ठ संख्या 350। मूल्य 6 रुपये।

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

कृत पुस्तकें -

प्रभु दर्शन	12)	दुनिया में रहना किस तरह	7)
तत्वज्ञान	15)	प्रभु भक्ति	5)
महामन्त्र	5)	सत्यनारायण कथा	3)
उपनिषदों का सन्देश	12)	मानव और मानवता	24)
प्रभुमिलन की राह	15)	घोर घने जंगल में	15)
मानव जीवन गाथा	6.00	एक ही रास्ता	5)
आनन्द गायत्री गाथा	4)	सुखी गृहस्थ	3.50
भक्त और भगवान	5)	भक्त और दयानन्द	4)
दो रास्ते	12)	यह घन किसका है?	12)
बोध कथायें	12)	गायत्री माता	.50

वेद प्रचारक मंडल की प्रकाशित

अपर्व पुस्तकें

यजुर्वेद भाष्य 2 खंड 40 अध्याय	8)	वीर गायन	2)
श्री सहयानन्द प्रकाश	16)	वेदोपदेश	3)

हमारा काश्मीर	6)	आसाद मंगल की गीता	8)
महात्मा गांधी	6)	गीता रहस्य	8)
श्रीमद्भारत स्त्रोत	50 पैसे	कथा पंचवीसी	2)
भारत की प्राचीन राजनीति	1) 25	भजन पुष्पांजली	2)
गायत्री स्त्रोत	50 पैसे	पाखंड खंडनी बस्तीराम	2)
उपासना का मार्ग	80 पैसे	आसन इलाज	2)
मुक्ति का मार्ग	40 पैसे	आनन्द भजनावली	2)
भगवान कृष्ण	60 पैसे	नीम नीबू तुलसी गुण विधान	2)
स्वामी श्रद्धानन्द	60 ,,	घर का वैद्य	2)
अमृत बाणी	50 ,,	दुग्ध गुण विधान	1)
भजन ईश्वर प्रार्थना	,, ,,	शहद गुण विधान	1)
भजन ऋषि गुणगान	,, ,,	बबूल गुण विधान	1)
राष्ट्रीय गीत	,, ,,	प्याज लहसन गुण विधान	2)
भजन ईश्वर भक्ति	,, ,,	जीवन कल्याण पथ	2)
भजन श्रीमद् गुणगान	,, ,,	भजन प्रभू गुणगान	50 पैसे
अमूल्य उपदेश	,, ,,	अमूल्य फूलों का पुस्तिका	,, ,,

लघु पुस्तकें वितरण की

धर्म शिक्षा	8 रुपये सौ	पूजा किसकी	8 रुपये सौ
वैदिक धर्म	,,	दैनिक यज्ञ प्रकाश	,,
कथा सत्यनारायण	,,	वैदिक प्रश्नोत्तरी	4 रुपये सौ
सत्य पथ	4 रुपये सौ	ईश्वर प्रार्थना	,,
प्रभू भक्ति	,, ,,	दयानन्द की अमर कहानी	,, ,,
प्रभू गुणगान	,, ,,	आर्य समाज क्या है	,, ,,
बाल शिक्षा	8 रुपये सौ	ज्ञान शिक्षा	8 रुपये सौ
ब्रह्म स्त्रोत	50 पैसे	प्रभू देख रहा है	8)
कुरान की कुछ आयेते	4) सौ	प्रभू दर्शन	4) सौ
नमस्ते	4) सौ	श्रीराम महिमा	4) सौ
स्वागतम	4) सौ	अन्का मास	8) सौ
संसार के महान् विद्वानों की चर्चा	8) सौ		

प्रचार की फुलकर वस्तयें

हवन सामग्री जड़ी-बूटियों से तैयार की जाती है । 4 रुपये किलो ।

हवन कुण्ड (6×6 का 10) 8×8 का 12) रुपये

10×10 का 14) 12×12 का 16 रुपये

यज्ञोपवीत 2) कोडी ओ३म के टीन के रंगीत वैज मय पिन के 20 रुपये सौ ओ३म की झड़ियां उत्सव के प्रवसर पर लगाने की 4) रु० सौ ओ३म का झण्डा कपड़े का 8) रुपए बूडा साइज 12) रुपए रंग चिरंगे 12 प्लेटों का सेट 15) रुपए दर्जन यह प्लेटें सात रंग की बिलायती टीम पर प्रकाशित की है इनमें गायत्री मन्त्र की 6 प्रकार की है इसके अतिरिक्त नमस्ते, स्वागतम आपके पधारने का धन्यवाद, शुभागमन आदि है । इनका आकार 10 इन्च लम्बा 3 इन्च चौड़ा है ।

ओ३म की प्लेट 10 इन्च लम्बी 4 इन्च चौड़ी तीन डिजाईन एक डिजाईन में दयानन्द के चित्र के साथ गायत्री मन्त्र है इन तीनों का मूल्य दो रुपए प्रति है ।

स्टीकर जिस पर ओ३म के चारों तरफ गायत्री मन्त्र लिखा 4 रंग का है मूल्य 60) रु० सौ छोटा बड़ा 80) सौ ।

चित्र कथा स्वामी जी की पूरी जीवनो चित्रों में चार भजनों के साथ 50 पैसे प्रति ।

दयानन्द एलबम्ब—मोटे बड़िया काडं पर तैयार की है । मूल्य 1.50 छटिया काडं पर 6 रुपए दर्जन ।

धर्म-पुण्य यही हैं प्रचार की पुस्तकों को अधिक से अधिक मंगाकर वितरण करके अज्ञानियों को ज्ञानवान बनावे इसके बराबर पुण्य नहीं है, आज ही अपनी शक्ति के अनुसार सेट मंगाकर इष्ट मित्रों में वितरवा करें ।

हमारे यहां से आस्त के समस्त प्रकाशकों की पुस्तकें प्राप्त हो सकती हैं । स्थान-2 से पुस्तकें मंगाने पर भी व्यय अधिक लगता है इस प्रकार आपको हमारे यहां से पुस्तकें मंगाने में लाभ रहेगा ।

प्रचार को ६० पैसे में २० पुस्तक

ईश्वर प्रार्थना, प्रभु भक्ति, हवन मंत्राध्याय शिक्षा, वैदिक सन्ध्या, सत्य पथ, देव-दयानन्द, वैदिक प्रश्नोत्तरी, आर्य समाज क्या है, पूजा किसकी, ज्ञान शिक्षा, बाल शिक्षा, जितनी इच्छा हो सेंट मंगाये।

ऋषि कलेण्डर

इस कलेण्डर में स्वामी जी की जीवनी के 12 बड़े चित्र 30 छोटे चित्र देशी, ग्रंथ जी, विक्रमी तारीख स्थान में आर्य समाज के नियम आदि दिये गये हैं। जिसने देखा मुक्त कण्ठ से प्रसन्धा की मूल्य 10 पैसे इस कलेण्डर 5 रुपये के सी 40 रुपये। प्रत्येक वर्ष छपता है।

दयानन्द प्रकाश

इस पुस्तक के लेखक स्वामी सत्यानन्द सरस्वती हैं इस में स्वामी दयानन्द जी की पूरी जीवनी बड़े ही प्रभाव शाली ढंग से लिखी है इस की कथा आर्य समाजों में होती रहती है। स्थान 2 में चित्र भी है। मूल्य 16 रुपये डाक खर्च अलग।

भारत की स्वर्ग भूमि काश्मीर

काश्मीर भारत की स्वर्ग भूमि कहलाती है उसके आस-लहास फिर तिब्बत आरम्भ हो जाता है इस भूमि पर 400 वर्ष तक महाराज हर्ष के परिवार का शासन रहा, इसके बाद भारत के पतन के साथ 2 यहाँ पर यवनों के द्वारा मयानक अत्याचार हुये जिसके कारण साक्षात् काश्मीरी मुसलमान हो गये गुरू तेग बहादुर का भी बलिदान काश्मीरी पण्डित की कुरण गाथा के कारण हुआ काश्मीर क्या है ? इसका प्राचीन इतिहास क्या कहता है स्वतन्त्रता के बाद पाकिस्तान अतात-इयों के आक्रमण काश्मीर के दर्शननिक स्थान यहाँ के प्राकृतिक दृश्य अमरनाथ की यात्रा पहलगाम की सैर यदि घर बैठे करना चाहते हो तो इस पुस्तक को भिगाकर आनन्द प्राप्त करें पुस्तक में स्थान 2 पर 25 चित्र भी दिये है प्रेज सन्ध्या 20 मूल्य केवल 6 रुपये।

गीता प्रकाश दो भाग

पंजाब में एक महान व्यक्ति हुये जिनका नाम रायसाहब रोशन लाल था जो गुड़गाबा जिले के काफी समय तक डिप्टी कमिश्नर भी रहे उन्होंने अपने जीवन काल में दो भ्रमूल्य पुस्तकें लिखी जिनका नाम गीता प्रकाश तथा गीता पुष्पमाला है इन पुस्तकों से इतने ज्ञान की वृद्धि होती है जिसका वर्णन करना कठिन है स्थान 2 में कबीर रः श्री राम तीर्थ, फरीद, मौलाना रूमी, गुरु नानक, तुलसीदास, गुरु गोविन्द सिंह आदि क्या कहते हैं उनके उपदेश क्या हैं पुस्तक में मिलेंगे पुस्तक में पूरा ज्ञान का भण्डार है पेज संख्या 280 मूल्य 5 रुपये डाक व्यय

कतक्य दर्शन	6.00	भेरे सपनों का भारत	4.00
मृत्यु परलोक	8.00	मांसाहार बोर पर है	1.50
आयं एवं पद्धति	9.50	उत्तराखण्ड में दयानन्द	1.00
योग रहस्य	4.50	आर्य समाज की उपलक्षियों	5.00
सत्य धर्म विचार	9.00	कल्याण मार्ग का मुसाफिर	4.50
कथा माला	1.25	मांडूक्य उपनिषद	0.75
न्याय दर्शन	2.50	आर्य समाज क्या है	3.50
केत उपनिषद	2.50	मुण्डक को उपनिषद	2.00
एक ही मार्ग	0.50	तैत्तिरीयों उपनिषद	2.50
कठो उपनिषद	2.50	ऐतरेययो उपनिषदो	2.50
इतिहासिक कहानी 2)		धर्म का आदि शास्त्र 12)	
स्वाध्याय और प्रवचन 3)		बेडांग प्रकाश 6)	
		कर्म मिसान्सा 12)	
स्वास्थ्य जीवन 6)		विश्व के महामानव 3)	
धर्म प्रवचनश्री 3)		आर्य समाज और हिन्दी 3)	
दयानन्द वाणी 3)		युद्ध नीति और आहिंसा 6)	

वेदान्त दर्शन 3.50	आत्म दर्शन 10.00
महाणिके पत्र व्योहार 2)	विद्यार्थी जीवन रहस्य 2.50
ईशो उपनिषद् 2.50	आस्तिक नगस्तिक सम्वाद 2.00
वीर सन्यासी 5)	वीर हेमू 2)
शेर शाह सूरी 2)	राम प्रसाद बिस्मिल 4)
आदर्श ब्रह्मचारी 1)	ब्रह्मचर्यामृति 60
ब्रह्मचर्य के साधन 16)	व्यायाम का महत्व 1.60
सुखी जीवन 4)	आसन प्राणायाम 5.00
आसनों के व्यायाम 2)	कन्या और ब्रह्मचर्य .80

चिकित्सा साहित्य भारतीय जड़ी बूटी

आक 2.50	नीम 1.50
पीपल 1.50	बड़ 1.50
सिरस 1.50	हल्दी 1.25
लवण 1.22	मिर्च 1.50
अदरक 1.50	सोंठ 1.75
शाकाभाजी से चिकित्सा 2.50	बिच्छुविषचिकित्सा 50
सर्पविष चिकित्सा 4)	स्वप्नदोष चिकित्सा .60
श्लीपद चिकित्सा 2.20	गोदुग्ध अमृत है 5.00
नेत्र रक्षा 1)	चिकित्सा मास्कर 8.00
श्वासकार चिकित्सा 12)	स्त्री रोग चिकित्सा 3.40
घर का वैद्य (1-4 भाग 23	मांस मदिरा निषेध 1)
मांस ननुष्य का भोजन नहीं 3)	शराब से सर्वनाश 1)
मापों की जड़ शराब 75	हमारा शत्रु तम्बाकू 50)
बाल विवाह से हानियां .50	राम राज्य कैसे हो 1)
बूटी प्रचार 8)	चरेमू इलाज 4)
अमृत सागर 20)	घर का वैद्य 4)

श्री शिक्षा	2)	अज्ञोपवीत क्यों धारण करें	2)
दो महात्मा दयानन्द ईसा	2)	क्या वृक्षों में जीव है	2)
राम प्रसाद बिस्मिल	1)	धर्म समाज धर्म	1)
सहकारी कम्पनी	4)	यज्ञ नियम	80)

कुछ अमूल्य पुस्तकें

लाठी शिक्षा	4)	साबुन विज्ञान	4)
सरबतों का रोजगार	2)	तेलों का रोजगार	2)
हारमोनियम गाईड	5)	तबला मास्टर	4)
बैंजो गाईड	4)	रास्ट्रपती	4)
दहती दीवारें उपन्यास	3)	गधे का अभिनन्दर	3)
चूषट उपन्यास	3)	विश्व व्यापार मण्डार	4)
व्यापार दस्तकारी	5)	महान क्रान्तिकारी	4)
मदनलाल ढीगरा	4)	पशु चिकित्सा	5)
योग प्रासन	3)	पाक विज्ञान	5)
अकबर बीरबल बड़ा	5)	रेफरी लेटर गाईड	9)
अग्ने जी मास्टर	12)	रचना बोध	2)
हिन्दी अग्ने जी शिक्षा	3)	सिलाई कटाई शिक्षा	8)
सिंहासन बत्तीसी	3)	भूले बिसरे गीत	3)
कृष्ण सुदामा	3)	वीर अभिमन्यु	3)
कृष्ण अवतार	3)	महा भारत	3)
सवित्री सत्यवान	3)	सती अनुसुईया	3)
दातवीर कर्ण	3)	रामलीला नाटक	3)
ध्वज कुमार	3)	महासणा प्रताप	3)
सुविचित्र संपद	4)	दर्शन साजी	6)

खंडन मंडन 'प्रथमाला' के प्रश्नों का सूची-पत्र

राधास्वामी पाखंड खंडव	2.50	दयानन्द गली पुराण का उत्तर	4)
बौद्धमत का भाण्डा फोड़	3.00	पुराण किसने बनाये ?	3)
हिन्दू मन्दिरों की लूट	15.00	पौराणिक मुख चपेटिका	.50
कुरान की छानबीन	12.00	पौराणिक गप्प दीपिका	1.75
कुरान-प्रकाश	7.00	इस्लाम दर्शन	1.50
भगवत समीक्षा	7.00	कबीर-सत गव-मर्दन	3.00
गीता विवेचन	7.00	ब्रह्मकुमारी मत खण्डन	1.50
बाईबिल दर्पण	9.00	स. प्र. छोछालेदर का का उ.	2.00
कुरान पर 176 प्रश्न	3.00	महान पुरुष कैसे बनते हैं	3.25
असत्य पर सत्य की विजय	5.50	सव्याख्या विवाह पद्धति	4.25
मौलवी हार गया	1.50	इस्लाम में नारी की दुर्गति	1.25
ईश्वर सिद्धि	5.00	कुरान में पुनर्जन्म	1.25
वैदिक यज्ञ विज्ञान	4.50	कुरान में विज्ञान विरुद्ध स्थल	1.75
जैन मत समीक्षा	5.00	पुराणों के कृष्ण	1.50
मुनि समाज मुख मर्दन	4.50	शिवाजी के 4 बिलक्षण बेटे	1.00
अवतार रहस्य	5.50	मृतक श्राद्ध खण्डन	.75
मूर्ति पूजा खण्डन	4.50	विभिन्न मतों में ईश्वर	.90
टोक का शास्त्रार्थ	3.50	शास्त्रार्थ के चेलेन्द्र का उत्तर	1.25
धार्मिक शंका समाधान	4.50	पौराणिक कीर्तन पाखण्ड	1.09
भारतीय शिष्टाचार	3.00	बाइबिल पर सप्रमाण 31	.55
शिवालिग पूजा क्यों ?	5.50	अर्थ सहित वैदिक संख्या	.75
अद्वैतवास मीमांसा	5.50	सनातन धर्म में वियोग व्यवस्था	.75
प्रार्थना अजत मास्कर	4.50	नारी पर अजहबी अत्याचार	.50
यजुर्वेद अ० 40 सव्याख्या	4.00	हंसासत का पोसखाता	.75
यजुर्वेद अ० 31 सव्याख्या	1.50	वेद ही ईश्वरी ज्ञान है	2.00
गीता पर 42 प्रश्न	.75	चोटी	.80
कुरान के विचारणीय स्थल	2.75	जनेऊ	.60

महात्मा प्रभु आश्रित की पुस्तकें

भ्रमृत के तीन घूंट	1.00	भ्रमृत प्रसाद	6.00
आत्म चरित्र	2.50	उत्तर काशी का प्रसाद	1.75
कर्म भोग चक्र	10.00	गृहस्थ आश्रम प्रवेशिका	3.00
गृहस्थ सुधार	10.00	गायत्री रहस्य	10.00
गायत्री पुष्पाञ्जली	1.00	डरो वह बड़ा जबरस्त हैं	2.50
चमकते अंगारे	2.50	दिव्य वाणी	1.25
दुर्लभ वस्तु	0.40	नव जीदन निर्माण	1.00
निराकार साकार पूजा	2.90	प्रय का स्वरूप	4)
मनीषल	4)	यज्ञ रहस्य	7.40
सेवा धर्म			3)

गुरुदत्त ग्रंथावली

महान ग्रन्थ है जो 1840 में लाहौर में छपा था। इसमें मुनि गुरुदत्त जी की समस्त पुस्तकों का संग्रह है। बड़ा आकार 314 पृष्ठ मय (जिल्द 13) आज ही मंगायें।

प्रेरणाप्रद जीवन चरित्र

हमारे राष्ट्र-निर्माता	6)	शिवाजी	5)
महापुरुषों की सांख्यियाँ	6)	बाबा साहेब अम्बेडकर	5)
महाराष्ट्रा प्रताप	3)	महर्षि बाल्मीक	4)
काशी की रानी	4)	सदाचारी बच्चे	3)
वीर पुत्रियाँ	4)	आदर्श बाबूक	5)
आदर्श बेटियाँ	5)	ये महान कैसे बनें	8)
भारत के महान् ऋषि	4)	अच्छे बच्चे	5)
वीर हनुमान	5)	सुभाषचन्द्र बोस	5)
सम्राट अशोक	5)	सरदार भगतसिंह	4)
चन्द्रशेखर आजाद	5)	चाणक्य	4)

वैदिक कैसेट

अति उन्नत क्वालिटी तथा नई साज सज्जा के साथ

1. पर्व पद्धति	- विजय भूषण आर्य	25)
2. वैदिक निघ्न	- विजय भूषण आर्य	25)
3. भजनाञ्जली	- विजयानन्द	25)
4. पथिक भजने लहरी	- सत्यपाल पथिक-चौथा कैसेट	30)
5. बृहद् यज्ञ व सन्ध्या	- विजय भूषण आर्य	25)
6. पथिक भजन माला	- सत्य पाल पथिक	30)
7. पथिक भजन वली	- सत्य पाल पथिक	30)
8. श्रद्धा		30)
9. दैनिक सन्ध्या यज्ञ व भजन	- विजय भूषण आर्य	20)
10. पीयूष भजनावली	- पन्ना लाल पीयूष	20)
11. ओम प्रकाश वर्मा के भजन		20)
12. दयानन्द मुणगान		25)
13. स्वस्तिवाचन तथा शान्ति प्रकरण (पदानुवाद सहित)		25)
14. भजनोपदेश - ओम प्रकाश वर्मा		25)
15. सोहन लाल पथिक के भजन		25)
16. नरदेव गीतमालाला		25)
17. समपूर्ण सुधा	- पं. बुद्ध देव विद्यालंकार के गीत	25)
18. आर्य समाज के श्रेष्ठ भजन		25)
19. संकल्प	- गुलाब सिंह राघव	25)
20. आर्य संगीतिका	- श्रीमति शिवराजवती	25)
21. ओम सत्संग - ओम पर आधारित भजन-	राजेन्द्र काचर	25)
22. ओम कीर्तन		25)

डाक द्वारा भंगायें—

कैसेट का पूरा मूल्य आर्डर के साथ भेजें। तीन कैसेट तक के लिए डाक व्यय 12 रुपये जोड़िये चार अथवा अधिक कैसेट का मूल्य अग्रिम भजने पर डाक तथा पैकिंग व्यय हम देंगे। वी. पी. ए. द्वारा भंगाने के लिए 15) भेजिये।

गुरुदत्त लेखावली

आर्यमित्र लखनऊ आर्य जगत दिल्ली — मुनी गुरुदत्त लेखावली के लिए विचार

प्रकाशक—वेद प्रचारक मण्डल, रामजस रोड करौलबाग, नई दिल्ली

पृष्ठ संख्या—316

मूल्य—13)

उपरोक्त पुस्तक में जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, मुनिवर पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी के लेखों का संग्रह है। इसका प्रथम प्रकाशन श्री जीवन दास जी उपप्रधान आर्यसमाज लाहौर (जो अब पाकिस्तान में है) द्वारा 15-10-1897 को किया गया था और इसके प्रकाशन का उद्देश्य यह था कि जो लोग आर्य शास्त्रों का अध्ययन मूल संस्कृत में नहीं कर सकते, वे उनके महत्व को भलीभांति समझ सकें। कालान्तर में इस पुस्तक का प्रकाशन श्री राजपाल जी प्रबन्धकर्ता आर्य पुस्तकालय व सरस्वती आरम लाहौर द्वारा नवम्बर 1918 में किया गया।

इस पुस्तक में जहां पं० गुरुदत्त जी का जीवन चरित्र विस्तारपूर्वक 50 पृष्ठों में दिया गया है, वहां उनके निम्नलिखित विषयों पर लेखों का संग्रह किया गया है — (1) वैदिक संज्ञा विज्ञान और योरुपीय विद्वान (2) इण्डियन विजडम-नामक पुस्तक की आलोचना (चार व्याख्याओं के रूप में) (3) जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण (4) ईश्वोपनिषद् की व्याख्या (5) माण्डूकोपनिषद् की व्याख्या (6) वेद वाक्य जिनमें क्रमशः वायु मण्डल, जल की रचना, गृहस्थ, आध्यात्मिक जीवन के तत्व, धन की डाह आदि लेखों का संकलन है (7) वेदों में मूर्तिपूजन तथा त्रियोग विषयों पर टी० विलियम्स को दिया गया उत्तर (8) वेदों के विषय में पिनकाट साहब का पत्र और दिया गया उत्तर।

पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, विशेषकर उन स्वाध्यायशील प्रचारकों के लिए, जो वैदिक धर्म के प्रचार कार्य में, निरन्तर जिज्ञासुओं की शंकाओं का भी समाधान करते हैं। पुस्तक के नवीनतम प्रकाशन के लिए वेद प्रचारक मण्डल का प्रयास स्तुत्य है। छपाई साफ और सुन्दर है। 316 पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य सर्वथा उचित है।